॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

नवम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध अध्याय—५७ से ६३

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—५४ से ६०

उत्तरार्ध अध्याय—८ से १४

राजस—फल उप-प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।
साकार ब्रह्मवादैक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण
लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज
प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
योजना— प० भ० श्री लालूभट्टजी
कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण
जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००
श्री रथ यात्रा महोत्सव
आषाढ़ शुक्ला २, वि.सं. २०३०
दिनाङ्क ६ जुलाई, १९७३

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

न्यौछावर
सादर भेंट
संस्था
सदस्यों
को

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५७वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५४वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का ८वां अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"प्रथम अध्याय"

स्यमन्तक मणि हरण, शतधन्वा का उद्धार और अक्रूरजी को फिर से द्वारका बुलाना

कारिका—**निरोधो मानरूपोऽत्र सप्तभिर्विनिरूपितः ।**
मेयरूपश्च तावद्भिः प्रमेयबलमुच्यते ।।१।।

कारिकार्थ—आचार्यश्री ने भागवत में पांच प्रकरण विभाग किए हैं, जिसमें राजस प्रकरण विभाग के दो अवान्तर प्रमाण तथा प्रमेय प्रकरण पूर्वार्ध भाग में आए हुए हैं और फल प्रकरण उत्तरार्ध में आता है एवं इसकी भाषा तथा पूर्वार्ध की भाषा में अन्तर है, जिससे दोनों की सङ्गति नहीं बनती है, इस शङ्का निवारण के लिए कहा है कि वे भाषाएँ भी समाधि भाषा को पोषिकाएँ हैं, जिससे उनके साथ ही प्रकरण विभाग बन जाता है, इसको समझाने के लिए ही पहली कारिका कही है कि इस प्रकरण में प्रमाण रूप निरोध सात अध्यायों से और उतने ही अध्यायों से प्रमेय

रूप निरोध पूर्वार्ध में कहा है, साधन प्रकरण तो उत्तरार्ध में कहा हुआ है, इसलिए उसकी तो शङ्का उत्पन्न ही नहीं होती है, जिससे साधन प्रकरण के लिए यहाँ नहीं कहा है, केवल शङ्का निवृत्ति के लिए पूर्वार्ध में आए हुए प्रमाण तथा प्रमेय प्रकरण को कहा है ॥१॥

कारिका—**अपकारिषु भक्तेषु तथा साधारणेषु च ।**
फलप्रकरणं ह्येतत्तेन तादृङ् निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—अपकार करने वाले यहाँ दो प्रकार के हैं एक अक्रूर आदि भक्त और दूसरे साधारण, इन दोनों के मिले हुए फल का यह प्रकरण है, जिसमें उनको स्वरूप बल से फल की प्राप्ति हुई है न कि साधन बल से फल मिला है, अतः वैसा स्वरूप बल निरूपण किया जाता है ॥२॥

कारिका—**कामः फलं यथा पूर्वं क्रोधस्त्वत्र तथा फलम् ।**
राजसानां विशेषेण जयस्त्वत्र फलिष्यति ॥३॥

कारिकार्थ—जैसे पहले तामस प्रकरण के फल प्रकरण में काम लीला का निरूपण हुआ है, वैसे यहाँ राजस प्रकरण के फल प्रकरण में क्रोध लीला निरूपण की गई है, वे लीलाएँ ही फल रूप या फल सम्पादिका हैं, इस प्रकरण में विशेषकर राजस भक्तों को ही जय रूप फल प्राप्ति होगी ॥३॥

कारिका—**हरिधर्मैश्च हरिणा बलभद्रेण यादवैः ।**
जयो निरूप्यते लोके निरोधात्मा हि राजसः ॥४॥

कारिकार्थ—हरि ने हरि के धर्मों से जय की और बलभद्र ने यादवों से, लोक में जय की, जिसका यहाँ निरूपण किया जाता है, यहाँ निरोध रूप परमात्मा राजस है ॥५॥

कारिका—**तत्राष्टमे तथाध्याये कृष्णेच्छाया जयस्त्रिधा ।**
सत्राजिच्छतधन्वा च अक्रूरश्च जितास्तथा ॥५॥

कारिकार्थ—इस प्रकरण में तथा इस आठवें+ अध्याय में श्रीकृष्ण की इच्छा

+ राजस फल प्रकरण का पहला अध्याय उत्तरार्ध से गिनती प्रारम्भ करने से आठवाँ अध्याय होता है।

का जय तीन प्रकार से हुआ है; क्योंकि सत्राजित, शतधन्वा और अक्रूर तीनों से जय प्राप्त हुई है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवता मणिर्न गृहीत इत्युक्तम् । तस्य फलमत्र निरूप्यते । देवतान्तरे कृता बुद्धिः जीवन्तं निरोधयितुं न प्रयच्छतीति निरोधाधिकार्यपि सत्राजित् स्वदेहं परित्यज्य मणिद्वारा भक्ते स्थितः संसारे भगवत्पादरूपेषु वाराणस्यादिषु निरुद्ध इत्युच्यते । तत्र प्रथमं तस्य पूर्वदेहत्यागार्थं प्रस्तावनामाह **विज्ञातार्थोऽपीति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय ७ के अन्त में कहा कि भगवान् ने मणि नहीं ली, जिसके फल का वर्णन यहाँ किया जाता है। श्रीकृष्ण से दूसरे देव में यदि बुद्धि की जाती है तो वह बुद्धि उस अन्य देवोपासक को जीते हुए भगवान् में निरोध नहीं करा सकती है, अतः निरोध का अधिकारी भी सत्राजित् अपनी देह का त्याग कर मणि के द्वारा भक्त संसार में स्थित हो, भक्त चरणारविन्द रूप वाराणसी आदि में निरोध को प्राप्त हुआ, यों कहा जाता है, उसमें प्रथम पूर्व देह के त्याग के लिए 'विज्ञातार्थोऽपि' इन दो श्लोकों से प्रस्तावना कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ।**
कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥१॥

भीष्मं नृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च ।
तुल्यदुःखौ समागम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि यद्यपि श्रीकृष्ण जानते थे कि पाण्डव गुफा में से होकर लाक्षाभवन से जीवित निकल गए हैं। तो भी कुन्ती तथा पाण्डवों का लाक्षागृह में जलना सुनकर कुलोचित व्यवहार करने के लिए बलदेवजी को साथ लेकर कुरुदेश को पधारे ॥१॥

भीष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, गान्धारी और द्रोण से मिलकर अपनी संवेदना प्रकट करते हुए कहने लगे कि हा ! बड़ा कष्ट हुआ ॥२॥

सुबोधिनी—विद्यमाने भगवति भगवद्धर्माणां प्रयोजकता न स्यादिति, लोकाश्च दुष्टाः अन्यथा कल्पयिष्यन्तीति भगवान् द्वारकां परित्यज्य हस्तिनापुरं गतो बलभद्रश्चेतीर्यते । न हि पाण्डवेषु भगवान् भक्तानां विधिमुखेन हितं कुर्वाणः किं गच्छति । न हि मुख्येषु गतेषु तत्सम्बन्धिष्वदुःखितेषु गमनं कुलाचारो भवति । सर्वमज्ञात्वा गत इत्याशङ्क्याह **विज्ञातार्थोऽपीति** । विशेषेण

ज्ञात: लाक्षागृहात् यथा पाण्डवा निर्गता:, यथा वा एकचक्रे गता: तत्र ब्राह्मणवेषेण भिक्षावृत्त्या च यथा तिष्ठन्ति, यथा वा पञ्चपुत्रा काचिच्छबरी लाक्षागृहे दग्धा,तद्भ्रमात् लोका: पाण्डवा: कुन्ती च दग्धेति वदन्ति, इदं प्रमेयमर्थ: । विज्ञात: अर्थो येनेति । अन्यथा कौरवेषु सन्देह: स्यात् यदि भगवान् न गच्छेत्, भगवतैवान्यत्र स्थापिता इति । अतोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम् अन्यथा पाण्डवनाशार्थं पुनर्यत्नं कुर्यु: । यतो भगवान् गोविन्द:, सतामिन्द्रो रक्षक: । अत: पाण्डवरक्षार्थं दग्धानाकर्ण्य । अदग्धानिति मुख्योर्थ: । यत: पाण्डवा: पितु: पुत्रा: । मातृपुत्रा एव दग्धा भवन्ति । कुन्तीं च दग्धां श्रुत्वा । कुल्यकरणे कुलधर्मसंरक्षार्थम् । बन्धुषु मृतेषु अवशिष्टानां तत्सम्बन्धिनां दर्शनार्थं दूरस्था गच्छन्तीति । अनेन तेषामपि निरोधार्थं भगवान् गत इति सूच्यते । कुरून् हस्तिनापुरम् । केवले भगवति कस्यचित्सन्देहोऽपि भवेत् । बलभद्रसहिते न भवतीति सहराम इत्युक्तम् ॥१॥

गतयो: सम्भ्रममाह भीष्ममिति । नृपो धृतराष्ट्र: । त्रय: सात्विकराजसतामसा: स्त्रीब्राह्मणाश्च जन्मोत्कर्षापकर्षौ । प्रत्येकमुपागम्य हा कष्टमित्यूचतु: । एतादृशं वचनमाश्चर्यमिति हेत्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ - जहाँ भगवान् स्वयं विद्यमान हैं, वहाँ भगवान् के धर्म प्रयोजक नही हो सकते हैं। लोक तो दुष्ट हैं यदि स्वयं कर्म न करें तो अन्यथा[1] अनुमान करने लगेंगे, इसलिये भगवान् स्वयं बलरामजी को साथ ले द्वारका का त्याग कर हस्तिनापुर गये। यों कहा जाता है, जब भक्तों के हितकारी भगवान् हैं, तब पाण्डवों के वैरियों का विधि मुख से हित भी करने वाले नहीं है, तो फिर क्यों जाते हैं ? मुख्य सम्बन्धियों के चले[2] जाने पर, जिन सम्बन्धियों को जानेवालों का दु:ख नही है, उनके पास संवेदना के लिये जाना कुलाचार नहीं है। यदि आपको इसका ज्ञान नहीं, इससे अज्ञान से चले गये हैं, यों कहा जाय, तो इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आपको सर्व प्रकार का विशेष रूप से ज्ञान है तो भी गये—लाक्षागृह से जैसे पाण्डव निकल गये, जैसे एक चक्र में गये वहाँ ब्राह्मण भेष धारण कर भिक्षावृत्ति से रहे और जैसे लाक्षागृह में पांच पुत्र तथा कोई शबरी जल गई, उनके जलने के भ्रम से, लोक कहते हैं कि पाण्डव और कुन्ती जल गई, यह सब अर्थ प्रमेय से समझ में आता है, इस प्रकार सर्व अर्थ भगवान् ने प्रमेय बल से तो जान ही लिया था, किन्तु यदि भगवान् हस्तिापुर न जाकर संवेदना प्रकट करने का अज्ञान नाट्य न करते, तो कौरव समझते कि भगवान् ने पाण्डवों को लाक्षागृह से निकलवा कर दूसरे सुरक्षित स्थान पर स्थापित किया है, जिससे वे फिर पाण्डवों को नाश करने का यत्न करने लग जावे, इस प्रकार विचार कर ही भगवान् गये, क्योंकि आप सत्पुरुष भक्तों के रक्षक गोविन्द हैं, अत: पाण्डवों की इस प्रकार पूर्ण रक्षा होगी, वे निश्चिन्त हो निवास करेंगे। इस कारण पाण्डवों के जल जाने को सुन कर गये, मुख्य वास्तविक अर्थ तो यह है कि वे जले नहीं थे, क्योंकि पाण्डव पिता के पुत्र हैं, माता के पुत्र ही दग्ध होते हैं और कुन्ती को दग्ध सुनकर कुल धम की रक्षा के लिये गये, बान्धवों के मरने पर बचे हुए सम्बधियों के पास उनसे मिलने के लिये वा उनको देखने के लिये दूर रहने वाले सम्बन्धी जाते हैं, यह कुल धर्म लोकाचार है यह तो लौकिक है, किन्तु भगवान् तो उनका भी मुझ में निरोध हो इसलिये गये, इस प्रकार सूचित होता है, 'कुरून्' पद का अर्थ 'हस्तिनापुर' है अकेले भगवान् जाते तो किसी को संशय भी होता, इस सन्देह को मिटाने के लिये अपने साथ बलरामजी को भी ले गये यों कहा है। १॥

---

१ झूठे, २ – मरजाने पर

दोनों ने जाकर जो किया वह कहते हैं, भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुर तीन ही सात्विक राजस तामस थे, स्त्री गान्धारी का जन्म से अपकर्ष था और द्रोण का ब्राह्मण होने से उत्कृष्टपन था, प्रत्येक के पास जाकर दोनों कहने लगे कि यों होना बड़े दुःख का विषय है बहुत बुरा हुआ, ऐसे वचन कहना आश्चर्य उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिये श्लोक में 'ह' पद दिया है ।।२।।

आभास—यदर्थमेतदुक्तं तदाह लब्ध्वैतदन्तरमिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—जिसके लिये यों कहा वह 'लब्ध्वैतदन्तरं' से ४ श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—**लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः ।**
अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते ।।३।।

श्लोकार्थ—हे राजन्! अक्रूर तथा कृतवर्मा इस अन्तर(अवसर)को पाकर शतधन्वा को कहने लगे कि मणि को क्यों नहीं लेता है ? ।।३।।

सुबोधिनी—अक्रूरः द्वारकाया अवेक्षकः, दिवसे न्यायकर्ता धर्माधिकारी । कृतवर्मा तु रात्रावेवक्षकः, कोटिवारक इति प्रसिद्धः । शतधन्वा तु साहसी असाध्यसाधकः तयोराज्ञाकर्ता । स चौर्येण सर्वं कर्तुं समर्थः । त्रयोऽपि यादवाः भगवति विद्यमाने, बलभद्रे वा, अन्यायं कर्तुमसमर्थाः, भगवति ग्रामान्तरं गते, **एतदन्तरं** छिद्रं लब्ध्वा । **राजन्निति** तथा परिज्ञानात्सम्बोधनम् । शतधन्वान वक्ष्यमाणमूचतुः । तयोर्वाक्यमाह **मणिः कस्मान्न गृह्यत** इति सपादश्लोकेन ।।३।।

व्याख्यार्थ—अक्रूर द्वारका का अवेक्षक अर्थात् दिन को न्याय करनेवाला धर्माधिकारी था और कृतवर्मा कोटवाल था अर्थात् रात्रि में रक्षा करने वाला था । शतधन्वा जो कार्य दूसरे से न हो सके उसको पूर्ण करने वाला था, उन दोनों की आज्ञा को पालन करता था, वह चोरी से सब करने में समर्थ था ये तीनों यादव भगवान् वा बलभद्र के विद्यमान होते हुए अन्याय का कार्य कर नहीं सकते थे । भगवान् अन्य ग्राम को गये हैं यह अवसर प्राप्तकर वे दोनों शतधन्वा को यों कहने लगे कि आप सत्राजित से मणि क्यों नहीं छीन लेते हैं । 'सपाद' श्लोक में यह वाक्य कहा, हे राजन्! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि वैसा परिज्ञान आपको है ।।३।।

आभास— न केवलं मणिमात्रं ग्राह्यम्, मारणीयोऽपीत्याह **योऽस्मभ्यमिति** ।

आभासार्थ—केवल मणि ही नहीं लेनी है, किन्तु वह मृत्यु करने (मारने) योग्य है वह भी करना, 'योऽस्मभ्यं' श्लोक में यह कहते हैं—

श्लोक—योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः ।
कृष्णायादान्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातरमन्वियात् ॥४॥

श्लोकार्थ—जिसने कन्यारत्न हमको देने को प्रतिज्ञा की थी, उस सत्राजित् ने हमारा अपमान कर कृष्ण को दी, वह क्यों न अपने भ्राता के पीछे जावे ? ॥४॥

सुबोधिनी—भगवदपराधकरणात् मणिग्रहणं भगवतश्च मणिरिति न हेतुर्वक्तव्यः । भगवच्छ्वशुरोऽयमिति मारणे हेतुर्वक्तव्य एव । अवश्यं तेन कन्यारत्नं देयत्वेन प्रतिज्ञातम्, तदभावे रत्नरत्नं वा तस्माद् ग्राह्यम् । अस्मान् निन्दित्वा एते न वराः समीचीना इति भगवते दत्तवान् । तत्र निन्दायामवश्यं मारणीयः क्षत्रियधर्मपरैः । भगवते च दत्तवानिति गुप्ततया मारणीयः । यथा भगवता याचितं मणिं भगवते अदत्वा भ्रात्रे दत्तवान् । ततः समणिः भ्राता, हिनस्तीति सिंहेन विपाटितः । एवं कन्यादानप्रसङ्गेन स्वकीयोऽपि मणिः भगवता तस्मै दत्त इति समणिः सत्राजित् कस्माद्धेतोर्भ्रातरं नान्वियात् । अपित्वनुगमनमेवोचितम् । सत्यभामा मणिश्च तुल्यौ याचने । अस्माभिः सत्यभामा याचिता, भगवता मणिर्याचितः । उभयोरपि याचितं न दत्तवान्, निन्दां चोभयोः कृतवान् । ततो निन्दानन्तरं मणिर्यत्रैव तिष्ठति.स एव प्रसेनपदवीं गच्छतीति तस्य भ्रातृसहगमनं युक्तमित्यर्थः । ताभ्यां लौकिकभाषया निरूपितोऽप्यर्थः सरस्वत्या परमार्थ एव निरुक्तः । येन प्रसेनो हतः, सोऽप्यन्येन हत इति जानन्तावपि मूर्खं शतधन्वानं स्वस्याप्यसम्मतमूचतुः । अन्यथा स्वयमेव तथा कुर्याताम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—मणि ग्रहण में यह मणि भगवान् की है यह हेतु न बताना चाहिए, क्योंकि इससे भगवान् का अपराध करना होगा, यह भगवान् का श्वशुर है अतः यह हेतु न कहकर अन्य हेतु बताना योग्य समझ कहने लगे, कि इस सत्राजित् ने कन्या रत्न हमको देने का वचन दिया उससे विरुद्ध गया, अब उसके बदले में रत्नों में भी जो रत्न है वह उससे लेना चाहिये. हम लोगों को निन्दा कर ये वर सुन्दर नही है यों कहकर भगवान् को कन्या दी है । इसने हमारी निन्दा की है इस निन्दा के कारण हम जो क्षत्रिय धर्म पालन कर रहे हैं, उनको अवश्य इसका नाश करना चाहिये, भगवान् को दी है इसलिये उसे गुप्त रूप से मारना चाहिये, जैसे भगवान् ने इससे मणि मांगो थी किन्तु वह उनको न देकर भ्राता को दो पश्चात् सिंह ने मणि सहित भाई को मार डाला इस प्रकार कन्या दान के प्रसंग में अपनी मणि भी भगवान् ने उसको दे दी, इसलिये मणि सहित सत्राजित् को भाई की तरह क्यों न मारा जावे, भाई के पोछे इसको भी भेजना योग्य है । सत्यभामा और मणि मांगने में दोनों बराबर हैं । हम लोगों ने सत्यभामा मांगो थी भगवान् ने मणि की याचना की थी दोनों को मांगी हुई वस्तु नहीं दी गई,दोनों को निंदा की है इस कारण से मणि जिसके पास हो,वह प्रसेन की पदवी को प्राप्त होना चाहिये, यह भ्राता के साथ जावे तो योग्य ही है उन्होंने लौकिकी भाषा में जो अर्थ कहा वह सरस्वती ने परमार्थ रूप सत्य कर दिया । जिसने प्रसेन को मारा, उसको भी दूसरे ने मार डाला, यों ये दो जानते थे, अतः उनको भी यों करना सम्मत नहीं था, यदि सम्मत होता तो वे स्वयं कर लेते, स्वय ने नहीं किया, मूर्ख शतधन्वा को वह कार्य करने के लिये कहने लगे ॥४॥

आभास—ननु शतधन्वापि विचक्षणः कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह **एवं भिन्नमतिरिति।**

आभासार्थ—चतुर शतधन्वा ने ऐसा क्यों किया ? जिसका उत्तर 'एवं भिन्नमतिः' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः।
शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षीणजीवितः ॥५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार नीचतम शतधन्वा ने उन दोनों के बहकाने पर लोभ के कारण सोये हुए सत्राजित को मार डाला; क्योंकि उस पापी की शेष आयु स्वल्प थी अर्थात् आयु पूरी हो गई थी ॥५॥

सुबोधिनी—ताभ्यां भिन्ना नाशिता मतिर्यस्य। मणिरेव ग्राह्य इति तत्प्ररोचनया बुद्धिरुत्पन्ना। ततोग्रे भाव्यर्थे बुद्धिस्तावता नष्टेति विचारसमर्था न जाता। उभौ तौ बहुधा च भ्रामयतः। भ्रामणमग्रिमार्थमेव। तौ हि जानीतः। मणिसम्बन्धेन मरणं भविष्यतीति। अतो न मण्यर्थिनौ। अयं तु मण्यर्थी। अतः **असत्तमः**। तावुभावसदसत्तरौ। अयमसत्तम इति। अन्यथा युद्धं कृत्वापि मारयेत्। किन्तु शयानमेवावधीत् तत्रापि लोभात् न तु तेन सह वैरम्। ननु कथमेवं बुद्धिरुत्पन्ना, द्वारकावासिनो भगवदीयविषये स्थितस्य, तत्राह **स पाप** इति। स शतधन्वा पापः देवानां मध्ये अधमोऽप्येकः, यथा कीलः। ततश्चायमधर्मरूप इति तथा कृतवान्। किञ्च। क्षीणजीवित इति। तस्य जीवितमल्पमेव। एतदर्थमेव तस्यावतार इति ॥५॥

व्याख्यार्थ—उन दोनों ने जिसकी मति नष्ट कर दी थी, मति क्यों नष्ट हुई ? जिसका कारण यह था, कि मणि मिलेगी, इस लोभ से विपरीत बुद्धि हो गई, आगे इसका परिणाम क्या होगा ? जिसका ध्यान भी न रहा। वे दो, उसको बहुत प्रकार से भ्रमित करने लगे वह भ्रमित करना आगे के कार्य के लिये ही है। जिस भाव को वे दो ही जानते थे कि मणि सम्बन्ध से ही मृत्यु होगी, इसलिये उन्होंने मणि लेने की इच्छा नहीं की, यह तो मणि को चाहता था इस कारण से यह [1]नीचतम है, उन दोनों में से एक [2]असत् था और दूसरा [3]असत्तर था, शतधन्वा ने असीम नीच होने से सोये हुवे सत्राजित् को मार डाला। यदि ऐसा असीम नीच न होता तो लड़ाई कर मार सकता था और मणि ले लेता, इससे निश्चय होता है कि यह असत्तम है. जिसको सोते हुवे मारा उससे कोई इसका वैर नहीं था, केवल लोभ के कारण उसने यह कुकर्म किया, द्वारका में रहनेवाले को, भगवदीय के विषय में ऐसी कुबुद्धि कैसे पैदा हुई ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह पापी है और इसकी आयु क्षीण हो चुकी है अर्थात् शीघ्र मरने वाला है अतः दूसरों के बहकाने से ऐसी कुबुद्धि उत्पन्न हुई है इसके लिये ही उसका अवतार है ॥५॥

१– सबसे अधिक नीच, २– नीच, ३– विशेष नीच

आभास—यदि हननमात्रमेव कुर्यात्, तदाप्यन्यप्रेरितः, तथा कृतवानिति तथा नास्य दोषो भवेत्, किन्त्वधिकमपि कृतवानित्याह स्त्रीणामिति ।

आभासार्थ—यदि केवल सत्राजित् का वध किया हो वह भी दूसरों की प्रेरणा से किया, जिससे इसका इतना दोष न माना जाता, किन्तु इसने उससे विशेष भी किया, जिसका वर्णन 'स्त्रीणां' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।
हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥६॥

श्लोकार्थ—जैसे कोई अनाथ विलाप करे, वैसे विलाप करती हुई अनाथ स्त्रियों को जैसे कसाई पशुओं को मारता है, वैसे मारकर मणि लेकर भाग गया ॥६॥

सुबोधिनी—विशेषेण क्रोशमानानां सतीनाम् । ता अपि नाथरहिता एव हत्वा ताडयित्वा वा मणिमादाय जग्मिवान् पलायितः । दयादाक्षिण्याद्यभावार्थं दृष्टान्तः सौनिकवदिति । निरन्तर सूनाकर्ता सौनिकः, पशून् हत्वा तन्मांसविक्रेता । यथा काष्ठच्छेदकस्य न वृक्षेषु दया,तथा तस्यापि । अर्चितस्यापि मणेः अनिष्टहेतुत्वं प्रतिपादितम् । अत्र प्रकरणे प्रमेयबलमिति न पूर्वाध्यायवाक्यैर्विरोधः ॥६॥

व्याख्यार्थ—विशेष प्रकार विलाप करती हुई सतियाँ, वे भी नाथ से रहित थीं उनको मारकर मणि लेकर भाग गया, यों करने का कारण इसमें दया और सरलता का अभाव है, जिसके लिये कसाई का दृष्टांत देते हैं, जैसे कसाई में दया और सरलता नहीं रहती हैं, जिससे पशु को हिंसा करने में हिचकता नहीं, वैसे यह भी इन अबलाओं को मार कर मणि लेजाने में हिचका नहीं दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे लकड़ी तोड़ने वाले को स्वार्थ सिद्धि के कारण वृक्षों पर दया नहीं आती है वैसे ही इसको भी अनाथ स्त्रियों पर दया न आई,पहले मणि का पूजन न कर प्रसेन के कण्ठ में बाँधी गई थी जिससे अनिष्ट हुआ, अब तो मणि पूजित थी तो भी अनिष्ट हुआ, यह विरोध है, इस विरोध का परिहार करते हैं कि पहले प्रमाण बल था अब प्रमेय बल है, इसलिये पूर्वाध्याय के वाक्यों से विरोध नहीं है ॥६॥

श्लोक—सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्दिता ।
व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती ॥७॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा पिता को मरा हुआ देख शोक से पीड़ित होने लगी, हे तात ! हे तात ! यों कहती हुई विलाप कर बेसुध (मरे जैसी) हो गई ॥७॥

सुबोधिनी—तस्मिन् गते भगवद्गृहेऽपि स्थिता सत्यभामा उपश्रुतिमिव श्रुत्वा, पितृगृहे समागता, पितरं हतं वीक्ष्य शोकेन पीडिता, तात तातेति व्यलपत् । यथा स्त्रीभिराक्रोशः कृतः, एवं सत्यभामयापि कृत इति समुच्चयार्थश्चकारः । भर्तृवधे तासां यावद्दुःखम्, पितृवधेऽपि तावत्कृतमित्यर्थः । तासामुभयं स्वनाशो भर्तृनाशश्चेति तुल्यत्वाभावात् कथ समुच्चय इत्याशङ्क्य, अत्रापि द्वयमाह तात तातेति । हा हतास्मीति च । ननु कथमेवं स्वयमहता तथोक्तवती, तत्राह मुह्यतीति । मोहं प्राप्ता मृतकल्पा सत्यमेव तथोक्तवतीत्यर्थः ।।७।।

व्याख्यार्थ—वह सत्राजित् को मार स्त्रियों को पीट कर मणि लेकर जब चला गया, तब उपश्रुति की भांति यह समाचार सुन भगवद्गृह से अपने पिताजी के घर आ गई, पिताजी को मरा हुआ देख शोक से दुःखी हुई, हे तात ! हे तात ! यों विलाप करने लगी जिस प्रकार स्त्रियों ने चिल्लाया था वैसे ही यह भी चिल्लाने लगी जितना दुःख पति के मरने से स्त्रियों ने किया उतना ही दुःख सत्यभामा पिता के मरने से करने लगी,स्त्रियों का तो पति के मरने से अपना तथा पति का नाश हुवा और सत्यभामा का तो उनकी तरह दोनों का नाश नहीं हुआ, केवल पिता मरा है, इसलिये दोनों की तुल्यता नहीं है, कारण कि पति के मरने से अर्द्धांगिनी स्त्री की भी मृत्यु हो जाती है यहाँ तो शतधन्वा ने उनको भी पीट कर मणि ली है इसलिये जब सत्यभामा की इनसे समानता नहीं हो सकती है तो 'च' समुच्चय के अर्थ में कैसे समझा जावे ? इसके उत्तर में कहा है, कि यहाँ भी तात ! तात ! दो बार कहा है और 'हा हता अस्मि' हाय मैं मर गई हूँ, इस पर शंका की जा सकती है कि स्वयं मरी नहीं है तो भी वैसे क्यों कहती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मुह्यती' मरे जैसी हो गई है इसलिये जैसे कहा है कि मैं मर गयी हूँ वह सत्य ही है ।।७।।

आभास—भगवद्विरोधात् तस्य शीघ्रं पारलौकिकी क्रियापि न जातेति वक्तुं सत्यभामाया उद्योगमाह तैलद्रोण्यामिति ।

आभासार्थ—भगवान् से विरोध होने के कारण उसकी परलोक सम्बन्धी क्रिया भी जल्दी न हो सकी थी, जिससे सत्यभामा ने इसके लिये जो उद्यम किया, वह 'तैलद्रोण्यां' श्लोक में कहा है—

श्लोक—**तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् ।**
कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताचख्यौ पितुर्वधम् ।।८।।

श्लोकार्थ—सत्राजित् के मृत देह को लोह या ताम्र के बने हुए तैल पात्र में धरकर सत्यभामा हस्तिनापुर गई, यद्यपि कृष्ण ने तो यह सब पहले ही जान लिया था, तो भी उनको अपने पिता के वध का समाचार सत्यभामा ने सुनाया ।।८।।

सुबोधिनी—इयं देवदत्तपुत्रिकाप्रायेति पुरुषप्रकृतिर्भवति । यतोऽभ्रातृमती । अतो धर्मतः अविवाह्यापि स्त्रीरत्नत्वाद्गृहीता । अतः पुरुषवदेव तस्याश्चरित्रम् । द्रोणी कुसूलवत् कुतूवत् कटाहवद्वा आयसी ताम्रनिर्मिता वा । मरणपर्यन्तं विलापः । ततो मृतस्य तैलद्रोण्यां प्रक्षेपः ।

स्वयमपि गजसाह्वयं जगाम। तत्र गतो भगवान् मृतानामनुसन्धानं करोतीति। गजसाह्वयमिति प्रसिद्धस्थानत्वात् तत्र गमनं न सन्देहमावहति। तत्र भगवद्विज्ञापनार्थमेव गतेति तदाह कृष्णायेति। भ्रान्तेयमिति ज्ञापनार्थं विदितार्थायेति। तं तादृशप्रकारापन्नम्। पितुवधमिति। आवश्यकत्वान्न दोषायेत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ – यह सत्यभामा देवदत्त की प्रायः पुत्रिका है, जिससे पुरुष के समान प्रकृति वाली है, क्योंकि इसका कोई भ्राता भी नहीं है, अतः शास्त्र धर्म से यह विवाह करने योग्य नहीं थी तो भी स्त्री रत्न होने से भगवान् ने ग्रहण की है, इस कारण से इसका चरित्र पुरुष की तरह ही है, मरण पर्यन्त ही विलाप होता है, इसके बाद सत्यभामा ने पिता के मृत देह को तैल के पात्र में धर दिया और स्वयं हस्तिनापुर गई, हस्तिनापुर स्थित भगवान् मरे हुओं का अनुसन्धान करते हैं। हस्तिनापुर प्रसिद्ध स्थान है वहाँ कोई भी जावे उसमें सन्देह नहीं होता है किन्तु सत्यभामा तो भगवान् को पिता की मृत्यु के समाचार देने के लिये ही गई है,यह भूली हुई है;क्योंकि कृष्ण भगवान् हैं उनको तो इसका ज्ञान पहले ही है, तो भी ऐसे को पिता का वध बताने लगी, बताना आवश्यक है, इसलिये वे जानते थे तो भी बताने में दोष नहीं है।

आभास—यथा ज्ञात्वा न किञ्चित्कृतवान्, एवं श्रुत्वापि न करिष्यतीत्याशङ्क्य, लौकिकं प्रतीकारं च कृतवानित्याह **तदाकर्ण्ये**ति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ--जैसे जानकर भी कुछ न किया वैसे सुनकर भी कुछ नहीं करेगा इस शंका का उत्तर 'तदाकर्ण्य' से दो श्लोकों में देते हैं कि लौकिक प्रतीकार किया—

श्लोक—**तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम्।**
अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः ॥९॥

आगत्य भगवांस्तात सभार्यः साग्रजः पुरम्।
शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥

श्लोकार्थ— हे राजन्! सत्यभामा की यह बात सुनकर यद्यपि दोनों ईश्वर हैं, तो भी मनुष्य लोक का अनुसरण करते हुए आँखों में आँसू भर, अहो! हमें बड़ा कष्ट हुआ है, यों कहकर विलाप करने लगे, फिर भगवान् सत्यभामा और बलरामजी के साथ द्वारका आकर मणि लेने के लिए शतधन्वा के वधार्थ उद्यम करने लगे ॥९-१०॥

सुबोधिनी – ईश्वरावपि लीलार्थं नृलोकमनुसृत्य श्वशुरमारणात् दुहितेव स्वयमपि विलापं कृतवन्तौ। यथा तस्याः कष्टं तथा कष्टमूचतुः। केवलं वाचनिकत्वव्युदासाय **अस्राक्षौ**। पूर्णाशक्तिः तथा करोतीति ज्ञापयितुं द्विवचनम्। उद्योगमाह **आगत्ये**ति। अन्यद्वारा कार्यकरणमौदासीन्यद्योतकमिति स्वयमेवागत्य कृतवान्। **भगवा**निति सामर्थ्यमुपायज्ञानं च। **ताते**ति राज्ञः

सम्बोधनं विश्वासाय। गुप्ततया समागतो भविष्यतोत्याशङ्कयाह सभार्यः साग्रज इति। पुरं द्वारकामेव। न तु मध्ये स्थित्वा उपायेन बन्धनं विचारितवान्। ततः शतधन्वानं हन्तुम्। हननस्य प्रयोजनं मणिं हर्तुमिति। स हि जीवन् न ददाति। अतो हत्वैव ग्राह्यः। अत्र द्वयं न प्रयोजनम्, हननं ग्रहणं च। किन्तु ग्रहणार्थमेव हननम्। अन्यप्रेरितो हतवानिति। भगवदिच्छापोति न वधमर्हति, नापि तद्वंश्यो भगवान्, येन हन्तारं हन्यात्। उभौ च तुल्यौ। कृतस्य करणं नास्तीति शतधनोर्हननेऽपि न सत्राजिज्जीवनम्। अत एवाग्रे भगवद्वाक्यं घटते। 'वृथा हतः शतधनु'रिति। शतधनुःशब्दः सकारान्तः, उकारान्तोऽपि। सत्राजिद्वत्। द्विःस्वभावेनैव द्विःस्वभावो मारित इति ज्ञापयितुं द्विविधः प्रयोगः। सत्राजितो द्विस्वभावत्वं निन्दाकरणात् पश्चात्तापकरणाच्च निरूपितम्। अस्यापि हनने निर्भयत्वमग्रे पलायनेन सभयत्वं च निरूपयिष्यति। ततः शतधनुषः अयमारम्भः ध्रियतां बध्यतामिति स्पष्टमाज्ञापनरूपः ॥९-१०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वे दोनों ईश्वर हैं, तो भी लीला के लिये लोक का अनुसरण कर शतधन्वा ने श्वसुर को मारा है, इसलिये सत्यभामा की भाँति आप भी विलाप करने लगे और कहने लगे कि जैसे इसके मरने का कष्ट तुझे हुआ है वैसा ही दुःख हमको भी हुआ है, सत्यभामा वा लोक यों न समझें कि ये केवल वाणी से कहते हैं किन्तु इनको वास्तव हार्दिक दुःख नहीं है, इस भ्रम के निवारण के लिये आँखों में आँसू भरकर संवेदना प्रकट करने लगे, 'अस्राक्ष.' द्विवचन देकर यह बताया कि पूर्ण शक्ति अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया शक्ति दोनों ही सम्वेदना प्रकट कर रही है सारांश कि बलराम जो क्रिया शक्ति हैं और श्रीकृष्ण जो ज्ञान शक्ति हैं वे दोनों इस कर्म के होने से सत्यभामावत् दुःखी हुवे हैं, अब उद्यम का विवरण करते हैं यदि किसी दूसरे द्वारा उद्यम करते तो वह उदासीनता का द्योतक हो जाता था। अतः स्वयं भगवान् आकर उद्यम करने लगे, भगवान् पद देने का आशय यह है कि आप में सामर्थ्य एवं उपाय का ज्ञान भी है, यह प्रकट कर दिखाया है। हे तात! राजा को यह सम्बोधन विश्वासार्थ दिया है भगवान् द्वारका में इस उद्यम करने के लिये छिपकर गये होंगे, इस संशय को दूर करने के लिये कहते हैं कि स्त्री और भ्राता के साथ प्रकट रूप से आये हैं, द्वारका में आकर ही उपाय का विचार करने लगे, न कि मध्य में ही ठहर कर बन्धन का विचार किया। शतधन्वा को मारूँ और मणि भी लूँ इस प्रकार दो प्रयोजन नहीं थे। प्रयोजन तो एक ही मणि लेने का था किन्तु शतधन्वा जीते हुए मणि न देगा इसलिये उसको मारना पड़ेगा, यों तो शतधन्वा ने सत्राजित् को दूसरों की प्रेरणा से मारा है या भगवान् की भी वैसी इच्छा थी, इसलिये शतधन्वा मारने योग्य नहीं है और सत्राजित् के वंश का भी यह शतधन्वा नहीं है, जिस कारण से भगवान् मरे हुवे को मारे, दोनों[1] समान हैं, किये हुए का करना नहीं होता है, यों शतधन्वा के मारने से सत्राजित् जीवित न होगा। इस कारण से ही भगवान् के आगे कहे हुए शब्द घटित होते हैं, जैसा कि 'वृथा हतः शतधनुः' शतधन्वा को व्यर्थ ही मारा। 'शतधनु' शब्द सकारान्त तथा उकारान्त भी है, जैसे सत्राजित् तकारान्त और अकारान्त है अर्थात् दोनों दो स्वभाववाले है, जिससे मारे गए, इस लिए दो प्रकार के प्रयोग किए हैं। सत्राजित् के दो स्वभाव निन्दा करने और पश्चात्ताप करने से सिद्ध किए हैं, वैसे यह भी पहले सत्राजित् को मारने के समय निर्भय था और आगे भाग जाने से डरपोक हो गया, जिससे द्वि स्वभाव इसका भी सिद्ध है, पश्चात् शतधन्वा का यह आरम्भ 'पकड़ो और मारो' इस प्रकार स्पष्ट आज्ञारूप है ॥९-१०॥

१– सत्राजित् और शतधन्वा

आभास—ततो राजकीयाः तन्निग्रहार्थं प्रवृत्ताः, एवं सति शतधनुषः कृत्यमाह सोऽपीति ।

आभासार्थ—पश्चात् जब राजकीय मनुष्य उसको पकड़ने के लिए प्रवृत्त हुए, तब शतधन्वा ने जो कृत्य किया, उसका वर्णन 'सोऽपि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया ।
साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥११॥

श्लोकार्थ—वह भी कृष्ण का उद्यम जानकर डरते हुए प्राणों के बचाने की इच्छा से जब कृतवर्मा से सहायता माँगने लगा, तब उसने कहा ॥११॥

सुबोधिनी—योऽयं राजद्वारा निग्रहः श्रूयते, स भगवत्कृत एवेति निश्चितवान् । अतः **कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा** पूर्वं साधारणत्वेन ब्रह्मत्वेन वा सम्बन्धेन वा ज्ञात्वा निर्भयः । इदानीं पक्षपातिनं ज्ञात्वा भीतो जातः । चौरस्य चौर्यादेव स्वत्वमुत्पद्यते । तस्मिन् हते शत्रुजयन्यायेन यो हन्यात्, तस्य भवति । अन्यथा तस्मिन् विद्यमाने परस्वापहार एव भवति । अतो भगवान् हत्वैव ग्रहीष्यतीति निश्चित्य, **प्राणपरीप्सया** सर्वतः प्राणा रक्षणीया इति, अहत्वा दुष्टान् न ग्रहीष्यतीति, चौरवच्च मरणं न प्रशस्तमिति, स्वयमसहायः कृतवर्माणं यादवं सहायत्वेन प्रार्थितवानित्याह **साहाय्ये कृतवर्माणमयाचतेति** । अस्य याचनवाक्यानि स्पष्टानीति नोदाहृतानि । **स चाब्रवीदिति** चकारेण सूचितानि ॥११॥

व्याख्यार्थ—यह जो राजा की ओर का बन्धन सुना जाता है, वह वास्तविक भगवान् से किया हुआ ही है, यों इसने निश्चय से समझ लिया । अतः यह श्रीकृष्ण का उद्यम है. यों जानकर और कृष्ण को पक्षपाती समझकर शतधन्वा डर गया, पहले नहीं डरा था, जिसका कारण यह था कि कृष्ण इसका पक्षपाती बनेगा, यों नहीं जानता था, केवल समझता था कि यह साधारण रूप, ब्रह्मत्व और सम्बन्धी ही है, इसलिए निर्भय था, जिससे सत्राजित् को मारा और अनाथ स्त्रियों को पीटकर मणि ले आए, वस्तु को चुरा लाने पर ही चोर का उस पर स्वत्व होता है । 'शत्रुजयन्याय' से शत्रु को मारने से मारने वाले की वह वस्तु हो जाती है, यदि शत्रु को मारा न जाय, वह जीता हो और उसकी उपस्थिति में वस्तु ले ली जाय तो उसको पराये धन का चुराया जाना कहा जाता है, अतः यह मणि मुझे मारकर ही लेंगे, इसलिए प्राणों की रक्षा की इच्छा से अपने को अकेला असहाय समझकर कृतवर्मा यादव को प्रार्थना करने लगा कि मेरी सहायता करो, चोर की भाँति मरना अच्छा नहीं है, जिसका भाव है कि मैं कृष्ण से युद्ध करना चाहता हूँ । इस कार्य में तुम्हें मेरी मदद करनी चाहिए. इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक याचना में जो वाक्य कहने चाहिए, वे तो स्पष्ट ही हैं, इसलिए नहीं कहे हैं और उस कृतवर्मा ने जो कुछ कहा, वह 'च' पद से सूचित किया है ॥११॥

आभास—स कृतवर्मा महान् यादवः, भारते युद्धे कौरवपक्षपाती, बहुकार्यं तस्या-

स्तीति, स्वाभिलषितं सिद्धमेवेति, मणिं चायं न प्रयच्छतीति, उदासीनः सन् भगवत्पक्षपातेन वाक्यान्याह नाहमीश्वरयोरिति ।

आभासार्थ – वह कृतवर्मा महान् यादव है, महाभारत के युद्ध में कौरवों का पक्षपाती था, उसको बहुत कार्य हैं, उसके मन की अभिलाषा तो पूर्ण हो गई, यह मणि तो नहीं देता है, जिससे उदासीन हो भगवान् का पक्ष लेता हुआ 'नाहमीश्वरयोः' श्लोक में अपने विचार कहने लगा ।

श्लोक—नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।
को नु क्षेमाय कल्प्येत तयोर्वृजिनमाचरन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—राम-कृष्ण दोनों ईश्वर हैं, उनकी उपेक्षा मैं नहीं कर सकता हूँ, उनका अपराध कर, अपने कल्याण की कल्पना भी कौन कर सकता है? ॥१२॥

सुबोधिनी—फलं तु न तव नापि मम, किन्तु हेलन कर्तुं शक्यम्, यथा त्वं करोषि, तदपि न कर्तव्यम् । यतः कृष्णरामौ न लौकिकौ, तत्रापीश्वरौ दृष्टादृष्टलौकिकालौकिकफलदानसमर्थौ । अहं चैकः स्वानुभवेन तुच्छश्च । रामकृष्णयोरिति नाम्नैव प्रसिद्धिरुक्ता । ननु भवानपि यादवः शूरो महारथश्च, तत्कथं बिभेषीत्याशङ्क्याह को नु क्षेमायेति । नु इति वितर्के । यावन्तो भगवदपराधकर्तारः, ते सर्व एव क्षेमात् प्रच्युता दृष्टाः । भविष्योतः परं को वा कल्प्येत, भूतवदेव भविष्यस्यापि निर्णयात् । नु इति निश्चये । तत्रापि तयोः पूर्णशक्तिमति भगवति आचरन्नेव भगवता अहतोऽपि चिन्तयैव म्लानो भवतीति साधनफलयोः समानकालत्वं निरूपयन् वर्तमानप्रयोगं कृतवान् ॥१२॥

व्याख्यार्थ- फल तो न तुम्हें प्राप्त होगा और न मुझे मिलेगा, जैसे तूं उनको तुच्छ समझ उपेक्षा करता है, वैसे हो सकती है । किन्तु वह भी करनी नहीं चाहिए; क्योंकि राम और कृष्ण लौकिक मनुष्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वर है । जिससे दृष्ट, अदृष्ट, लौकिक और अलौकिक फल के देने में समर्थ हैं, मैं अकेला अपने अनुभव से जानता हूँ कि तुच्छ हूँ । वे राम कृष्ण नाम से ही सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, यदि कहो कि तुम भी यादव तथा शूरवीर और महारथी हो, तब क्यों डरते हो ? इसके उत्तर में कहता है कि विचारकर देख, भगवान् के जितने ही अपराधी हैं, उन सबका वर्तमान में कल्याण से पात हुआ है, इसके बाद भविष्य क्या होगा, उसकी कल्पना कौन कर सकता है ? किन्तु भूत की तरह भविष्य का भी निर्णय होगा ही यह निश्चय ही है, उसमें भी वे दोनों पूर्ण शक्तिमान् भगवान् है, उनका अपराध करते ही भगवान् से न भी मारा गया हो, तो भी चिन्ता से ही मुरझा जाता है । साधन और फल समानकाल में ही प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए वर्तमानकाल का प्रयोग किया है ॥१२॥

आभास—तत्र निदर्शनमाह कंस इति ।

आभासार्थ— उस विषय में उदाहरण 'कंस' श्लोक में देता है ।

श्लोक—**कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात्त्याजितः श्रिया ।
जरासन्धः सप्तदश संयुगान्विरथो गतः ।।१३।।**

श्लोकार्थ—जिससे द्वेष करने से कंस भाई समेत नाश को प्राप्त हुआ और राज्य लक्ष्मी से भ्रष्ट हुआ तथा जरासन्ध १७ बार युद्ध में से हारकार बिना रथ के हो भाग गया ।।१३।।

सुबोधिनी—महान् स राजा, तादृशोऽपि तयोर्वृजिनमाचरन्, **सहानुगो** भ्रातृसहितोऽपि, **अपीतः** अप्ययं प्राप्तः । अपीति प्रलयार्थे । अप्युपसर्गपूर्वक इण् धातुः । कर्तरि क्तः । अपिरप्ययः तमित इति । श्रिया वा अपीतः अपगतः अपसारितः भगवतैव च, द्वेषाद्वा । एकमुदाहरणं नार्थं निश्चाययतीति व्याजरहितां क्रियाशक्तिं भगवतो निरूपयति **जरासन्ध** इति । सप्तदश युद्धानि कृत्वा आलक्ष्य, यद्द्वेषात्त्याजित इति वा अनुवर्तते । संयुगान् त्याजितः विरथो भूत्वा गतः स्वगृहम् । सप्तम्यर्थे वा द्वितीया ।।१३।।

व्याख्यार्थ—कंस महान् राजा था, वह भी उनके अपराध करने से भ्राता सहित नष्ट हो गया तथा भगवान् ने लक्ष्मी से भी हीन कर दिया अथवा द्वेष के कारण वैसा हुआ, कोई भी विषय एक उदाहरण से निश्चित् सिद्ध नहीं माना जाता, इसलिए भगवान् की छल रहित क्रिया शक्ति का निरूपण करते हैं कि जरासन्ध द्वेष से सत्रह बार लड़ाई करने के लिए चढ़ाई कर आया, किन्तु लड़ाई के मदान में हार कर रथ का भी त्याग कर भाग गया ।।१३।।

आभास— कृतवर्मा भगवत्प्रतिकूलस्वभाव इति प्रथमं स याचितः । स चेदुत्तरं दत्तवान्, तदा तमुदासीनं मत्वा, सत्राजिद्वधः अक्रूरस्यैव सर्वथाभीष्ट इति उपकारकर्तारमात्मानं मत्वा, भगवद्भक्तमपि अक्रूरं युद्धे क्रियमाणे भङ्गे पश्चात्पृष्ठपूरकत्वेन याचनं कृतवानित्याह **प्रत्याख्यात इति ।**

आभासार्थ—भगवान् से कृतवर्मा विरुद्ध है, यों समझ पहले उससे सहायता की मांग करने लगा, जब उसने उत्तर दे दिया कि मैं तुम्हें सहायता नहीं दे सकता हूँ, तब उसको उदासीन समझ, देखा कि सत्राजित् का वध तो अक्रूर का ही अभीष्ट था, जिसको इसके कथन से मैंने मारा है, इस लिए इस पर मेरा उपकार है, यों मान भगवान् के भक्त अक्रूर को भी कहने लगा कि मैं भगवान् से युद्ध करूँगा, यदि उससे मैं हटने लगूँ तो आप सहायता करना, जैसे मुझे बल मिले तो मैं जीत जाऊँ, यह विचार 'प्रत्याख्यातः' श्लोक में प्रकट करता है ।

श्लोक—**प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत ।
सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम् ।।१४।।**

श्लोकार्थ—जब शतधन्वा को कृतवर्मा तथा उसके पक्षपातियों ने सहायता देने का निषेध कर दिया, तब अक्रूरजी से सहायता की प्रार्थना की, उसने भी कह दिया कि ईश्वरों के बल को जानकर उनसे कौन विरोध करे? ॥१४॥

सुबोधिनी—चकारात्तत्पक्षपातिनोऽन्येऽपि तेन प्रत्याख्याता:। स पूर्वोक्त: कृतोपकार:। **अक्रूरं** भक्तं नाम्ना हितकारित्वमपि बोधितम्। पार्ष्णिग्राह: पृष्ठपूरक: पूर्ववदेव याचनवचनानि नोक्तानि सोऽपि स्वकार्यस्य सिद्धत्वात् भगवदसम्मतिं ज्ञात्वा प्रत्याचष्ट इत्याह **सोऽप्याहेति** सार्धैस्त्रिभि:। **अपिशब्दात्** पूर्व: कृतवर्मा गृहीत:। तेन प्रत्याख्यानं सिद्धम्। तद्वदेवाहेति। अग्रे त्वयापि विरोधो न कर्तव्य इति युद्धान्निवर्तयितुं भगवन्माहात्म्यमाह **को विरुध्येतेति**। को वा विरोधमाचरेत्। अज्ञ: करोतु **नाम, ईश्वरयोर्बलं विदित्वा** प्रत्यक्षशब्दाभ्यामवगत्य, पूर्णशक्तेर्भगवत: विरोधं कोऽपि न करोतीत्युपदेश:॥१४॥

व्याख्यार्थ—शतधन्वा को कृतवर्मा ने जब सहायता न देने का कहा 'च' पद से यह भी जाना जा सकता है कि दूसरे पक्षपातियों से सहायता माँगी थी, उन्होंने भी निषेध किया, अक्रूर के कहने से सत्राजित् को मारकर जो उनके ऊपर मैंने उपकार किया है और नाम से भी जाना कि भक्त अक्रूर दयालु है इसलिए यह सहायता करेगा। इसलिए आगे की भाँति याचना के वचन नहीं कहे, अक्रूर की अपने कार्य की सिद्धि तो हो गई, किन्तु भगवान् की ऐसी राय नहीं है, यों जानकर शतधन्वा को वह साढ़े तीन श्लोकों से कहने लगा,'अपि' पद का तात्पर्य है कि कृतवर्मा की इच्छा जान ली थी, उसको न मानना तो सिद्ध ही है, उसी प्रकार ही कहने लगा, वे दोनों ईश्वर हैं, उनके बल को जानकर कौन ऐसा मूर्ख है, जो उनके विरुद्ध हो. यों कहने का आशय यह है कि तुमने जो कुछ अब तक विरोध किया,वह हो गया आगे तुम्हें भी विरोध नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कहकर वह युद्ध न करे, इसलिए भगवान् के माहात्म्य को कहता है, कौन ऐसा है, जो उनसे लड़े? मूर्ख भले करे, समझदार तो नहीं करेगा; क्योंकि ईश्वरों का बल; प्रत्यक्ष तथा शास्त्र द्वारा जाना गया है। अत: पूर्ण शक्ति भगवान् का विरोध कोई नहीं करता है, इस प्रकार उपदेश दिया ॥१४॥

आभास—आदौ श्रुत माहात्म्यमाह **य इदमिति**।

आभासार्थ—पहिले सुने हुए माहात्म्य को 'य इदं' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**य इदं मायया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च।**
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥१५॥

श्लोकार्थ—जो अपनी इच्छा रूपी माया शक्ति से इस जगत् को उत्पन्न करता है, पालन करता है एवं नाश करता है, उस विश्व रचना करने वाले की अजेय माया से मोहित मनुष्य जिसकी इस लीला को नहीं जान सकते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—भगवतः सामर्थ्यं तस्यानन्यत्वं च प्रतिपाद्यते । **माया** सर्वभवनसामर्थ्यम् शक्तिर्वा काचित्, अप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य इदं सर्वमेव जगत् उत्पादयति पालयति नाशयति च । एवमन्योऽपि करिष्यतीत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन परिहरति **चेष्टामिति** । भगवांस्त्वेतल्लीलयैव करोति, अन्यैः कर्तव्यमिति दूरापास्तम् । भगवत्क्रियामात्रमपि न जानन्ति, किं करोति कथं करोतीति । क्रियाशक्तिर्वा निष्पन्नापि सर्वं निष्पादयन्त्यपि किमात्मिकंषेति न विदुः । तत्र हेतुः **अजया प्रकृत्या मोहिता** इति । यदि ते जानीयुः, तदा कथमात्मवञ्चनामङ्गीकुर्युः । **ये** अजयापि मोहिता भवन्ति, ते अजा एव, सर्वैरेव हन्यमानाः स्वरक्षायामेवाशक्ताः कथं सृष्टि करिष्यन्तीति भावः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की समर्थता और उसका अनन्यपन प्रतिपादन किया जाता है, 'माया' पद का भावार्थ है, वह (माया) भगवान् की वह शक्ति है, जिससे प्रभु जो चाहे वह कर सकते हैं अथवा वह शक्ति है, जो प्रयोजिका नहीं है, उस अप्रयोजिका को भी साधन रूप से ग्रहण कर यह समस्त जगत् पैदा करता है, पालता है और नाश करता है, जैसे भगवान् करते हैं, वैसे दूसरा भी करेगा । इसके उत्तर में कहा है कि भगवान् तो यह लीला मात्र से ही करते हैं, यों कहने से 'दूसरे करेंगे', इसको दूर से ही परास्त कर दिया अर्थात् दूसरा कोई इस प्रकार नहीं कर सकेगा, कारण कि भगवान् की केवल क्रिया ही कोई नहीं जानता है कि भगवान् क्यों करते हैं और कैसे करते हैं ? सिद्ध हुई भी क्रिया शक्ति तथा सर्व कार्य करती हुई देखकर भी यह नहीं समझ सकते हैं कि इसका स्वरूप क्या है ? न समझने का हेतु यह है कि भगवान् की अजन्मा प्रकृति ने उनको मोहित कर दिया है, यदि वे जानते तो अपने को ठगने कैसे दें ? जो अजा से मोहित हैं, वे स्वयं ही अजा हैं अर्थात् सबसे मारे हुए हैं, जिससे अपनी रक्षा करने में भी अशक्त हैं अर्थात् अपनी भी रक्षा नहीं कर सकते हैं, वे सृष्टि आदि कैसे कर सकेंगे, यह भावार्थ है ॥१५॥

आभास—एवं श्रुतिसिद्धमुक्त्वा प्रत्यक्षसिद्धमाह **यः सप्तहायन** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रुतियों से सिद्ध प्रभाव कह कर अब प्रत्यक्ष में सिद्ध बल कहता है ।

श्लोक—यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना ।
दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिसने सात वर्ष की बाल्य अवस्था में पर्वत को उखाड़ कर एक हाथ से जैसे बालक छाता धारण करता है, वैसे धारण किया ॥१६॥

सुबोधिनी— जरासन्धादिजयस्त्वतिदेशेनैव प्राप्तः । अलौकिकस्तु वक्तव्यः । तत्र पर्वतोद्धरणं लोके अत्याश्चर्यमिति, वयःप्रकारादीनां सुतरामत्याश्चर्यहेतुत्वमुच्यते । **सप्तहायनः** सप्तवार्षिकः, तत्रापि **शैलं** गोवर्धनमेकेन **पाणिना** उत्पाट्य दधारेति । मन्दरधारणादप्यधिकः प्रयत्न उक्तः । एकेनैव पाणिना दधार, तत्र तु पृष्ठेनेति विशेषान्तरम् । लीलया अङ्गुल्यादिषु वेणुनादानुगुण-

साऽप्याह को विरुध्येत विद्वत्वश्चरयाबलम् ॥१७॥

तथा स्थापयन् दधारेति तृतीयो विशेषः। एतदपि धारणं न गोकुलसंरक्षार्थम् अन्यथा साधनपरतन्त्रः स्यात् इन्द्रभयाद्वा तथा कृतवानित्यपि शङ्केत, किन्तु लीलयैव कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह उच्छिलीन्ध्रमिवेति। छत्राकमिव अर्भको बालकः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—जरासन्ध से जय तो अति देश से ही मिल गई। अलौकिक कार्य जो किए हैं, वे कहने चाहिए, उनमें पर्वत का उठाना लोक में बहुत आश्चर्य का कार्य किया है, जिसमें भी यह कार्य आपकी आयु और शरीर आदि प्रकार से तो 'सुतरां' [बिलकुल] आश्चर्य का हेतु कहा जाता है, आयु से तो आप उस समय सात ही वर्ष के थे, उस आयु में गोवर्द्धन पर्वत को एक ही हस्त से उखाड़कर धारण किया, यह प्रयत्न तो मन्दराचल धारण करने से भी विशेष प्रयत्न किया है; क्योंकि मन्दर को पीठ पर धारण किया था और इसको एक ही हस्त पर धारण किया है, यों दोनों में बड़ा अन्तर है, उससे भी तीसरी विशेषता यह थी कि जैसे लीला से वंशी को अँगुलियों पर धारण करते हैं वैसे उसको भी लीला से ही धारण किया है, यह धारण भी गोकुल की रक्षा के लिए नहीं किया है अन्यथा साधनों के आधीन हो जावे या इन्द्र के भय से धारण किया है, यह शङ्का भी हो सकती है, इसलिए भी धारण नहीं किया है, किन्तु लीला से ही किया है, जिसमें दृष्टान्त देता है कि जैसे बालक छतरी को उठाता है, वैसे उठाया ॥१६॥

आभास—एवं माहात्म्यमुक्त्वा कृतं स्वापराधं दूरीकर्तुं भगवन्तं नमस्यति नमस्तस्मै भगवत इति।

आभासार्थ—इस प्रकार माहात्म्य कहकर अपने किए हुए अपराध की 'नमस्तस्मै' श्लोक से नमस्कारपूर्वक क्षमा माँगता है।

श्लोक—**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे।**
अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥१७॥

श्लोकार्थ—अद्भुत चरित्र करने वाले अनन्त सर्व के आदि करण, निर्विकारस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१७॥

सुबोधिनी अचिन्त्यैश्वर्यत्वात् अन्यथाज्ञात्वा कृतोपराधः, अतः क्षन्तव्य इति। **कृष्णायेति**। भक्तहितार्थमेवावतीर्णत्वमुक्तम्। किञ्च। भगवदिच्छा एव हरतीति हतः सत्राजित् तदधुना विपरीतमापतितम्, अनुग्रहं कुर्वन् निग्रहं करोति। एतद्वा विपरीतम्। तदाह **अद्भुतकर्मणे** इति। अशक्यः प्रतीकार इति वक्तुमाह **आदिभूतायेति**। न कस्याप्यपराधोऽपीति सूचितम्। **कूटस्थायेति** दोषाभावः। न केनाप्यपराधः कर्तुं शक्य इत्य प सूचितम्। परमामुपपत्तिमाह सर्वदोषपरिहाराय आत्मने नम इति ॥१७॥

व्याख्यार्थ—आप अचिन्त्य ऐश्वर्य वाले हैं, मैंने आपको वैसा न समझ अन्यथा समझा, जि से अपराध किया, अतः उस अपराध को क्षमा करना, यह प्रार्थना है। 'कृष्णाय' नाम देने से यह भाव

प्रकट किया है कि आप भक्तों का हित करने के लिए ही प्रकटे हैं किञ्च भगवान् की इच्छा ऐसी थी, जो सत्राजित् मरा, वह आज अब विपरीत हुआ. अनुग्रह कर आप निरोध करते हैं अथवा यह विपरीत है। उसको कहता है कि आपके कर्म 'अद्भुत' हैं, जिनको कोई भी समझ नहीं सकता है,प्रतिकार अशक्य है, यों कहने के लिये 'आदि भूताय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि आप सब के आदि हैं जिससे आपको एवं आपकी लीला के भावों को कोई जान नहीं सकता है इससे यह भी सूचित किया है कि किसी का अपराध भी नहीं है 'कूटस्थाय' विशेषण से आप में दोषों का अभाव दिखाया है और यह भी सूचित किया है, कोई भी अपराध करने के लिये समर्थ नहीं है, सबसे विशेष सर्व दोषों के मिटाने के लिये उपपत्ति देता है कि 'आत्मने नमः' आप सबकी आत्मा हैं, वैसे आप को नमस्कार है ॥१७॥

श्लोक—**प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।**
तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥१८॥

श्लोकार्थ—जब अक्रूर ने भी साथ देने से निषेध किया, तब शतधन्वा वह बड़ी मणि अक्रूरजी के पास धर अर्थात् उसको देकर सौ योजन जाने वाले घोड़े पर चढ़ (जाने लगा) चला गया ॥१८॥

सुबोधिनी—एवं तेनापि सर्वथा युद्धं निवारयितुं प्रत्याख्यातः पलायनप्रेप्सुः स मणिर्यत्र क्वापि वधं प्राप्स्यतीति मणिं तस्मिन् स्थापयित्वा शतयोजनगं सैन्धवमश्वमारुह्य ययौ ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार जब उसने भी सर्व प्रकार युद्ध न करने को कहा, तब भाग जाने की इच्छा वाले उसने समझ लिया कि यह मणि होगी तो मेरा वध होगा, इसलिये मणि को अक्रूरजी के पास धर सो योजन जाने वाले अश्व पर चढ़, चला गया ॥१८॥

आभास—ग्रामाद्रात्रावेव निर्गतः । न्यासो न देय इति ज्ञापितम् । तस्मिन् मृते तदीयाः प्राप्स्यन्तीति नान्यो भगवते मणिं प्रयच्छति, महामणित्वात् दातुमपि न शक्यः। अद्भुतकर्मत्वान्न ग्रहीष्यतीत्यपि सूचितम् । अतः स्थापयित्वैव पलायनमेवोचितम् । ततो लोके पलायितः शतधन्वा एकेन दिनेन शतयोजनानि गत इति द्वितीयदिवसे लोकवार्ता निर्गता, तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह **गरुडध्वजमारुह्ये**ति ।

आभासार्थ—ग्राम से रात्रि के समय ही निकले,यदि किसी दूसरे के पास रखेंगे तो उसके मरनेपर उसकी सन्तान मणि ले लेगी, इसलिये मणि उसको दूं जो भगवान् को दे देवे वैसा तो अक्रूरजी है क्योंकि भक्त हैं, यह मणि साधारण नहीं है इसलिये देनी भी कठिन है दी नहीं जा सकती है, इससे यह भी सूचित किया है कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं वह ग्रहण भी नहीं करेंगे नहीं तो उनको ही दे दूं, अतः अक्रूर के पास धर कर ही भागना उचित है। पश्चात् भागा हुआ शतधन्वा एक ही दिन में

सौ योजन दूर चला गया, यों दूसरे दिन लोक में मनुष्यों को आपस मे बातचीत होनेलगी कि शतधन्वा भाग गया एक दिन में सौ योजन चला गया, तब भगवान् ने जो कुछ किया वह 'गरुड़ध्वज' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ।
अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! राम-कृष्ण भी गरुड़ की ध्वजावाले बड़ वेगवाले घोड़ों से युक्त रथ में बैठ, उस गुरुद्रोही के पीछे गए ॥१६॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नेव दिवसे चेद्गच्छेत्, तदा निकट एवोपलम्भः स्यात्। द्वितीये दिवसे मध्याह्ने निर्गतः। तावता स योजनानां शतद्वयमतिक्रम्य गतः। भगवान् पुनः रथान्तरं शीघ्रगामि न भवतीति, अलौकिकं च न कर्तव्यमिति, गरुडध्वजमेव रथमारुह्य एकस्मिन्नेव सर्वसामग्रीं गृहीत्वा, प्रमाणाद्यपेक्षां परित्यज्य, रामजनार्दनौ ससाधनपूर्णप्रयत्नौ महावेगैः अश्वैः सैन्यादिभिः कृत्वा अन्वयाताम्, पृष्ठतो मारणार्थमनुगतौ। अवश्यं तथागमने हेतुः गुरुद्रुहमिति। गुरुः श्वशुरः पञ्चानां मध्ये गणितः। तस्मै द्रोहं कृतवानिति। राजन्नित्यालस्याभावाय शौर्यं कथयन् सम्बोधयति। गुरुद्रोहकथनेनान्यदपि सूचितम्। 'प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि'दिति पक्षः परिहृतः॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् यदि उसी दिन जाते तो पास ही में पकड़ लेते, किन्तु आप दूसरे दिन भी मध्याह्न में निकले, इतने मे वह दो सौ योजन मार्ग का अतिक्रमण कर चला गया, भगवान् ने सोचा कि दूसरे रथ तेज चलने वाले नहीं है और अलौकिक प्रकार भी नहीं करना है अतः गरुड़ की ध्वजा वाले रथ में राम व जनार्दन चढ़ सर्वसामग्री उस एक ही रथ में साधन सहित पूर्ण प्रयत्न से रख महान् वेग वाले घोड़ों से सैन्य को साथ में लेकर उसके पीछे गये, पीछे जाने का कारण उसको मारना था, मारने के लिये क्यों गये? वह गुरु द्रोही था अतः वध के ही योग्य है, पांच गुरुओं में श्वशुर की भी गणना की हुई है, उस 'श्वशुर' का इसने द्रोह किया है इसलिये गुरु द्रोही है, राजन्! सबोधन देने का आशय यह है कि जैसे राजा ऐसों के वध में आलस्य नहीं करता है वैसे हम भी आलस्य त्याग शौर्य प्रकट करते हुए जा रहे हैं गुरु द्रोह कहने से दूसरे भी इसके दोष दिखा दिये, 'शास्त्र में कहा है कि 'प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्' शरण आया हुआ हो या जो बिना रथ वाला हो और डरा हुआ हो ऐसे शत्रु को धर्मज्ञ नहीं मारते हैं, तो भगवान् धर्मज्ञ हैं उन्होंने विरथ डरे हुए को कैसे मारा? इस पक्ष को यहां नहीं लिया है, क्योंकि इससे प्रबल पक्ष गुरु द्रोही को मारना चाहिये, वह है ॥१६॥

आभास—तावता सः मिथिलानगरपर्यन्तं गत इति तत्र मारित इति वक्तुं तस्योपलम्भमाह मिथिलायां इति।

आभासार्थ - इतने में वह मिथिला नगर तक पहुंच गया वह मारा गया, उसका मिलना और उस प्रकार 'मिथिलाया' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—मिथिलाया उपवने विसृज्य पतितं हयम् ।
पद्भ्यामधावत्संत्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा । २०॥

श्लोकार्थ—मिथिला के उपवन में उसका घोड़ा श्रमित हो गिर गया, उस गिरे हुए को छोड़, डरा हुआ पैदल ही दौड़ता हुआ जा रहा था, भगवान् कृष्ण भी उसके पीछे क्रोधित हो दौड़ते हुए जाने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—अतिदूरगमनात् हयस्य श्रमात् पातः। ततः पद्भ्यां धावनम्। ततो भगवानपि रथेनानुगमनं निषिद्धमिति स्वयमपि पदातिरेव भूत्वानुगत इत्याह कृष्णोऽपीति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—बहुत दूर जाने से अश्व थक गया जिससे वह पृथ्वी पर पड़ गया अर्थात् गिर गया, पश्चात् वह पैदल दौड़ता हुआ गया, अनन्तर भगवान् भी पैदल को पकड़ने के लिये उसके पीछे रथ से जाने का शास्त्र में निषेध है, अतः भगवान् भी स्वयं पैदल ही उसके पीछे गये ॥२०॥

श्लोक—पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—पैदल भगवान् ने उस पैदल के सिर को सुदर्शन के तेज घेरे से काट कर कपड़ों में मणि ढूंढने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—स्वयमपि पदातिः तस्य पदातेः तिग्मनेमिना अप्रतिहतेन सुदर्शनेन शिरस्तस्योत्कृत्य, धावनसमय एव शरीरं धावमानमेव स्थितम्। शिरस्तु छिन्नमिति। भगवानिति मोक्षदानार्थं तथा कृतवानिति निरूपितम्। अत एव भगवानद्भुतकर्मा बलभद्रः पश्यतीति तत्र मण्यभावं ज्ञात्वापि वाससोः व्यचिनोत्, विवेचनेन अन्वेषणं कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् आप भी पैदल थे, उस पैदल के तेज घेरे वाले सुदर्शन से शिर को काट डाला, दौड़ने के समय ही शरीर दौड़ता हुवा ही स्थित था, शिर तो धड़ से पृथक हो गया. भगवान् ने इसलिये उसको मोक्ष दान देने के लिये यों करने लगे, अतः इस प्रकार निरूपण किया है, अतएव भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, बलभद्र आपके अद्भुत कर्म देख रहा है कि भगवान् जानते भी हैं कि मणि इसके पास अब नहीं है, तो भी कपड़ों में मणि को पूर्ण रीति से ढूंढने लगे ॥२१॥

आभास—बलभद्रविचारेण स मारित इति ज्ञात्वापि भगवांस्तथा कृतवान्। मण्यर्थमेव मारणमिति बलभद्रविचारः। सर्वथा मारणीय इति भगवतः। लोकवद्बल-

भद्रः बहुविधानि वाक्यानि श्रुत्वा मणिसद्भाव एव तस्यापराधं जानीयात् । अन्यथा लोकोन्यथापि वदतीति विश्वासं न कुर्यादत आह भगवान् ।

आभासार्थ— बलभद्र का विचार था कि इसके पास मणि है इसलिये इसको मारना चाहिये, किन्तु भगवान् का विचार था कि यह गुरु द्रोही है इसलिये यह मारने के योग्य है, भगवान् जानते थे कि मणि इसके पास नहीं है तो भी भगवान् ने मारने योग्य समझ मारा, लोक की भांति बलभद्र ने अनेक प्रकार के वाक्य सुन कर निश्चय कर लिया था कि मणि का इसके पास होना ही इसका अपराध है, यों न हो तो लोक अन्य प्रकार भी कहता तो विश्वास न करते, अतः भगवान् कहते हैं ।

श्लोक—**अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।**

वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण के ढूंढ़ने पर जब मणि न मिली, तब बड़े भ्राता के पास आकर कहने लगे कि शतधनु को वृथा मारा, उसके पास तो मणि नहीं है ॥२२॥

सुबोधिनी — अलब्धमणिरग्रजान्तिकमागत्य वृथा हतः शतधनुरिति । सर्वज्ञत्वे भगवतोऽपराधः स्यात् । ज्ञात्वैवान्यत्र गत इति । सर्वकर्तृत्वमपि सर्वज्ञत्वे भविष्यतीति सुतरामेवापराधः स्यात् । ततोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम् । अहतो वृथेत्यपि वाक्यं भवति । गुरुद्रोहात् हत एव सार्थको भवतीति । अन्यथा अकृतनिर्वेशो भवेत् । मणिस्तु न विद्यत इत्युभयत्र समानम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ— भगवान् मणि न मिलने पर बड़े भ्राता बलदेवजी के पास आकर कहने लगे कि शतधनु को व्यर्थ ही मारा, यदि भगवान् यहां सर्वज्ञत्व दिखाते तो आपका अपराध दीखता, जानकर ही वहां गये जहाँ मणि नहीं थी, सर्वज्ञत्व में सर्वकर्तृपन भी होगा इसलिये सुतराम ही अपराध होवे इससे अज्ञानका नाट्य करना चाहिये, अर्थात आप सब जानते हुए भी इस प्रकार लीला करने में अपनी अज्ञता प्रकट करने के लिये ही बलरामजी को कहा कि इसके पास मणि जानकर इसको मारा, किन्तु इसके पास मणि तो है ही नहीं,यह भगवान् का अज्ञान,नाट्य कर दिखाना है,'वृथाहतः शतधनु' इस पंक्तिका अर्थ दूसरे प्रकार भी होता है, जैसे कि'शतधनुः वृथा अहतः' शतधनु का मारना निरर्थक नहीं है किन्तु सार्थक है, क्योंकि वह गुरु द्रोही था मणि न मिली तो भी इसका वध होना ही चाहिये था, नहीं तो लोक कहते कि इन्होंने कुछ नहीं किया, ऐसे गुरुदोही को छोड़ दिया, मणि तो इसके पास नहीं है इसलिये दोनों बात 'मारना व न मारना' समान है ॥२२॥

आभास—ततो बलभद्र एव युक्त्यभिज्ञः भगवन्तमार्हत्याह तत **आह बल** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् युक्तियों के ज्ञाता बलभद्रजी ने तब 'आह' श्लोक में भगवान् को कहा ।

श्लोक—तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।
कस्मिंश्चित्पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष्टुं पुरं व्रज ॥२३॥

श्लोकार्थ—अनन्तर बलरामजी ने भगवान् को कहा कि निश्चय है कि शतधनु ने यह मणि किसी पुरुष के पास रखी है, उसकी सूचना निकालने के लिए नगर में जाओ ॥२३॥

सुबोधिनी—नूनमिति तस्य वाक्यम् । अवश्यं मणिरन्वेष्टव्यः । यदि तत् स्थाने नास्ति तदा नूनं स मणिः शतधन्वना, शतधन्वन्शब्दः कस्मिंश्चित्पुरुषे, न तु खाते, भार्यादौ वा । पुरुषपदेन महानेव कश्चित्सूचितः । न्यस्तः न्यासप्रकारेण स्थापितः । ततः किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह तमन्वेष्टुं पुरं व्रजेति । न तु स्वगृहे गन्तव्यम्, कार्यं न जातमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—बलभद्र का कहना है कि मणि की अवश्य खोज करनी, जो उस स्थान पर नहीं है तब निश्चय से शतधन्वा[1] ने वह मणि किसी पुरुष के पास रखी है, न कि पृथ्वी में गाड़ी है वा स्त्री को दी है, पुरुष पद देने से यह सूचित किया है कि किसी महान् को दी है, 'नयस्तः' पद का भावार्थ है कि गिरवी की भाँति रखी है, उसने यों किया है तो क्या करना चाहिये ? इसके उत्तर में बलभद्र ने कहा कि आप घर मत जाओ नगरी में जाकर खोज करो क्योंकि जिसके लिये आये वह काम नहीं हुआ है ॥२३॥

आभास—स्वस्यान्यथा विनियोगमाह अहं विदेहमिच्छामीति ।

आभासार्थ—अपना अन्यत्र जाना बताते हैं 'अहं विदेह' मिच्छामि ।

श्लोक—अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।
इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः ॥२४॥

श्लोकार्थ—मैं अपने प्रियतम विदेह को देखने के लिए मिथिला जा रहा हूँ । हे राजन् ! यों कहकर बलराम ने मिथिला में प्रवेश किया अर्थात् गए ॥२४॥

सुबोधिनी—भूभारहरणार्थमुभौ समागतौ । लोकाश्च द्विस्वभावाः । यद्युभावप्येकासक्तौ स्याताम्, तदा पक्षान्तरे बलातिशयं दृष्ट्वा अपरो निवर्तेत, तदनुगुणो वा भवेत् । ततो भूमिभारस्तदवस्थ इति फले उभौ विरुद्धस्वभावौ जातौ । अतो दुर्योधनशिक्षार्थं बलो विदेहनगरे गच्छन् भगवन्तं द्वारकां प्रेषितवान् । इतःप्रभृत्येवोभयोः शक्तिविभक्ता । असम्मतिलीलाप्यन्योन्यं प्रदर्श्यते ।

---

[1] - शतधन्वन्, शब्द नकारान्त है जिसकी 'शतधन्वना' तृतीया विभक्ति है ।

अत एवाग्रे भगवद्वाक्यम्। 'किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रती'ति। ईश्वरशक्त्योर्विभक्तत्वात् तद्भक्तानामपि बुद्धिविभक्तेति अक्रूरभीष्मादीनां भगवद्भिन्नशीलत्व वर्णितम्। अन्यथोभयविधाः न निरुद्धा भवन्तीति। अतो बलभद्रप्रकारेण ये निरुद्धाः, ते भगवतो नानुगुणाः। भगवता निरुद्धाश्च न बलभद्रानुगुणा इति। अनयोर्विभागे शास्त्रमपि विभक्तमिति ज्ञापयितुं विदेहपदम्। ज्ञाननिष्ठाः प्रियाः बलपक्षे। भक्तिनिष्ठाश्चापरत्रेति। क्रियाज्ञानशक्ती एकत्र। भक्तिपरमानन्दावपरत्र। अत एव विदेहः प्रियतमः। ततस्तन्निकटे गत्वा दर्शनार्थी समुत्सुको जातः। ज्ञानपक्षे वेदमार्गो नात्यन्तमादरणीय इति गरुडध्वजो रथः भगवतैव गृहीतः। बलस्तु रथान्तरं समारुह्य पद्भ्यां वा गत इति निश्चीयते। बलभद्रो नियोगकर्तेति तस्यैव चरित्रं प्रथममाह इत्युक्त्वेति त्रिभिः। मिथिला नाम मथनाज्जातेति, न निर्मितेति कर्मज्ञानोद्भवस्तस्यां सूचितः। यदुनन्दन इति तदर्थमेव भगवदवतार इति तथाकरणमुचितमिति ज्ञापितम्॥२४॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी का भार उतारने के लिये ही दोनों पधारे हैं, लोक दो स्वभाव वाले हैं एक प्रवृत्ति परायण हैं, दूसरे निवृत्ति परायण हैं, जो दोनों एक ही में आसक्त हो जावें, अर्थात् दोनों एक स्वभाव वालों के उद्धार करने में लग जावें, तो उस पक्ष को बलवान् देख दूसरा निवृत्त हो जाय, अथवा वैसा बन जाय, उससे भूमिका भार न उत्तर कर वैसा ही रह जावे, इसलिये लोक जय आदि फल में दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हो गये, अतः दुर्योधन को शिक्षा देने के लिये बलरामजी विदेह के नगर जाते हुए भगवान् को द्वारका में भेजने लगे, यहाँ से ही दोनों की शक्ति पृथक् विभाजित हो गई एक दूसरे की लीला में असम्मति भी दिखाई जाती है, अतएव आगे भगवान् के वाक्य हैं, 'किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रती'ति, परन्तु मेरे बड़े भाई मणि के प्रति पूरा ध्यान नहीं देते हैं। ईश्वर की शक्तियों के विभक्त होने से उनके भक्तों की बुद्धि भी बट जाती है, इसलिये अक्रूर और भीष्म आदि का शील भी भगवान् से भिन्न हो गया, जो इस प्रकार प्रभु, लीला न करते तो दोनों प्रकार के भक्तों का निरोध न होता, अतः जो बलभद्र के प्रकार से निरुद्ध हुए वे भगवान् के विचारों के अनुकूल नहीं होते, और जो भगवान् ने निरुद्ध किये वे बलभद्र के अनुकूल नहीं थे, इन दोनों शक्तियों के विभाग होने से शास्त्र[1] भी विभक्त हुए, यह जताने के लिये 'विदेह' पद दिया है, जो ज्ञान में निष्ठ थे वे प्रिय प्रसन्न बलराम के पक्ष में थे, भक्ति में निष्ठावाले दूसरे में क्रिया[2] और ज्ञान शक्ति एक स्थान पर और भक्ति तथा परमानन्द दूसरे स्थान पर, अतएव बलराम को विदेह प्रियतम है, इस कारण से उसके पास जाकर उसके दर्शन के लिये अत्यन्त उत्सुक होने लगे, ज्ञान पक्ष में वेद मार्ग अत्यन्त आदरणीय नहीं है, इसलिये गरुड़ की ध्वजा वाला रथ भगवान् ने ही लिया, बलदेव दूसरे रथ मे बैठकर अथवा पैदल गये, यों निश्चय किया जाता है, श्री बलभद्र नियोग करने वाले हैं इसलिये उनका ही चरित्र तीन श्लोकों से कहा जाता है, मिथिला नगरी बनाई नहीं गई है किन्तु मथन करने से उत्पन्न हुई है, यों कहने का भावार्थ यह है कि इसी कारण से ही इस मिथिला में कर्म और ज्ञान का उद्भव होता है, यह सूचित किया है, 'यदुनन्दन' नाम देने से यह भाव बताया है कि इसलिये ही भगवदवतार हैं, यों करना उचित ही है यह बता दिया॥२४॥

१- ज्ञान शास्त्र और भक्ति शास्त्र

२- कर्म और ज्ञान

आभास—ततो राजकर्तृकमभिनन्दनमाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ– पश्चात् राजा का किया हुआ अभिनन्दन 'तं दृष्ट्वा' श्लोक से कहा जाता है ।

**श्लोक—तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः ।
अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥२५॥**

श्लोकार्थ—उनको देख मिथिला का राजा प्रसन्नचित्त हो जल्दी उठ खड़ा हुआ, पूजा के योग्य सामग्री से विधि के अनुसार बलदेवजी की पूजा की ॥२५॥

सुबोधिनी—अतिप्रियत्वात् न ज्ञापयित्वा गतः । अतोऽन्तःप्रवेशानन्तरमेव दर्शनानन्तरमेव राजा ज्ञातवानिति दृष्ट्वा सहसोत्थायेत्युक्तम् । यतो मैथिलः । दर्शनेनैव प्रीतं मानसं यस्य । एवं देहेन्द्रियान्तःकरणस्थितिरुक्ता । ततस्तस्य कार्यमाह अर्हयामासेति । विधिप्रधान इति विधिवत्पूजां चक्रे कस्मिन्नप्यंशे पुष्टिर्नास्तीति ज्ञापयितुं अर्हणीयमित्युक्तम् । रामः सर्वैरेव अर्हणीयः, साधनपुरःसरम्, ब्रह्मरूपत्वात् । समर्हणैः सम्यगर्हणयोग्यैः शुद्धैः द्रव्यादिभिः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—मैथिल बलदेवजी का अति प्रिय था, इसलिए उसे सूचित किए बिना ही वहां गए, अतः अन्तःपुर में पहुँच जाने के अनन्तर उनको देखकर राजा ने जाना कि बलदेवजी आए हैं, तब एकदम उठकर उनकी पूजा की, यों कहा; क्योंकि मैथिल[1] है, दर्शन से ही प्रसन्न चित्त हो गया, इस प्रकार कहने से राजा के देह, इन्द्रिय आदि की स्थिति प्रेमयुक्त हो गई, यों सूचित किया, अनन्तर राजा ने जो कार्य किया, उसका वर्णन करते हैं कि विधि अनुसार राजा ने बलरामजी की पूजा की, इस कार्य में स्वल्प भी पुष्टि नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'अर्हणीयम्' राम की साधनपूर्वक सबको पूजा करनी चाहिए; क्योंकि ब्रह्मरूप है, किससे पूजा करनी चाहिए ? जिसके उत्तर में कहा कि 'समर्हणैः' अच्छे प्रकार पूजा के योग्य शुद्ध द्रव्यों से पूजा करनी चाहिए । २५॥

आभास—एवं पूजानन्तरं तस्य प्रत्यागमनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थमाह उवासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूजा के बाद उसके लौटने की सम्भावना कर उसके निषेध के लिए 'उवास' श्लोक से कहते हैं ।

**श्लोक—उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥२६॥
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।**

१- मिथिला में उत्पन्न होने से कर्म और ज्ञान में निपुण है ।

श्लोकार्थ—बलदेवजी कितने ही वर्ष उस मिथिला में रहे, पश्चात् वहाँ समय पाकर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने उनसे गदा युद्ध की शिक्षा प्राप्त की, महात्मा जनक ने भी बड़े प्रेम से उनका आदर सत्कार किया ॥२६॥

सुबोधिनी—राजगृहे स्थितिव्यावृत्यर्थं **तस्यामिति**। कतिचित्समा इति वर्षत्रयं किञ्चिदधिकं वा। मर्यादानगरी सेति स्थितौ न कोऽप्युद्वेगः। तत्र तावत्काल स्थितौ परदेशवासादिक्लेशो भवेदित्याशङ्कयाह **विभुरिति**। स्थितेः प्रयोजनमाह **ततोऽशिक्षदिति**। धार्तराष्ट्रः पितुः पुत्रः समर्थः, दुर्योधनोऽपि भगवदिच्छया सुयोधनः, सुष्ठु योधनं यस्येति। दुर्योधनपदं यौगिकं मन्यमानः तन्निषेधार्थं विपरीतं प्रयुङ्क्ते। रूढं पदमिति लोके बोधयन्। अतो ज्ञानक्रियाशक्ती तस्य न पुष्टे इति बलभद्रात् गदामशिक्षत्। काले गदाशिक्षणयोग्ये समये। अत्यन्तं पुष्टस्तरुणः गदायां योग्यः। यस्मिन् काले प्रहारः शुष्को भवति, न पूयादिकं सम्पादयति, नाड्यश्च विशकलिता न भवन्ति, स शरदादिः षण्मासः। तस्मिन् काले गदामशिक्षत्। तस्यापि विदेशवासे उद्वेगाभावायाह **मानितः प्रीतियुक्तेनेति**। यतो जनकः जननात्, अत उत्कृष्टजन्मा, तं कुलीनं मर्यादावन्तमङ्गीकृतवान्। बलभद्रसम्बन्धादपि प्रीतिः। स्वभावतोऽपि महात्मा। य एव गृहमागतः, तमाराधयतीति। अतः प्रकारत्रयेण मानितः कायिकादिक्लेशाभावात् **अशिक्षत्**। शिक्षया गदां ज्ञातवानित्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी राजगृह में नहीं रहे यह बताने के लिये कहा है कि 'तस्यां मिथिलायां' उस मिथिला पुरी में रहे, रहने का समय बताते हुए कहते है कि कितने वर्ष अर्थात् तीन वर्ष वा इससे कुछ अधिक रहे, वह नगरी मर्यादायुक्त है इसलिये वहाँ रहने में किसी प्रकार उद्वेग नहीं हुआ, वहाँ इतना समय रहने से परदेश वास में जो क्लेश आदि होते हैं वे आपको भी हुवे होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं हुवे, क्योंकि आप 'विभुः है' अर्थात् सर्व-समर्थ हैं, इतना समय रहे जिसका प्रयोजन बताते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को गदा युद्ध की शिक्षा दी, धृतराष्ट्र पद कहने का भाव यह है कि दुर्योधन धृतराष्ट्र जसे पिता का पुत्र है जिससे जैसे वह समर्थ है तैसे पुत्र भी समर्थ है इसलिये ही 'सुयोधनः' विशेषण दिया है कि अच्छे प्रकार युद्ध कर सकता है अथवा दुर्योधन पद को यौगिक मानकर उसके तात्पर्य के निषेध के लिये विपरीत 'सुयोधन' दिया है श्लोक में बताते हैं कि यह रूढ़ पद है, अतः इसकी ज्ञान और क्रिया शक्ति दोनों पुष्ट नहीं थी, इसलिये बलभद्र से गदा युद्धा सीखी, जब वह गदा की शिक्षा के योग्य हुआ उस समय शिक्षा ग्रहणकी, गदा चलाने योग्य तब होता है जब वह अत्यन्त बलवान् एवं तरुण हो, जिसकाल में प्रहार शुष्क होता है उस समय पूय आदि को नहीं बनाता है तथा नाड़ियाँ भी टुकड़े टुकड़े अर्थात् टूट नहीं जाती है एव शिथिल भी नहीं होती है, इसलिये गदा सीखने का समय शरद ऋतु से छ मास होता है, उस समय ठडक होने से शरीर में फुर्ती रहती है पसीने आदि भी नहीं होते हैं, ऐसे योग्य समय में गदा की शिक्षा प्राप्त की, वह भी विदेश में रहता था, जिससे कोई उद्वेग नहीं था और जनक द्वारा प्रम पूर्वक सन्मानित हुवा था, क्योंकि जनक जन्म से ही उत्कृष्ट थे, उस कुलीन का मर्यादा वाला जानकर अङ्गीकार किया, बलभद्र के सम्बन्धी हैं इसलिये भी प्रेम किया, यों स्वतः आप स्वभाव से भी महात्मा हैं, जिससे जो भी गृह में आता है उसकी आराधना करते ही हैं, अतः तीन प्रकार से आदर पाया, जिससे कायादि क्लेश न होने से सीखे, शिक्षा से गदा युद्ध को जान लिया कि गदा से इस प्रकार युद्ध किया जाता है ॥२६॥

आभास—मर्यादारूपं भगवच्चरित्रमुक्त्वा, पुष्टिरूपमाह **केशव** इति ।

आभासार्थ—मर्यादारूप भगवान् का चरित्र कहकर 'केशवो' श्लोक में पुष्टिरूप चरित्र कहते है।

श्लोक—**केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।**
अप्राप्ति च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद्विभुः ॥२७॥

श्लोकार्थ—प्रिय का प्रिय करने वाले सर्वकरण समर्थ केशव ने द्वारका में आकर शतधन्वा का मरण और मणि का न मिलना, दोनों बातें कह सुनाई ॥२७॥

सुबोधिनी—उत्पादकनाशकयोः तुल्यप्रकारेण फलं प्रयच्छतीति पुष्टिस्थो भवति । द्वारकां रथेनागत्य सत्यभामादीनां सुखार्थं शतधन्वनो निधनम् । तदीयानां सुखार्थं च मणेरप्राप्तिमाह । ननु सर्वेश्वरः विधिकर इव किमिति स्वकृतं निरूपितवानित्याशङ्क्याह **प्रियायाः प्रियकृदिति** । एतदप्ययुक्तमिति चेत् । तत्राह **विभुरिति** । सर्वं कर्तुं समर्थः । नेतावता काचित् क्षतिरिति भावः । उभयमपि प्रियायाः प्रियार्थमुक्तवान् । कथं मण्यप्राप्तिः प्रियमित्याशङ्क्य, सामर्थ्यं वा उक्तम्॥२७॥

व्याख्यार्थ—पैदा करने वाले और नाश करने वाले, दोनों को फल समान देते हैं इसलिये कहा जाता है कि प्रभु 'पुष्टिस्थ' अर्थात् अनुग्रह करने में स्थित हैं, रथ से द्वारका में आकर सत्यभामा आदि के प्रसन्नतार्थ शतधन्वा का मरण सुनाया और तदीयों के सुख के लिये कहा कि मणि नहीं मिली, सर्वेश्वर ने आज्ञाकारी की भाँति अपना किया हुआ कार्य क्यों निरूपण किया? इस शङ्का को निवृत्ति के लिये कहते हैं कि यों कह देने का कारण यह है कि भगवान् अपनी प्रिया का प्रिय करने वाले हैं, यदि कहो कि यह भी योग्य नहीं, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'विभु' सर्व करने के लिये समर्थ हैं, यों करने से किसी प्रकार हानि नहीं, दोनों बात प्यारी के प्रिय हित करने के लिये कह दी है, मणि की प्राप्ति की बात प्रिय कैसे है ? यह शङ्का होती है, जिसका उत्तर है भगवान् सर्व समर्थ हैं इसलिये यह कार्य भी सत्यभामा के मन में प्रिय करवा दिया क्योंकि सत्यभामा समझ गई कि इसमें हम लोगों का हित ही है ॥२७॥

आभास—वैरानुबन्धः आमृत्योरिति शतधनुर्वधानन्तरं प्रीतायां सत्यभामायां पश्चात्कारयामास यत्कर्तव्यमित्याह **तत** इति ।

आभासार्थ—वैर का कार्य आयु पर्यन्त रहता है, मरने के बाद वैर नहीं, अतः शतधनु के मरने के अनन्तर सत्यभामा के प्रसन्न हो जाने के बाद, जो कर्त्तव्य करना चाहिये वह कराने लगे, वह 'ततः श्लोक में कहते है।

श्लोक—ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ।
साकं सुहृद्भिर्भगवान्या याः स्युः सांपरायिकाः ॥२८॥

श्लोकार्थ—उसके अनन्तर भगवान् कृष्ण ने बान्धवों[1] के साथ मिलकर मरे हुए बन्धु को जो-जो मृतक-क्रियाएँ करनी चाहिए, वे करवाई ॥२८॥

सुबोधिनी – **बन्धोः** श्वशुरस्य विप्रद्वारा कारणम् । **साकं सुहृद्भिरि**त्यादिलौकिककथनं परलोकेऽपि तस्य नालौकिकं किञ्चित्करोतीति ज्ञापयितुम् । **भगवानिति** तत्र महतो सम्भृतिः सूचिता । **सुहृद्भिरिति** । तत्करणे सर्वेषामावश्यकता च । **या याः स्युरिति** । विधौ आवश्यका अनावश्यकाश्च फलार्थाः सर्वा एव संगृहीताः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—श्वशुर, बन्धु की क्रिया ब्राह्मण द्वारा करानी है, बान्धवों[1] के साथ मिलकर कराई, इस लौकिक नीति के कहने का भावार्थ यह है कि इसका परलोक में भी भगवान् कुछ अलौकिक नहीं करते है, 'भगवान्' कहने से बड़ा ही पोषण हुआ ऐसी सूचना दी सुहृद्भिः' कहने से यह बताया है कि इस क्रिया के करने में सर्व की आवश्यकता होती है, जो जो विधि में आवश्यक अथवा अनावश्यक सब फल के अर्थ संग्रह किये हैं ॥२८।

आभास—ततो बलभद्रवाक्यान्मण्यन्वेषणार्थं प्रवृत्तः, लोकतोऽपि **अक्रूरकृतवर्मणोः** कृत्यमेतदिति ज्ञात्वा, यदैव लोकानुरोधेन तयोर्निग्रहः प्राप्तः, तदैव भगवदिच्छया तयोर्बुद्धिः पलायनपरा जातेत्याह **अक्रूर** इति ।

आभासार्थ—बलभद्रजी के कहने से मणि ढूंढने में प्रवृत्त हुए लोक से भी जाना, कि यह अक्रूर तथा कृतवर्मा का कृत्य है, जब ही लोक के आग्रह से उनका निग्रह करना प्राप्त हुआ, तब ही भगवदिच्छा से उनकी बुद्धि भाग जाने की हुई, जिसका वर्णन 'अक्रूरः कृतवर्मा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥२६॥

श्लोकार्थ—अक्रूर और कृतवर्मा शतधनु का वध सुनकर भय से त्रास को प्राप्त होने से कोई मिष कर द्वारका से निकल गए, क्यों डरे थे ? जिसके उत्तर में कहा है कि शतधन्वा के प्रेरक ये दोनों थे, इस कारण से डरे थे और द्वारका छोड़ गए ॥२६॥

१—मित्र, वे जिनका हृदय पवित्र प्रेम वाला है ऐसे बान्धवों

सुबोधिनी—शतधनोर्वधं श्रुत्वा स्वस्यापि तदन्तःपातित्वात् मणिमारणावेव प्रयोजकाविति भगवत्प्रयत्नात्पूर्वमेव भगवच्छक्तेर्विभक्तत्वात् भयावित्रस्तौ व्यूषतुः । मिषेण परदेशे निर्गतौ । तयोर्निर्गमनमात्रेणैव पलायनं सर्वजनीनं जातमिति तौ विशिनष्टि द्वारकायाः प्रयोजकाविति । एको लोकतः, अपरो वेदतश्चावेक्षकौ कोटिवारकधर्माध्यक्षौ । २६ ।

व्याख्यार्थ—शतधनु का वध सुनकर मणि का रखना और सत्राजित् का वधदोनों कार्यों में ये दोनों प्रयोजक थे जिससे ये भी अपने को उसके भीतर समझने लगे. अर्थात् अपने को दोषी समझने लगे अतः भय से डरे, मिष कर द्वारका से बाहर चले गये भगवान् के प्रयत्न से पहले ही, भगवान् की शक्ति का विभाग हो गया था, उन दोनों के निकल जाने मात्र से ही भागना सर्व जनीन हो गया अर्थात् सबको मालूम हो गया, इसलिये दोनों की बड़ाई करते हैं कि ये दोनों द्वारका के प्रयोजक हैं, एकलोक से दूसरा वेद से अवेक्षक हैं. जैसे कि एक कोटवाल था, दूसरा धर्माध्यक्ष है ॥२६॥

आभास—भगवानेवात्रार्थे निमित्तमिति साधनशक्तिः भगवतान्यत्र स्थापितेति प्रयोजकमणिबलभद्राणां दुष्टनिवारणसत्साधनसम्पादकानामाधिभौतिकादीनामन्यत्र गमने फलरूपस्यैव भगवतो विद्यमानत्वेऽपि सर्वेषां द्वारकावासिनां पीडा उत्पन्नेत्याह अक्रूरे प्रोषिते इति ।

आभासार्थ - भगवान् ने साधन शक्ति दूसरे स्थान पर भेज दी, इसलिये इस विषय में यहां भगवान् ही निमित्त हैं. प्रयोजक मणि बलभद्र और दुष्टों के निवारक सत्साधनों का सम्पादक आधिभौतिकादिकों का भी दूसरे स्थान पर जाने पर, यहां केवल फलरूप भगवान् के विद्यमान होते हुए भी सब द्वारकावासियों को पीड़ा उत्पन्न हो गई, जिसका वर्णन 'अक्रूरे प्रोषिते' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन्वै द्वारकौकसाम् ।
शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥३०॥

श्लोकार्थ—जब अक्रूरजी द्वारका छोड़ गए, तब द्वारकावासियों के अनिष्ट होने लगे जैसे कि शारीरिक, मानसिक, दैविक, भौतिक सर्व ताप बार-बार आने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—अक्रूरमात्रस्य प्रयोजकत्वं लोकसिद्धम् । सर्वो हि लोकः आधिभौतिक एव व्यवस्थितः । तत्रापि विद्यमानेषु साधनेषु तापदर्शनाल्लौकिकं कृतवर्माणं परित्यज्य धर्माध्यक्षमक्रूरमेव प्रयोजकं सर्वोऽपि मन्यते । द्वारकौकसां निश्चयेन सर्वेषां तापाः पीडाः शारीरा मानसाः व्याध्याधिरूपाः मुहुरासन् । आध्यात्मिका एते गणिताः । आधिभौतिका आधिदैविकाश्च पुनस्तापा अभवन् । इयं लौकिकी भाषेति नात्र कोऽपि विरोध शङ्कनीयः । सर्वमेवोत्तरार्धं न समाधिभाषेत्येके । मुहुरिति वारंवारम् । ज्ञानादिना प्रतीकारे कृतेऽपि पुनः पुनर्जायन्त इति । तेऽपि पुनः शरीरे मनस्येव च दुःखं जनयन्तीति तद्विशेषणत्वेनोक्ताः ॥३०॥

व्याख्यार्थ —इस अनिष्ट में केवल अक्रूरजी का ही प्रयोजकपन है यह लोक सिद्ध है, सर्वलोक आधिभौतिक व्यवस्था वाला ही हो गया है, उसमें भी साधनों के विद्यमान् होते हुए भी ताप हो रहे हैं, जिसमें लौकिक कृतवर्मा को प्रयोजक न मान धर्माध्यक्ष अक्रूर को ही सब जन का प्रयोजक मान लिया सर्व द्वारकावासियों को सर्व प्रकार की शारीरिक, मानसिक, (व्याधि एवं आधिरूप) पीड़ा बार-बार होने लगी, ये आध्यात्मिक गिने गये, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ताप फिर होने लगे, यह भाषा लौकिकी है इसमें किसी प्रकार विरोध की शङ्का न करनी चाहिये, कारण कि उत्तरार्ध में जो लीला की है, वह लोक धर्म को सामने रखकर की है, अर्थात् लोकानुसार की है, इसलिये लौकिकी भाषा है, कोई कहते हैं कि समग्र उत्तरार्ध[1] लौकिकी भाषा नहीं है, ये दुःख, ज्ञान आदि से इनका उपाय करने पर भी फिर फिर उत्पन्न हो जाते हैं, वे भी फिर शरीर में और मन में ही दुःख पैदा करते है, इसलिये वह विशेषणत्व से कहे हैं ॥३०॥

आभास—पूर्ववत्पुनर्लोके विपरीततया कीर्तिर्जातेत्याह इत्यङ्गेति ।

आभासार्थ—आगे की भाँति फिर लोक में विपरीतता से यश होने लगा, जिसका वर्णन 'इत्यङ्गोप' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ॥३०½॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! कई लोक पहले कहे हुए को भूलकर यों स्तुति करते हैं ॥३०½॥

सुबोधिनी—यो हि मणिं गृहीत्वा पलायते, तं स्तौति लोकः । यो न गृह्णाति निर्लेपः, तं निन्दतीति लोकः । अतो निन्दां पूर्वाध्याये निरूप्य, स्तुतिमत्र निरूपयति । इति एवं जाते । अङ्ग हे राजन् । एके अभिज्ञाभिमानिनः परमार्थदर्शिनोऽपि प्रागुदाहृतं भगवतो वीर्यविभागं मणिसामर्थ्यं वा विस्मृत्य स्वयं भ्रान्ताः सन्तः एकदेशे पर्यवसितमतयः अन्यानुपदिशन्ति । उभयत्रापि भगवदिच्छा प्रयोजिका, विस्मरणे उपदेशेऽपि ।३०½।

व्याख्यार्थ—जो मणि लेकर भाग जाता है, उसकी लोक प्रशंसा करते हैं–जो नहीं लेता है और निर्लेप है, उसकी निन्दा करते हैं, अतः पूर्व के अध्याय में निन्दा का निरूपण कर, यहां स्तुति का निरूपण करते हैं, यों इस प्रकार होने पर हे अङ्ग! हे राजन्! कोई हम जानकार हैं, ऐसे अभिमानी, परमार्थदर्शी होते हुए भी पहले कहे हुए भगवान् के वीर्य (पराक्रम) विभाग को अथवा मणि सामर्थ्य को भूलकर आप भ्रान्त होने से एक देश में ही जिनकी बुद्धि रह गई है ऐसे, दूसरों को उपदेश देते हैं, दोनों में भगवान् की इच्छा ही विस्मरण और उपदेश दोनों में लगाने वाली है ॥३१½॥

———

१—स्वरूप से लौकिकता की लीला जहाँ जहाँ है, उतनी ही लौकिकी भाषा है, यों किन्हीं का मत है ।

आभास—तेषामुपदेशमाह मुनिवासेति सार्धाभ्याम् ।

आभासार्थ—उनका उपदेश 'मुनिवास' श्लोक से २½ श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ।।३१।।

देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै ।
स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात्ततोऽवर्षत्स्म काशिषु ।।३२।।

तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरे यत्र यत्र ह ।
देवोऽभिवर्षते तत्र नोपपाता न मारिकाः ।।३३।।

श्लोकार्थ—मुनि का जहाँ वास है, ऐसे गृह के स्थित होते हुए नगर में क्या अनिष्ट हो सकता है ? नहीं हो सकता है, एक समय काशी के प्रदेशों में वर्षा न हुई, तब वहाँ श्वफल्क आ गया था, उसको काशीराज ने अपनी गान्दिनी नामवाली कन्या दी थी, तब उन प्रदेशों में वर्षा हुई, यह अक्रूर उसका पुत्र है, अतः इसका भी वैसा ही प्रभाव है, जिससे जहाँ-जहाँ यह जाता है, वहाँ-वहाँ वर्षा होती है तथा न उपद्रव होते हैं और न पूतना आदि नाशकारी शक्तियाँ आ सकती हैं ।।३१-३२-३३।।

सुबोधिनी—मुनिरयमक्रूरः, तस्य वासरूपे निवासे स्थितो, गृहं कृत्वा चिदभिमानेन मुनिस्तिष्ठतीत्यर्थः । तत्र अरिष्टदर्शनं न घटेत । तस्य मुनित्वमुपपादयन्ति देवऽवर्षतीति पूर्वं काशिराजः अवर्षति देवे अनावृष्ट्या पीड़ितः श्वफल्काय प्रसङ्गादेवागताय स्वसुतां महादेवादिवाक्यात् गान्दिनीं प्रादात् । ततः काशिषु काशीप्रदेशेषु देवो वर्षति स्म । स्मेति प्रसिद्धे । अवर्षदिति । किमतो यद्येवम्, तत्राह तत्सुत इति । वर्षपर्यन्तं प्रत्यहं गोदाने क्रियमाणे अपुत्रस्य काशिराजस्य कन्या सञ्जाता । ततो द्वादशवर्षपर्यन्तं पुनरेकैकां गां तस्या हस्ते दापितवान् । तादृशी गान्दिनी । तस्याः सुतः । श्वफल्कसुतो वा । तयोर्यावान् प्रभावः, तावत्प्रभावयुक्तो भवितुमर्हति । असाविति । तथैव दृश्यते । आविर्भूतो वा । तत्राधिकभक्तो भगवांस्तद्रूपेण भासत इति न काप्यनुपपत्तिः । यत्र यत्राक्रूरः अर्थात्तिष्ठतीति पूर्वोक्तन्यायेन तत्र देवोभिवर्षत इति पितृसामर्थ्यसम्बन्धः । नोपपाता इति मातृसामर्थ्यम् । भक्त्या उलब्धत्वात् तस्याः साधारणोऽपि प्रभावः अतिरिक्तः, तमाह न मारिका इति । तामस्यः पूतनादिशक्तयो मारिकाः । सात्त्विके भगवद्भक्ते न सन्निहिता भवन्तीति युक्तमेव । उपपाताः पातकान्युत्पाता वा । गोदानस्य तथा प्रभावो निरूपित इति । हेत्याश्चर्ये । प्रभावोऽपि कथं कार्ये सञ्जात इति, तत्राप्युभयोः, ततोऽपि विशिष्टश्चेति ।।३३।।

व्याख्यार्थ - यह अक्रूर मुनि है, उसकी जहाँ स्थिति होती है कहने का यह तात्पर्य है, कि मुनि

चित्-अभिमान से गृह कर रहता है, वहाँ अनिष्ट का दर्शन होना बन नहीं सकता है, उसका मुनिपन सिद्ध करते हैं. पहले, इन्द्र देव के न बरसने पर अनावृष्टि से पीड़ित काशी के राजा ने महादेवादि देवों के कहने से प्रसङ्ग से आये हुए श्वफल्क को अपनी गान्दिनी नाम कन्या दी इस प्रकार कन्या देने से काशी तथा उसके प्रदेशों में सर्वत्र इन्द्र वर्षा करने लगे थे, यह प्रसिद्ध है, जो यों है तो उसके कहने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि यह उसका पुत्र है, काशिराज को पुत्र नहीं था तब उसने साल भर नित्य गोदान किया, जिससे उसको यह कन्या जन्मी, अनन्तर बारह वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन एक एक गौ उसके हाथ से दान करवाई, वैसी यह गान्दिनी थी, उसका यह पुत्र है. अथवा श्वफल्क का पुत्र है; उन दोनों का जितना प्रभाव है, उतने प्रभाव वाला, यह भी होने योग्य है अर्थात् इसमें भी उतना ही प्रभाव देखने में आता है अथवा इसमें उतने प्रभाव का आविर्भाव हुआ है, वहां विशेष भक्ति होने पर भगवान् उस रूप से प्रकाशमान हैं, इसलिये किसी प्रकार भी अनुपपत्ति नहीं है, अर्थात् जहां जहां अक्रूर रहता है वहां वहां इन्द्र पहले कहे हुए न्याय से बर्षा करता है, यों पिता के सामर्थ्य का सम्बन्ध कहा है अब माता के सम्बन्ध का सामर्थ्य बताते हैं कि, जहां अक्रूर रहता है वहाँ उत्पात आदि ताप भी नहीं होते है, भक्ति की उपलब्धि वाला है जिससे इन प्रभावों के अतिरिक्त अन्य असाधारण प्रभाव भी है, मारने वाला तामसी पूतनादि शक्तियाँ भी वहाँ नहीं आ सकती हैं ये तामसी पूतना आदि शक्तियाँ जहाँ सात्विक भगवद्भक्त विद्यमान है, उसके निकट भी नहीं आ सकती है, यह कहना योग्य ही है उपापता का तात्पर्य है, पातक अथवा उत्पातों का होना, यह सब प्रभाव गोदान का वर्णन किया है, गोदान का ऐसा आश्चर्य प्रकट करने वाला प्रभाव दिखाने के लिये 'ह' पददिया है, प्रभाव भी कार्य में कैसे परिणत हुआ ? वहां भी दोनों का[1] और उससे भी विशिष्ट[2] हुआ ॥३३॥

आभास—ननु विद्यमाने भगवति अन्योत्कर्षवचनानि भ्रान्तानीति चेत्, तत्राह इति वृद्धवचः श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—जब भगवान् विद्यमान हैं तब दूसरे के उत्कर्ष वचन भ्रान्त है यदि यों कहो तो उसका उत्तर 'इति वृद्धवचः' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।**
इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—यों वृद्धों के वचन सुनकर भगवान् ने तो समझ लिया था कि इतना ही कारण नहीं है, अतः भगवान् ने अक्रूर को बुलाकर कहा ॥३४॥

सुबोधिनी—वृद्धा आदरणीयाः यथोपश्रुतिः पूर्वं पश्चाद्भगवता श्रुता, तथेदमपि श्रुत्वा तद्दोषनिराकरणार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः। तत्र लोका अर्धं भ्रान्ता बलभद्रं मणिं च कारणत्वेन न

१—पिता और माता का, २—भक्ति सम्बन्ध से,

जानन्तीति, भगवान् पुनः विमृश्यकारी तथैव कृतवानित्यङ्गीकारे दोषः स्यादिति, पूर्णमेव कारणं मत्वा समाधानं कृतवानिति वक्तुमाह नैतावदिह कारणमिति । इह आध्यात्मिकादितापेषु एतावदेव न कारणम्, किन्तु अन्यदप्यस्तीति तदनुक्त्वा इति निश्चित्य, सम्यक् चिन्तयित्वा दूतैः अक्रूरं समानाय्य, अमारणार्थमभयं दत्त्वा, जनार्दनो लोकानामविद्यादिसर्वदुःखनाशकः मणिं प्रकटयितुं तमाहेति सम्बन्धः । स ह्यक्रूरः काशिषु प्रयागे च मरणं निश्चित्य तीर्थमाश्रित्य स्थितः । यदि भगवान् शतधन्वानमिव मारयिष्यति, तदात्रैव प्रयागादौ मारयत्विति परलोकप्रेप्सुः । भगवांश्च क्लिष्टं न करोतीति. मणिमन्यथापि दास्यतीति, तथापि सत्यभामाप्रतिनिधित्वेन अक्रूरायैव मणिर्देय इति भगवान्निश्चित्य मौशलेनैव तं मारयितुं तथा कृतवान् । नह्यस्मत्स्वामी जीवैर्निश्चिते ज्ञाते वा प्राकृत इव तन्मन्युं गृह्णाति । सात्यकिरिव प्रायोपविष्टं मारयति । तक्षक इव वा भक्षयति । मृत्युरिव वा हन्ति । तस्मादक्लिष्टकर्मा भगवान् समाहूयैव प्राह ।।३४।।

व्याख्यार्थ—पहले वृद्धों का आदर करना चाहिये, जैसे भी उन्होंने कहा वह अङ्गीकार करना चाहिये, पश्चात् भगवान् से सुना, वैसे यह भगवद्वचन भी सुनकर उस दोष का निराकरण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, भगवद्वचनों से ज्ञात होता है कि लोक आधे भूले हुए हैं अर्थात् उनको सम्पूर्ण विषय का ज्ञान नहीं है जिससे अक्रूर यहाँ से चला गया जिसका कारण मणि और बलभद्र हैं, यह नहीं जानते है, भगवान् तो विचारशील हैं, अतः जैसे उसका योग्य उपाय समझा वैसे ही करने लगे । अक्रूर को बुलाने में, लोक दोष देखेंगे, किन्तु भगवान् ने पूर्ण ही कारण समझ समाधान किया है कि केवल जितना वृद्ध लोक कहते हैं इतना ही कारण नहीं है, दूसरा असाधारण कारण भी है, जिससे यहां आध्यात्मिक आदि ताप भी होते हैं, उनको प्रकट न कर अच्छे प्रकार से निश्चय कर, पूरी तरह से विचार कर, दूतों के द्वारा अक्रूर को बुलाकर, उसको न मारने का अभय दान दिया कि तुझे मारा नहीं जायेगा । भगवान् के लोकों की अविद्या आदि समस्त दुःखों के नाश करने वाले होने से, 'जनार्दन कहे जाते हैं, इसलिये यहा जनार्दन नाम देकर यह सूचित किया है कि अक्रूर की अक्रूर-अविद्या का नाश कर, पश्चात् मणि प्रकट करने के लिये उसको कहने लगे, वह अक्रूर तो काशी अथवा प्रयाग में मरण का निश्चय कर तीर्थों का आश्रय ले वहाँ स्थित हुआ था जो भगवान् मुझे शतधन्वा की भाँति मारेंगे तो यहाँ ही प्रयागादि तीर्थों पर मारे, जिससे परलोक में हित हो यह ही वह चाहता था, भगवान् तो क्लेश युक्त कर्म नहीं करते हैं मणि तो मारने के सिवाय भी देंगे, तो भी सत्यभामा के प्रतिनिधित्व से अक्रूर को ही मणि देनी चाहिये यों भगवान् निश्चय कर, मौशल से ही उसको मारने वास्ते यों किया, हमारे स्वामी जीवों से निश्चिय ज्ञात होने पर भी, प्राकृत की भाँति उसका शोक ग्रहण नहीं करते हैं; अर्थात् उसको क्लेश नहीं देते हैं सात्यकि की तरह मरने के लिये अनशन करने वाले को, नहीं मारते हैं, अथवा तक्षक की भाँति खाकर नहीं मारते हैं और काल की तरह भी नहीं मारते हैं, इस कारण से जो भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, उन भगवान् ने अक्रूर को बुलाकर ही कहा ।।३४।।

श्लोक—पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ।
विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह ।।३५।।

श्लोकार्थ—अक्रूर का पूजन कर, वाणी से स्वागत कर, प्रिय कथाएँ कह कर, सबके चित्त की बातों को जानने वाले भगवान् मुस्कराते हुए कहने लगे ।।३५।।

सुबोधिनी – किञ्च। **पूजयित्वा** पितृव्यत्वेन। **अभिभाष्य** साधु समागतोऽसीति कुशलप्रश्नं कृत्वा। ततो यथा मनः परितुष्टं भवति, तथा प्रियाः कथाश्चोक्त्वा शरीरेन्द्रियान्तःकरणानां त्रिविधसत्कारेण सुखं दत्वा। याचिते प्रदर्शयिष्यतीति निश्चित्य। तत्र हेतुमाह **विज्ञाताखिलचित्तज्ञ** इति। एतज्ज्ञानमेवाक्रूरस्य प्रदर्शनाद्यङ्गीकारे हेतुरिति तन्निरूपितम्। भक्तो भूत्वा पूर्वं मार्गपांसुष्वपि विलुठन् इदानीं सङ्गवशादेवं जात इति **स्मयमानः**। हेत्याश्चर्ये। यस्माद्यो बिभेति, यो वा दण्ड्यः, स प्रसादपात्रमिव परिभाष्यत इति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अक्रूरजी के देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणों का त्रिविध सत्कार किया, जैसे कि प्रथम पितृव्य (चाचा) होने के कारण पूजन किया, जिससे देह का सत्कार हुआ, पश्चात्, आप भले पधारे आदि शब्दों द्वारा कुशल प्रश्नों से इन्द्रियों का आदर किया अन्त में आदर से अन्तः-करण को प्रसन्न करने के लिये प्रिय कथाएँ सुनाई इस प्रकार तीन तरह से देह, इन्द्रियां और अन्तः करण को सुख देकर, विचार किया कि मणि तो इसके पास है, किन्तु मांगने से ही दिखाएगा, यह निश्चय किया यों निश्चय करने का कारण बताते हैं कि, समस्तों के चित्त के भावों को जानने वाले हैं, जिससे जान लिया कि अक्रूर जी सोच रहे हैं कि भगवान् जब याचना करेंगे तब दिखाऊँगा अक्रूर का यह ज्ञान ही दिखलाने के स्वीकार में हेतु है इसलिये यह निरूपण किया है, भगवान् उस समय मुस्काराने लगे, क्योंकि भगवान् के विचार में आया कि जो मेरा भक्त होकर मेरे चरणों की धूलि में लेटा था वह ऐसा केवल कुसङ्ग के वश से हुआ है यह आश्चर्य का विषय है, 'ह' शब्द देने का यह भाव है, जिससे जो डरता है अथवा जो दण्ड के योग्य है, वह कृपापात्र की भाँति बोला जाता है ॥३५॥

आभास— भगवद्वाक्यमाह **ननु दानपते** इति चतुर्भिः।

आभासार्थ— 'ननुदानपते' श्लोक से भगवद्वाक्य कहते हैं।

श्लोक—**ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना।**
स्यमन्तको मणिः श्रीमान्विदितः पूर्वमेव नः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे दानपति! सदैव शोभावाली स्यमन्तक मणि शतधन्वा ने निश्चय है कि तुम्हारे पास धरी है,' यह हमें पहले से ही मालूम है ॥३६॥

सुबोधिनी—दानपतिर्दानाध्यक्षः सर्वधर्मसूक्ष्मज्ञः। अनेन गोपनमनङ्गीकारोऽन्यथा वदनं च व्यावर्तितम्। **न्यस्तः** त्वयि स्थापितः। **आस्ते**ऽद्यापि तव स्थाने। शतधन्वनैव, न तु तदीयैः। **स्यमन्तको** मणिः प्रसिद्धः। तस्य नाशादिकं न सम्भवतीत्याह **श्रीमा**निति। सर्वदा श्रीमत्वात् नापद्रूपं नाशादिकं प्राप्नोति। पूर्वोक्तार्थेषु प्रमाणमाह **विदित** इति। इदानीं वेदकं भ्रान्तं भविष्यतीति तन्निवारणार्थमाह। **पूर्वमेव नो**ऽस्माभिः **विदित** इति ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अक्रूर के मुख में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा, जिससे जान लिया कि अक्रूर यह बात स्वीकार करेगा कि मणि मेरे पास है, क्योंकि वह सर्व धर्म की सूक्ष्मता को

जानता है, इसलिये ही दानाध्यक्ष रहा है, यों मुख की आकृति और कार्य से निश्चय कर अक्रूर को कहने लगे, मणि आपके पास धरो है, यह आज तक भी आपके स्थान में रखो है कहीं गई नहीं है, वह शतधन्वा ने ही दी है न कि उसके सम्बन्धियों ने दी है, स्यमन्तक मणि प्रसिद्ध है, उसका नाश आदि होता हो नहीं है, कारण कि वह 'श्रीमान्' है, जिससे वह सदैव श्री वाली होने से, आपद्रूप नाश को प्राप्त नहीं होती है ये जो अर्थ कहे हैं उसमें प्रमाण देते है कि 'विदितः' सब कोई इस बात को जानते हैं कि यह मणि ऐसी है, अब जानी हुई बात भूली हुई वा झूठी होगी, इसके निवारण के लिये कहते हैं कि, पहले हमने ही जाना है ॥३६॥

आभास—तर्हि तदैव कथं न याचित इति चेत्, तत्राह **सत्राजितोऽनपत्यत्वादिति।**

आभासार्थ—जब आपको मालूम था तो उस समय ही क्यों न मांग ली, यदि यों कहें तो, उसका उत्तर 'सत्राजितोऽनपत्यत्वा' श्लोक में देते हैं।

श्लोक — **सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।**
दायं निनीयापः पिण्डान्विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—सत्राजित् के पुत्र नहीं है, इसलिए उसकी मृतक क्रिया पिण्ड आदि कर और जो उसको देना रह गया हो, वह देकर शेष बचा हुआ धन आदि वह बेटी का पुत्र लेवे, यह शास्त्र नियम है ॥३७॥

सुबोधिनी—याचनमधिकारिणो भवति। यः पिण्डदः स रिक्थहारीति। तत्रैतावत्कालं सत्यभामाया नापत्यान्युत्पन्नानि। स त्वनपत्यः अभ्राता च। मणिस्तु तस्य। तं पुनः दुहितुः सुताः गृह्णीयुः। तत्र साधारणं न्यायमाह **दायं निनीयेति**। अन्यथैतदपि स्वेच्छेति स्यात्। **दायं** धन गृह्णीयुरिति पूर्वेणैव सम्बन्धः। आमरणं तस्यैव धनम्। मरणानन्तरमपि पुत्राद्यभावे अपः पिण्डान् निनीय ऋणं च विमुच्य **शेषितमवशिष्टम्**। शेषभागिति पाठे यो निनीय भवति, स शेषभागभवतीति। निःस्वामिकं तु द्रव्यं राजगामि भवति। चोरं हत्वापि यो वस्तुनो न भागो, स न द्रव्यं प्राप्नोति परिज्ञातम्। उत्पन्न एव दायभागभवतीति न व्यवहितज्ञातेः दायभाक्त्वमिति केचित्। दायं वा साक्षात्स्वामिनि गते तत्स्वामिनमन्वेषमाणं परम्परया शाखामूलपर्यन्तं गत्वा तुल्यतया तच्छाखासु निविशति। यं कश्चिद्वा सर्वानुमत्या पिण्डदातारम्। एवं श्लोकद्वयेन भेदो दण्डश्च उक्तः। भेदावेव वा ॥३७॥

व्याख्यार्थ—अधिकारी ही याचना कर सकता है, जो पिण्ड देने वाला है, वह 'दाय' भाग लेने वाला होता है इतने समय तक सत्यभामा के सन्तान पैदा नहीं हुई थी और वह तो अपुत्र तथा उसका कोई भाई भी नहीं है, मणि तो उसकी[1] थी, उस मणि के लेने के हकदार कन्या के पुत्र हैं वे लेवे,

---

१—सत्राजित की।

इस विषय में साधारण नियम वा न्याय कहते हैं कि 'दायं निनीय' धर्म शास्त्र में कहा है, यदि यों न्याय न होवे तो यह कार्य भी स्वतन्त्र हो जावे, कोई नीति या मर्यादा न रहे. मातामह का धन कन्या के पुत्र लेवें. यह पूर्व से सम्बन्ध है, जब तक जीता है तब तक उसका हो है, मरने के बाद भी पुत्र न हो तो जल तर्पण पिण्ड आदि मृतक क्रिया कर और उसको जो देना हो वह सब देकर शेष बचे हुए धन को दौहित्र लेवे, किसो पुस्तक की प्रति में 'शेषभाक्' पाठ है जिसका आशय है कि वारस बनता है,धन लेता है. वह लेता है, वह उपरोक्त कार्य करने के बाद शेष धन ले लेवे न कि धन लेकर उसकी क्रिया न करे और न उसका ऋण उतारे.केवल द्रव्य ले लेवे.इस प्रकार शास्त्राज्ञा नहीं है। जिसके धन का कोई मालिक नहीं बनता है उसका मालिक राजा है, चोर को मारकर जो वस्तु मिले उसका भी मारने वाला सच्चा भागी नहीं है. वह द्रव्य नहीं ले सकता है, जो उत्पन्न हुवा है वह ही वारिस हो सकता है। जिसमें कुछ फरक पड़ गया है वैसी ज्ञातिवाला दायभागी नहीं होता है यों कोई कहते हैं। वास्तव में दाय (वारिस) कौन होता है ? इसका निर्णय करते हैं द्रव्य का स्वामी जब परलोक गामी होवे, उस स्वामी के परम्परा से मूल शाखा पर्यन्त जाकर जांच की जावे कि उसकी शाखा में निकट कौन है जो समीप हो वह 'दाय' भागी होना चाहिये अथवा जो कोई भी सर्व की अनुमति से पिण्ड दान करे वह दायभागी हो सकता है, इस प्रकार दो श्लोकों से भेद और दण्ड कहा अथवा दो प्रकार दाय के बताये ॥३७॥

आभास—सामदाने आह **तथापीति द्वाभ्याम्।**

आभासार्थ—'तथापि' श्लोक से दो श्लोकों में 'सामदान' कहते हैं।

श्लोक—**तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ।**
किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥३८॥

श्लोकार्थ—तो भी यह मणि अपने पास ही रहने दो; क्योंकि यह अन्यों के पास रहे, ऐसी नहीं है; किन्तु आपके पास रह सकेगी, कारण कि आप सुन्दर व्रत धारण करने वाले हैं, परन्तु बड़े भाई बलरामजी को इस मणि के विषय में हमारा विश्वास नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्यैर्दुर्धरोऽयमिति त्वय्येवास्ताम्। स हि लौकिके अलौकिको न तिष्ठति। य एव कर्मादिमार्गे: अप्रवृत्तो: लौकिकत्व न सम्पद्यते। अप्रवृत्तकर्मा लौकिको भवतीति कादाचित्कव्रतोऽपि समयभेदेन लौकिक एव। तर्हि मयि कथं तिष्ठेदित्याशङ्क्याह **सुव्रत** इति। सुष्ठु व्रत यस्य। त्वं हि सर्वदा नियतव्रतः। एवं दानमुक्त्वा सामाह **किन्त्विति**। परमेकदा दर्शयस्व। साम हि समता, उभयोरैक्यम्। तथा सति यथा स्वकार्ये मणेर्विनियोगः,एवमस्मत्कार्येऽपि विनियोगो युक्त इति। अप्रदर्शनपक्षे **अग्रजो** बलभद्रः **मणिं प्रति** मणिविषये **मां न सम्यक् प्रत्येति**, किन्तु सकपटं मन्यते ॥३८॥

व्याख्यार्थ—यह मणि दूसरे अपने पास रख नहीं सकते हैं, इसलिये यह आप के ही पास भले हो, क्योंकि लौकिक मे, अलौकिक ठहर नहीं सकता है, जो अलौकिक, अपवृत कर्म आदि मार्गों से लौकिकपन को प्राप्त नहीं होता है, अपवृत्त कर्म वाला लौकिक होता है, (परन्तु) कभी कभी व्रत करने वाला भी समय भेद से लौकिक ही हो जाता है, जब यों है तो मेरे पास कैसे रह सकेगी इस शङ्का को निवृत्त करने के लिये कहते हैं कि आप सर्वत्र नियम पूर्वक व्रत करते हो, इस प्रकार इसके व्रत कहने से दान का वर्णन कर अब साम का वर्णन करते हैं, साम का तात्पर्य है कि समता से कार्य को सिद्ध होती है इससे समता द्वारा अक्रूरजी को कहने लगे कि आपके पास पड़ी रहे, किन्तु एक बार ही दिखा दो, समता करने से दोनों में एकता बढ़ती है, एकता होने पर, जैसे आपके कार्य में मणि का उपयोग होता है, वैसे हमारे कार्य में भी उसका उपयोग होता रहेगा जो योग्य ही है, यदि आप न दिखाते है,तो मेरे बड़े भ्राता श्री दाऊजी मणि के विषय में मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते हैं, किन्तु समझते हैं कि, मणि श्रीकृष्ण के पास है मुझ से छिपाता है, अतः एक बार मणि दिखाओ ॥३८॥

आभास—अतो यथा जाम्बवता अपकीर्तिनिराकरणार्थं मणिर्दत्तः, एवं त्वयापि प्रदर्शनीय इत्याह **दर्शयस्वेति** ।

आभासार्थ - अतः जैसे जाम्बवान् ने अपयश मिटाने के लिये मणि दी, वैसे आपको भी मणि दिखानी चाहिये–यह 'दर्शयस्व' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।**
अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग ! मणि को दिखा दो, जिससे बान्धवों में शान्ति बना रखो, अब आपके सुवर्ण की वेदी पर अखण्ड यज्ञ हो रहे हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—महाभागेति भाग्ये विद्यमाने मणिर्न गच्छतीति। अस्मद्विश्वासाभावेऽपि भाग्य-विश्वासो वा कर्तव्य इति भावः । अनेनान्योऽप्युपकारो भविष्यतीत्याह **बन्धूनां शान्तिमावहेति** । बन्धुषु मध्ये कलह उत्पन्नः । केचिन्मत्सङ्घट्टिनः, अपरे रामस्येति । प्रदर्शने तु सन्देहाभावात् न कलहः । अव्युच्छिन्नेत्यर्धं विगीतमाहुः । मणिरस्तीत्यत्र लौकिकं प्रमाणम् । काश्यादिषु रुक्मवेदयः सुवर्णेष्टकानिर्मिताग्निसहिताः **मखाः** द्वादशाहादयः अव्युच्छिन्ना निरन्तरं प्रवृत्ताः यतस्ते वर्तन्त इति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—आप बड़े भाग्य वाले हैं, जिससे मणि अन्यत्र जा नहीं सकती है, हम पर यदि विश्वास न आता है तो भाग्य पर तो विश्वास करो, महाभाग विशेषण देने का यह ही भाव है, मणि के दिखाने से दूसरा भी उपकार होगा, जैसे कि अब हम बान्धवों में मणि के कारण कलह उत्पन्न हो गया है, वह शान्त हो जायेगा, कितने मेरे पक्ष पाती हैं और कई बलराम जी का पक्ष ले बैठे हैं, मणि देखने पर वह सन्देह मिट जायेगा, तो कलह भी न रहेगा, मणि आपके पास है ही, इसमें

लौकिक प्रमाण है. वह प्रमाण यह है कि इस समय सुवर्ण की ईटों से निर्मित वेदियों पर साग्निक द्वादशाहादियज्ञ निरन्तर[1] चल रहे है, यदि आपके पास मणि न होती तो ऐसे यज्ञ आप नहीं करा सकते ।।३९।।

आभास—एकेनाप्युपायेन स इष्टं कुर्यात्, किमुत चतुर्भिरिति स भगवदुक्तं कृतवानित्याह **एवं सामभिरिति** ।

आभासार्थ- एक ही उपाय से जब वह अपना कार्य सिद्ध कर देवे तो चार उपायों को काम में क्यो लिया 'एवं सामभिः' श्लोक से कहते हैं कि अक्रूर ने भगवान् ने जैसे कहा वैसे किया ।

श्लोक—**एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।**
आदाय वाससा च्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार अक्रूरजी को साम वचनों से समझाया, तब श्वफल्क के पुत्र सूर्य के समान प्रभाववाली मणि को वस्त्र से लपेट कर ले आए और भगवान् को दी ।।४०।।

सुबोधिनी – सामशब्देन भेददण्डदानान्यपि संगृह्यन्ते। पर्यवसितं सामैवेति तदेवोक्तम् । **आलब्धः** स्पृष्टः मारित इव लज्जितः वशीकृतश्च । **श्वफल्कतनयो** महतः पुत्रः। भगवते वाससा च्छन्नं सूर्यसमप्रभं ददौ । **आदायेत्यनेन** अन्यतो ग्रहणं लक्ष्यते । अर्थात् कृतवर्मणः स्थाने तत् स्थितमिति लक्ष्यते। प्रत्यक्षदाने लज्जा भवतीति वाससा च्छन्नं ददौ । तथैव स्थापितमिति ज्ञापयितुम् । अन्यथा तज्जनितं सुवर्णमपि निवेदनीयं स्यात् । तेन प्रदर्शनार्थं न दत्तम्, किन्तु सर्वथैव दत्तमिति दानप्रकारादवसीयते । **सूर्यसमप्रभमिति** दाने दातुर्ग्रहीतुश्च प्रत्यक्षतो दर्शनमपि न भवेदिति सूचितम् । अनुपहतशक्ति वा ।।४०।।

व्याख्यार्थ—यहाँ 'सामभिः' बहुवचन से भेद दण्ड, दान का भी ग्रहण किया जाता है, किन्तु साम से ही कार्य हो गया हैं जिससे वह ही कहा है-'आलब्ध' पद का भावार्थ कहते हैं कि साम के शब्दों ने जब हृदय का स्पर्श किया तब अक्रूर मरे की तरह लज्जित हुआ और वश में हो गया, अक्रूर साम से ही ऐसा क्यों हुआ ? इस पर कहते हैं कि महान् श्वफल्क का पुत्र है, जिससे एक कथन से समझ गये, वस्त्र से आच्छादित, सूर्य के समान प्रभावाली मणि भगवान् को दी, 'आदाय' पद से जाना जाता है अन्य स्थान से लाया है, अर्थात् कृतवर्मा के घर यह मणि रखो थी, वहाँ से ले आया, यों समझ में आता है, प्रत्यक्ष[2] देने में लज्जा आती थो इसलिये कपड़े में लपेट कर दी,

---

१—लगातार-सिलसिले से,

२—खोलकर

उसी तरह रखी थी यह जताने के लिये भी, यदि वस्त्र से आच्छादित मणि न दे तो उससे प्राप्त किया हुआ सुवर्ण भी देना पड़े, इससे दिखाने के लिये तो नहीं दिया, परन्तु सर्वथा ही सर्व दिया यह दान के प्रकार से जाना जाता है, मणि की प्रभा सूर्य के समान थी, यदि खुली मणि देता तो दान करने वाले और लेने वाले के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते वे न हो दान गुप्त हो इसलिये वस्त्र से लपेट कर दी यह भी आशय था, अथवा अनुपहृत शक्ति को ॥४०॥

आभास—भगवांस्तु प्रतिदानार्थमेव गृहीतवानिति कार्यं कृत्वा तस्मै दत्तवानित्याह **स्यमन्तकमिति ।**

आभासार्थ—भगवान् ने तो फिर लौटाकर देने के लिये ली थी इसलिये कार्य पूराकर उसको दे दी, यह 'स्यमन्तक' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।
विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयद्विभुः ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने ज्ञाति बान्धवों को मणि दिखलाकर अपना कलङ्क मिटाया, पश्चात् उसको लौटा दी ॥४१॥

सुबोधिनी—ज्ञातिभ्यो गोत्रजेभ्यो विवदमानेभ्यः । **आत्मनो रजो**ऽपकीर्ति **विमृज्य** मार्जयित्वा॥ अनेनाग्रिमकार्ये लेपदानाविव पूर्वरङ्गः कृत इति लक्ष्यते । भगवति दोषारोपाभावे हि सर्वे उद्धर्तुं शक्या इति । अतः स्वकार्यं कृत्वा तस्मै प्रत्यर्पयत् । भूय इत्यनेन पूर्वमपि सत्यभामास्थानीयं मणिं दत्तवानिति लक्ष्यते । विभुः समर्थः । तस्मै दत्त्वापि तं दण्डयितुमिति । अपेक्षाभावाद्वा॥४१॥

व्याख्यार्थ—निन्दा करने वाले गोत्र वालों को तथा ज्ञाति वालों को मणि दिखाकर, अपनी अपकीर्ति मिटाई इससे आगे के कार्य में भोजन तथा दान की भाँति पहला नाट्य किया यों लक्षित होता है; जब भगवान् में दोषी के आरोपन का अभाव हो अर्थात् भगवान् निर्दोष हैं तब सर्व का उद्धार हो सकता है, अतः अपना[1] कार्य पूर्ण कर मणि उसको लौटा दी, 'भूयः' पद देने का भाव है कि पहले भी सत्यभामा के स्थान में रखी हुई मणि लौटा दी थी, आप 'विभुः' अर्थात् सर्व समर्थ हैं उसको दण्ड देने के लिये भी देकर यह लीला की, अथवा आपको अपेक्षा नहीं होने से यों किया ॥४१॥

आभास—एवमध्यायद्वये लौकिकी भाषा निरूपितेति साक्षादुपयोगाभावात् श्रवणे फलमाह **यस्त्वेतदिति ।**

१—कलङ्क उतार–बान्धवों का विग्रह मिटा शान्ति कर ।

आभासार्थ—इस प्रकार दो अध्यायों में लौकिकी भाषा का निरूपण किया, इस प्रकार साक्षात् उपयोग के अभाव से श्रवण मात्र से जो फल प्राप्त होता है वह 'यस्त्वेतत्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा
दुष्कीर्ति दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जगदीश्वर भगवान् विष्णु के वीर्य (पराक्रम) युक्त, पाप नाशक और मङ्गल रूप चरित्र को जो पढ़ता है, सुनता है और स्मरण करता है, वह अपयश, पाप को नष्ट कर शान्ति को प्राप्त होता है ॥४२॥

सुबोधिनी—एतदाख्यानम् । अत्राख्याने त्रिविधा लीला वर्तत इति ज्ञापयितुं भगवतो नामत्रयम् । भगवत्त्वाच्छास्त्रार्थत्वम्, ईश्वरत्वादावश्यकत्वम्, विष्णुत्वात्पापनाशकत्वमिति । चरित्रेऽपि गुणत्रयमाह **वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं चेति** । भक्तिजनकं पापनाशकं पुण्यसम्पादकं च । चकाराज्ज्ञानप्रदम् । तत्र क्रियामपि त्रिविधामाह **पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वे**ति । श्रवणकीर्तनस्मरणानि विकल्पेन विधीयन्ते । समुच्चयेन च । चकारादन्येषु फलेषु विकल्पः, भक्तौ समुच्चय इति । पूर्वमुक्तं फलमपि त्रिविधमाह **दुष्कीर्ति दुरितमपोह्य याति शान्तिमि**ति । दुष्कीर्तिर्बाह्या । दुरितमान्तरम् । दोषद्वयं परिहृत्य लयविक्षेपजनकाभावात् **शान्ति** मनसः समवस्थानं ज्ञानं वा यातीति भक्त्यङ्गत्वेनैतच्छ्रोतव्यमिति निरूपितम् ॥४२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेऽष्टमोध्यायः ॥८॥

व्याख्यार्थ—यह इतिहास है, इसमें तीन प्रकार की लीला है, यह जताने के लिये भगवान् के तीन नाम दिये है, जैसे कि भगवान् नाम से यह बताया है कि शास्त्रों का अर्थ यही है, ईश्वर नाम से यह कहा है कि इनका होना आवश्यक है, विष्णु नाम से कहा है कि पाप नाशक हैं, इस प्रकार चरित्र में भी तीन गुण हैं, जैसे कि एक वीर्ययुक्त, दूसरा पाप नाशक और तीसरा मङ्गल रूप है, जिससे एक भक्ति उत्पन्न करता है, दूसरा पाप नाश करता है और तीसरा पुण्य को इकट्ठा करता है, 'च' कहने का यह भाव है कि चरित्र ज्ञानप्रद भी है क्रिया भी तीन प्रकार की है पढ़ना, सुनना और स्मरण करना, श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण इन तीन में से कोई एक भी करे अथवा 'च' से यह बताया है कि तीनों को करे, च शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि अन्य फलों में तो विकल्प है किन्तु भक्ति में विकल्प नहीं है किन्तु समुच्चय है पहले कहा हुआ फल भी तीन प्रकार का है, जैसे कि अपकीर्ति और पाप के नष्ट होने से शान्ति प्राप्त होती है, अपयश, मिटना बाह्य फल है, पाप नाश होना आन्तर फल है, इन दोनों बाह्य तथा आन्तर फलों की प्राप्ति से समझना चाहिये कि दो दोष नष्ट

हुए, अनन्तर लय विक्षेप की उत्पति नहीं होती है, तब मनुष्य शान्ति को प्राप्त करता है जिससे मन निरुद्ध होता है, अथवा ज्ञान हो जाता है, इससे यह निरूपण किया है कि श्रवणादि भक्ति के अङ्ग-रूप से करना चाहिये ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
अवान्तर प्रकरण का पहला अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित हरि लीला का अवगाहन निम्न पद से करें

राग सारंग

शुकदेव कहत सुनो राजा ।
ज्ञानी लोभ करत नहिं, लोभ बिगारत काजा ॥
करि कै लोभ अमृत जो पीवै, विष समान सो होई ।
विष अमृत होइ जाई, लोभ बिनु यह जानत जन कोई ॥

एक समै जदुपति औ हलधर, पाँडव गृह पग धारे ।
सतधन्वा अरु सुफलक सुत मिलि, कीन्हो मंत्र बिचारे ॥
सत्राजित कौं हति मणि लीजे, ज्यौं जानै नहि कोई ।
ऐसौ समय बहुरि फिरि नाहीं, पाछैं होइ सु होई ॥

निसि अँधियारी जाइ सुधन्वा, ताहि मारि मणि ल्यायौ ।
फैलि गई यह बात नगर में, तब मन में पछितायौ ॥
सतिभामा करि सोक पिता कौं, जदुपति पास सिधाई ।
सतधन्वा करतूति करी सो, हरि कौं जाइ सुनाई ॥

सुनि जदुपति हलधर उठि धाए, नेकु विलंब न लाई ।
लै हैं बैर पिता तेरे कौं, जै हैं कहाँ पराई ॥
तब मणि डारि अक्रूर पास वह मिथिलापुर कौं धायौ ।
सत जोजन मग एक दिवस में, तुरंग ताहि पहुँचायौ ॥

द्वारावति पैठत हरि सौं सब, लोगनि कह्यौ जनाई ।
मिथिलापुरी जाइ तिहिं मार्यौ, पै मणि उहाँ न पाई ॥
तब हरि कह्यौ हत्यौ बिन दूषन, हलधर भेद बतायौ ।
ह्वाँ पुनि जाइ खोज तुम कीजो, द्वारावति हरि धायौ ॥

हलधर रहे गदा जुध सीखन, हरि द्वारावति आए ।
सतिभामा मन हरष भयौ जब, समाचार ये पाए ॥
सुफलक सुत मन ही मन सकुच्यौ, करौं कहा अब काजा ।
देत न बनै बनै नहिं राखत, डर डरात उठि भाजा ॥

सब जादौ मिलि हरि सौं यह कह्यौ, सुफलक सुत जहँ होई ।
अनावृष्टि अतिवृष्टि होति नहिं, यह जानत सब कोई ॥
कीजै दोष छमा अब ताको, हरि तब ताहि बुलायौ ।
कह्यौ कहा कहियै अब तुमसौं, तिन सिर नीचो नायौ ॥

पुनि कह्यौ मणि सतिभामा कौं दे, जातें भय भयौ तोहिं ।
मति उन दई बहुरि तिहिं दीन्हो, कह्यौ लोभ नहिं मोहिं ॥
लोभ भलौ नहिं दोऊ पुर में, लोभ किऐं पति जाई ।
सूर लोभ कीन्हो सो बिगोयौ, सुक यह कहि समुझाई ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५८वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५५वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का ९वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"द्वितीय अध्याय"

भगवान् श्रीकृष्ण के अन्यान्य विवाहों की कथा

कारिका—**नवमे पञ्चकन्यानां विद्यापर्वस्वरूपतः ।**
विवाहः प्रोच्यते सम्यक् कृष्णेनाशेषमुक्तये ॥१॥

कारिकार्थ—नवम अध्याय में विद्या के पांच पर्वों के स्वरूप रूप पाँच कन्याओं से विवाह कहा है; क्योंकि श्रीकृष्ण को सर्व की मुक्ति करनी है ॥१॥

कारिका—**मायासम्बन्धदोषेण क्रोधः कामस्तथापरः ।**
निराकृतः सर्वमुक्त्यै विद्याफलमतः परम् ॥२॥

कारिकार्थ—(१) माया[1] से सम्बन्ध होने के कारण काम, क्रोध तथा लोभ तीन

१- रुक्मिणी

दोष प्राप्त होते हैं, तो माया रूप रुक्मिणी के सम्बन्ध से भगवान् में भी ये दोष आए होगे ? जिनका निवारण किया गया है, पहला दोष पुत्रादि कामना उत्पन्न होती है, वह भी भगवान् में उत्पन्न नहीं हुई है; क्योंकि यदि पुत्र कामना होती तो नारद आदि सर्व की सम्मति के विना स्वयं ले लेते, किन्तु स्वतः ही ग्रहण न करने से आपने अपने में कामना का न होना सिद्ध किया है । (२) दूसरा दोष क्रोध का उद्भव होता है, वह भी आप में नहीं है, यदि क्रोध होता तो जाम्बवान् पर कृपा न करते कृपा कर अपने में क्रोध का अभाव सिद्ध किया है । (३) दोष लोभ होता है, उसका भी आप में अभाव है, यदि लोभ होता तो मणि स्वयं लेते, वह आपने नहीं ली, जिससे अपने में निर्लोभता सिद्ध कर दिखाई है । इस प्रकार की लीला द्वारा तीनों दोषों का निराकरण कर अनन्तर सबकी मुक्ति के लिए विद्या रूप फल का दान किया है ॥२॥

कारिका—**त्रैलोक्यसुखदानं च मायादोषनिवारणम् ।**
द्वाभ्यां तथैव सर्वेषां राजसे पूर्णता ततः ॥३॥

कारिकार्थ—तीन लोकों में जो सुख है, उसका दान दशम[1] अध्याय में और रुक्मिणी[2] के दोषो को दो अध्यायों[3] से अनन्तर ही सबकी राजस में पूर्णता हुई ॥३॥

कारिका— **विद्यायाः सूर्यमुख्यत्वात्प्रथमा दुहिता रवेः ।**
विपक्षनिग्रहात्मत्वात् द्वितीया सोमवंशजा ॥४॥

कारिकार्थ—सूर्य के मुख्यपन से सूर्य की कन्या कालिन्दी जो ज्ञान रूप है, उसको प्रथम ग्रहण किया, विपक्ष को निग्रह करने वाली होने से सोमवंश में उत्पन्न तपस्या रूप मित्रविन्दा को स्वीकार किया, भक्तों को ध्यान में रखकर ही ज्ञान मार्ग को अङ्गीकार किया है, कारण कि भक्त ही भगवत्स्वरूप आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, अतः गीता में कहा है कि 'भक्त्यामामभिजानाति यावात् य श्चास्मित त्वतः' मैं वास्तव में जो हूँ और जैसा हूँ, उसको भक्ति से ही पूर्णतया मनुष्य जान सकता है,

---

१– अध्याय दो में, २– माया के,
३– पहले में आन्तर दोष और दूसरे में बाह्य दोष रुक्मणी का निवारण किया पश्चात् सबका दोष भी उसी प्रकार दो से निवारण किया ।

अतः भक्त ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जिससे ही भगवान् ने ज्ञान मार्ग को अपनाया है, जिनमें भक्ति नहीं हैं, वे ज्ञान मार्ग के अधिकारी नहीं है, मेरे स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं, अतः उनके उद्धार के लिए तपोरूप मित्रविन्दा की अङ्गीकृति से तपोमार्ग स्वीकार किया है ।।४।।

कारिका—**मार्गद्वयं हितार्थाय द्वयं स्वीकृतवान् हरिः ।**
भक्तानभक्तानालक्ष्य तृतीया सूर्यवंशजा ।।५।।

भक्तिरूपा प्रयत्नेन याचयित्वा स्वयं गतः ।
व्यसनानि निराकृत्य तदुद्वाहं चकार ह ।।६।।

कारिकार्थ—ज्ञान और तपोमार्ग दोनों हितकर है, अतः हित के लिए दोनों[1] को स्वीकार किया है, भक्त तथा अभक्त दोनों के हित को ध्यान में रखकर सूर्यवंश में उत्पन्न इस तीसरी भक्ति रूपा से आपने जाकर रुकावटों को दूर कर माँग कर विवाह किया ।।५-६।।

कारिका—**अग्रे बाधास्तु भक्तेन ह्यर्जुनेन निराकृताः ।**
ज्ञानभक्त्योरतो भूयान् पर्वणोरुद्यमः कृतः ।।७।।

कारिकार्थ—आगे जो रुकावटें हुई, वे अर्जुन ने दूर की है, अतः भगवान् ने विद्या के दो पर्व ज्ञान और भक्ति की स्वीकृति के लिए बहुत उद्यम किया । यहाँ ज्ञान रूप पर्व कालिन्दी और नाग्नजिती भक्ति रूप पर्व है ।।७।।

कारिका—**धर्मस्नेहौ तयोरङ्गं मध्यमो लौकिकः स्मृतः ।**
द्वयोः स्वतन्त्रतासिद्ध्यर्थं जीवानां तु ततो द्विधा ।।८।।

कारिकार्थ—कालिन्दी और नाग्नजिती के विवाह के धर्म और स्नेह अङ्ग हैं अर्थात् कालिन्दी ने विष्णु को वरण योग्य समझ धर्म बुद्धि से विवाह किया तथा नाग्नजिती ने स्नेह से भगवान् को वरा, मित्रविन्दा का विवाह लौकिक भावयुक्त होने के

१- ज्ञानरूप कालिन्दी और तपोरूप मित्रविन्दा को।

निबन्ध में लक्ष्मणा को भक्तिरूप और नाग्नजिती को योगरूप कहा है, वह विकल्प है ।

कारण मध्यम कोटिका है, ज्ञानी और भक्त दोनों स्वतन्त्र हैं। उनकी स्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिए मध्य में मित्रवृन्दा का लौकिक भाव विवाह कह कर दोनों विवाहों का भाव पृथक्-२ है, यह बताया है, इससे यह भी प्रकट किया कि जीव मुख्य दो प्रकार के हैं ।।८।।

कारिका—**भक्तिज्ञानफले कृष्णः पुंसां स्त्रीणां चकार ह।**
अतो दत्तां स्वयं दत्तामक्लेशक्लेशभावनात् ।।९।।

कारिकार्थ—अनन्तर श्रीकृष्ण ने योग और साङ्ख्य दोनों का पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों में दान किया, अतः पिता ने दी। जो साङ्ख्य रूप भद्रा को बिना क्लेश प्राप्त किया, स्वयंवर में स्वयं प्राप्त योगरूप लक्ष्मणा को युद्धादि क्लेश के अनन्तर प्राप्त किया है। यहाँ नाग्नजिती[1] को भक्तिरूप कहने से लक्ष्मणा[2] को योगरूपत्व है, यों समझना चाहिए।।९।।

कारिका—**उपयेमे स्वयं कृष्णस्तासु सर्वं प्रतिष्ठितम्।**
ततः सर्वकलाभिस्तु हरिः पूर्णो निरूप्यते ।।१०।।

कारिकार्थ—स्वयं श्रीकृष्ण ने इनसे विवाह किया है, इसलिए उनमें सर्व प्रतिष्ठित हुआ है, इस कारण से हरि सर्व कलाओं से पूर्ण हरि का निरूपण किया जाता है।।१०।।

कारिका—**सषड्गो भगवानेवं निःसन्दिग्धो निरूपितः ।।१०½।।**

कारिकार्थ—इस प्रकार पाँच विद्या और छठा आप स्वयं होने से भगवत्स्वरूप का यहाँ निःसंदिग्ध रूप से वर्णन हुआ है ।।१०½।।

-- इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—तत्र प्रथमविवाहे तत्त्वानि भगवांश्च व्यापृत इति नवविंशतिश्लोकैर्विवाहो निरूप्यते। तत्र भक्तिकर्मणी ज्ञाने अङ्गभूते इति निरूपयितुं द्वादशभिर्भक्ति पञ्चभिः

१, २- इन दोनों के स्वरूपों में विकल्पपन है।

कर्म च निरूपयति। ततो भक्तद्वारा दशभिस्तद्ग्रहणम्, प्रसङ्गाद्भक्तोपकारश्च। भक्तोद्धारार्थं यतमान एव ज्ञानशक्तिं गृह्णातीति वक्तुं पाण्डवानां स्थानं भगवान् गत इत्याह **एकदेति**।

आभासार्थ—वहां प्रथम विवाह में २८ तत्व और एक आप व्यापार वाले हैं, इसलिये उनतीस श्लोकों में विवाह का निरूपण किया जाता है। भक्ति और कर्म ज्ञान के अङ्ग है, यों निरूपण करने के लिये १२ श्लोकों से भक्ति का तथा पांच श्लोकों से कर्म का निरूपण करता है। पश्चात् भक्त द्वारा दश से उनका ग्रहण होता है और प्रसङ्ग से भक्तों के उपकार का वर्णन होता है। भक्तों के उद्धार के लिये ही, प्रयत्न करने वाले ही ज्ञान शक्ति को ग्रहण करता है, यों कहने के लिये भगवान् पाण्डवों के स्थान पर पधारे, जिसका वर्णन 'एकदा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते है कि,

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः।**
इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः ॥१॥

श्लोकार्थ—एक समय पाण्डवों को आए हुए निश्चित् रूप से जानकर, आप श्रीमान् पुरुषोत्तम सात्यकि आदि के साथ उनको देखने के लिए इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥१॥

सुबोधिनी—प्रतीतान् निश्चितान् राधावेधे वा दृष्टान्। तथापि तत्र तदा न प्रकटीभूता इति पश्चाद्गतः। प्रतीतिस्तु सन्देहाभावायैव। लोके प्रज्ञातान्। **पुरुषोत्तम** इति तान् सर्वान् पुत्रत्वेन निरूपयति। तेनावेक्षार्थं गमनं युक्तमेव। इन्द्रप्रस्थे तावता तैः स्थानं लब्धम्, नारदोपदेशतः भीष्मादिभिरेव दत्तम्। ननु तदानीमेव तत्र गताः पाण्डवा असाधनाश्च स्वार्थमेव सामग्रीरहिताः किं भगवदर्थे सम्पादयिष्यन्तीत्याशङ्क्याह **श्रीमा**निति। स्वयमेव सर्वसाधनलक्ष्मीयुक्तः। तेषां साधनसम्पादनार्थमेव गतः। अतएव महाशूरैः सुबुद्धिभिर्युयुधानादिभिर्वृतः। **युयुधानः** सात्यकिः। स तत्रार्जुनशिष्यो भविष्यति। भगवांश्च विश्वकर्मादिभिर्गृहादिकं सम्पादयिष्यतीति। एतदर्थं भगवद्गमनम्। बहुपुरुषैः सम्पादितगृहतुल्यम्. अन्यथा तद्गृहं न भवेत्। उत्कर्षश्च सम्पादनीयः ॥१॥

व्याख्यार्थ—लाक्षा भवन से निकलकर द्रुपद के यहाँ त्रधन्विचित्रविशेष के बींधने के समय देखने में आये, किन्तु उस समय वहाँ प्रकट न हुए इसलिये उस समय न जाकर जब इन्द्र प्रस्थ आये है यह निश्चय हुआ तब वहां पधारे। द्रुपद के यहाँ जो उन की प्रतीति हुई वह तो लाक्षा भवन में जलने के संदेह को मिटाने के लिये ही थी लोक में प्रसिद्ध हो गया कि पाण्डव आ गये हैं। 'पुरुषोतम' नाम देने का भावार्थ यह है कि इन सब को पुत्र रूप से ही जानते व मानते हैं, अतः उनको देखने के लिये पधारना उचित ही है। भगवान् के पधारने से प्रथम ही नारद के उपदेश से भीष्म आदि ने उनको निवास के लिये स्थान दिया था। भगवान् पाण्डवों के पास पधारे किन्तु वे अब ही वहां आये

हैं और सब अपने लिये भी सामग्री के लिये विचार में हैं अर्थात् उनके लिये अपने लिये भी सामग्री नहीं हैं,वे भगवान् के स्वागत के लिए सामग्री कहांसे लायेंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्रीमान आप स्वयं सर्व साधन और लक्ष्मी वाले हैं और वहां जाने का कारण ही यह है कि वहाँ जाकर उनको सर्व प्रकार सम्पन्न करूं । इसलिये ही महान् वीर युयुधान[1] आदि को साथ में लिये हैं । वह[1] वहाँ अर्जुन का शिष्य बनेगा और भगवान् विश्वकर्मा आदि से गृह आदि सिद्ध कराएँगे इस वास्ते ही भगवान् का वहाँ पधारना हुआ है । वह गृह बहुत पुरुष बनावे वैसा सुन्दर गृह बना, यों न होता तो वह गृह ही कहने में न आता । गृह का उत्कर्ष हो सम्पादन करना चाहिये ॥१॥

आभास—एवं भक्तार्थं भगवद्गमने भक्तानां कृत्यमाह **दृष्ट्वा तमागतमिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् जब इस प्रकार भक्तों के लिये पधारे हैं तब 'दृष्ट्वा तमागतं' दो श्लोकों में भक्तों के कर्तव्य कहते है ।

श्लोक—**दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।**
उत्तस्थुर्युगपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम् ॥२॥

परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः ।
सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥३॥

श्लोकार्थ—सकल के ईश्वर भगवान् को पधारते हुए देख, पाण्डव एक साथ यों उठ खड़े हुए, जैसे प्राणों को पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं ॥२॥

वीर पाण्डव अच्युत भगवान् से आलिङ्गन कर मिले, इस प्रकार भगवान् के श्री अङ्ग के स्पर्श से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, वे अनुराग सहित मुसक्यान वाले उस भगवान् के मुखारविन्द को देख आनन्द को प्राप्त हुए ॥३॥

सुबोधिनी—आगमनसम्भावनापि न स्थिता । अकस्मादागत एव पार्थाः स्वयं राजानः पृथायाः भक्तायाः पुत्राः । अत एवाग्रे तस्या भक्ति वक्ष्यति त्रिभिः । भगवांश्च मुकुन्दः । अनेनेष्टदो निरूपितः । अखिलेश्वरत्वादावश्यकः । अतो युगपदेव सर्वे उत्तस्थुः । **वीरा** इति तेषां स्वधर्मो निरूपितः । अन्यस्तु भगवत्परो न भवतीति । स्वतः परम्परातश्च उत्तमाः भगवति परं स्नेहं प्राप्तवन्त इति दृष्टान्तेनाह **प्राणा मुख्यमिवागतमिति** । इन्द्रियाण्या सन्यमागतमिव । तेषां तन्मूलकमेव सर्व-

1—सात्यकि

मिति। एवं सर्वात्मना तदीयत्वमुपपाद्य तादृशान कर्तव्यमाह परिष्वज्येति। भगवदालिङ्गनं निरन्तरमेव स्थास्यतीति अच्युतमिति। भगवतस्तथात्वज्ञानं स्वधर्मादेवेति वक्तु पुनर्वीर इति। अङ्गसङ्गेनैव हतमेनो येषाम्। उत्तरार्थं पापक्षयः आनुषङ्गिको जात इति निरूपितम्। अतएव भगवतः सानुरागस्मितं वक्त्रं दृष्ट्वा तदेव पुरुषार्थत्वेन मन्यमानाः मुदं ययुः। एतावदेव भक्तकार्यम् ॥३॥

व्याख्यार्थ – आने की सम्भावना भी न थी, अचानक ही पधार गये हो, भक्त पृथा के पुत्र पाण्डव स्वयं राजा थे, अतएव आगे उनकी भक्ति का वर्णन तीन से होगा, भगवान् का नाम 'मुकुन्द' देने से यह बताया है कि आप पाण्डवों को इच्छित देने वाले हैं वा देने के लिये आये हैं, अखिलों के ईश्वर हैं, इसलिये यों करना आपको आवश्यक है, अतः सहसा सब उठ खड़े हो गये, यों उठने से अपना आपके प्रति परम स्नेह व आदर प्रकट किया है, 'वीर' विशेषण से उनका यह स्वधर्म है, यह निरुपण किया, अन्य तो भगवान् के परायण नहीं होता है, स्वयं परम्परा से जो उत्तम होते हैं, वे ही भगवान् से परम स्नेह करते है, दृष्टान्त से इसको समझाते हैं, जैसे प्राण इन्द्रियादि, मुख्य आसन्य प्राण के आने से प्रसन्न हो सचेत हो उनसे स्नेह करती हैं, क्योंकि उनकी[1] सब (कुछ) को जड़ वही है, इस प्रकार सर्वात्मभाव से उनका तदीयपन सिद्ध कर, उनका[2] कर्त्तव्य कहते हैं कि भगवान् का आलिङ्गन किया, यह आलिङ्गन सर्वदा ही रहे इसलिये भगवान् का नाम यहाँ 'अच्युत' दिया, 'वीरा' दूसरी बार देने का भाव यह है कि, भगवान् जैसा ही ज्ञान, स्वधर्म पालन से ही होता है ये पाण्डव स्वधर्म पालते हैं इसलिये 'वीर' हैं जिससे भगवान् का इनको इस प्रकार ज्ञान हो गया है, इनके पाप तो भगवान् के श्री अङ्ग के स्पर्श मात्र से नष्ट हो गये हैं, उत्तर के लिये पाप क्षय आनुषङ्गिक फल हुआ है, इसलिये निरुपण किया है, अतएव भगवान् का अनुराग सहित मुसक्यान वाले मुखारविन्द को देखकर उसको ही पुरुषार्थ मानते हुए आनन्द को प्राप्त हुए, इतना ही भक्तों का कार्य है ॥२-३॥

आभास—ततो लौकिकं भगवान् कृतवानित्याह युधिष्ठिरस्येति।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् लौकिक करने लगे, जिसका वर्णन 'युधिष्ठिरस्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक— **युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।**
फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः ॥४॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर तथा भीम के चरणों में पड़कर आपने प्रणाम किया, अर्जुन से आलिंगन के साथ मिले, बाद में नकुल सहदेव ने आपको प्रणाम किया ॥४॥

१—इन्द्रियादि का २—पाण्डवों को

सुबोधिनी—अन्यथा शत्रुमारणादिकं न कुर्युः। तत उत्कर्षश्च न स्यात्। अतो व्यामोहार्थं स्वयमात्मानं लौकिकं प्रदर्शितवान्। युधिष्ठिरभीमौ ज्येष्ठौ। अर्जुनः समः। अन्यौ कनिष्ठौ। ज्येष्ठयोर्नमस्कारः। समस्यालिङ्गनं सम्भाषणं च। अन्ययोर्नमस्कारानन्तरमाशिषः। तदुक्तं क्रमेणैव। पादाभिवन्दनादाचारो निरूपितः सम्बन्धकृतः। अथ यमाभ्यामिति वा, समानकालेऽपि सम्भवतीति धर्मव्यवस्थां निरूपयितुमानन्तर्यमुक्तम्। आन्तरोऽयं सुहृदिति ज्ञापयितुम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् यदि इस प्रकार स्वत्व प्रदर्शित न करते तो शत्रु नाश आदि कार्य नहीं करें, न करने से इनकी बड़ाई भी न होवे, अतः व्यामोह में डालने के लिये अपने को आप ही लौकिक दिखाने लगे, युधिष्ठिर तथा भीम आप से बड़े है, अर्जुन समान है, दूसरे दो छोटे हैं, बड़ों को नमन करना चाहिये समान से आलिङ्गन तथा बातचीत, छोटों के नमन होने के अनन्तर उनको आशीर्वाद देनी चाहिये, वह क्रम से ही कहा गया है, बड़ों के पैरों में पड़ प्रणाम करना, यों कहकर सम्बन्ध से जो सदाचार है, वह निरुपण किया है। 'यमाभ्यां' पद से नकुल और सहदेव का जन्म समान काल में भी हो सकता है, यों धर्म व्यवस्था का निरुपण करने के लिये आन्तर भी कहा है, यह आन्तर 'सुहृद' सिद्ध कर जताने के लिये कहा है ॥४॥

आभास—तदानीमर्जुनेनोढाया नमस्कारमाह **परमासन आसीनमिति।**

आभासार्थ—उस समय, अर्जुन से विवाही हुई ने आकर नमस्कार किया, जिसका वर्णन 'परमासन' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता।
नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत ॥५॥

श्लोकार्थ—नव विवाहित, निन्दारहित द्रौपदी ने लज्जा से धीरे-धीरे आकर बड़े आसन पर विराजमान श्रीकृष्ण को नमस्कार किया ॥५॥

सुबोधिनी—अनेन सर्वपूजानन्तरं पश्चाद्दास्येनात्मनिवेदनं कुर्वाणेव समागतेति सूचितम्। **आसीनम**व्यग्रम्। तस्यां कृपादृष्ट्यर्थमुक्तम्। एतदर्थं तस्याः सनामत्वेन योग्यतामाह **कृष्णे**ति। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इति भगवान् कृष्णः पञ्चात्मकः, शब्दार्थशक्तिभक्तक्रीडाधारभूतः। अतो व्यासो भगवान् कालिन्दी अर्जुनो द्रौपदी चेति। नन्वेषा परिग्रहाधिक्याद्दुष्टा कथमेवं प्रपन्ना, तत्राह **अनिन्दिते**ति। दोषो नास्त्येव। निन्दापि नास्तीति। सम्बन्धाभावाच्च तथेत्याह **नवोढे**ति। विधिसम्बन्धाद्वा। अत एव किञ्चिद्व्रीडिता। स्त्रीस्वभावोऽपि शनैरागमनं धार्ष्ट्याभावं सूचयति ॥५॥

व्याख्यार्थ - इससे यह सूचित किया कि सब की यथा योग्य पूजा होने के अनन्तर दास्य भाव से मानो आत्मनिवेदन करने के लिये आई 'आसीनम्' पद भावार्थ बताते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् उस समय व्यग्र नहीं थे, व्यग्रता न होने का कारण यह था कि दास्य भाव से आत्म-

निवेदन करने के लिये आई हुई के ऊपर कृपा दृष्टि करनी थी. वह व्यग्रता में नहीं होती है इसलिये आप अव्यग्र विराजमान थे, इसलिये विशेषता में उसका नाम भी योग्यता दिखाने के वास्ते कृष्ण के समान ही 'कृष्णा' कहा है शास्त्र में कहा है 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इसलिये भगवान् कृष्ण भी इस समय पचात्मक हैं, शब्द के अर्थ की शक्ति जो भक्त है उनकी क्रीड़ा का आधार हुए हैं, अतः व्यास, भगवान् कालिन्दी, अर्जुन और द्रौपदी ये पांच हैं, शङ्का होती है कि यह विशेष परिग्रह[1] करने के कारण दुष्ट है वह कैसे शरण हुई ? इस शङ्का निवारण के लिये कहा है कि 'अनिन्दिता' इस प्रकार विवाह होने में कोई दोष नहींहै एवं इससे किसी प्रकार निन्दा भी नहीं हुई है.सम्बन्ध के अभाव से वैसे है,वह 'नवोढ़ा' है अथवा विधि से सम्बन्ध होने के कारण दोष आदि नहीं, अतएव कुछ लज्जित हो रही थी स्त्री स्वभाव भी धीरे २ आने में कारण है और इससे निर्लज्जता इसमें नहीं है यह भी सूचित किया है ।।५।।

आभास—सहगतानां पुरस्कारं वक्तुं सात्यकेराह तथैवेति ।

आभासार्थ—साथ में गये हुओं का आदर कहने के लिये सात्यकि का पूजन 'तथैव' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः ।**
निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत ।।६।।

श्लोकार्थ—पाण्डवों ने वैसे ही सात्यकि को आदरपूर्वक पूजा तथा अभिवादन किया और आसन पर बिठाया तथा दूसरे का भी पूजन किया । वे भी भगवान् के चारों तरफ आसनों पर बैठ गए ।।६।।

सुबोधिनी—यथा भगवान् पूजितः, एवं भगवद्भक्ता अपि पूजिताः । यतस्ते पार्थाः । सम्बन्धश्च तुल्य इति, साधु समागतमित्यभिनन्दनम् । ज्ञानशक्तिरत्र प्रकटीकर्तव्येति सोऽप्यासन एवोपविष्टः । अन्ये च पूजिताः । आसनेषूपविष्टाः, परं भगवन्तं परित उपासत ।।६।।

व्याख्यार्थ—जैसे भगवान् पूजे गये, वैसे भगवद्भक्तों का भी पूजन किया, क्योंकि भक्त, पृथा के पुत्र हैं सम्बन्ध तो समान ही है, उचित हुआ जो आप पधारे इस प्रकार स्वागत वचनों से समादर किया । यहां ज्ञान शक्ति प्रकट करनी चाहिये, इसलिये आसन पर ही बिराजे । दूसरे जो साथ आये थे, वे भी पूजे गये तथा भगवान् के चारों ओर आसनों पर बैठे ।।६।।

आभास—पृथायाः स्तोत्रं वक्तुं प्रथममन्योन्यमनुवृत्तिमाह पृथामिति ।

१—पांच पाण्डव पति होने से

आभासार्थ—पृथा की स्तुति कहने के लिये, पहले परस्पर एक दूसरे का कुशल निम्न श्लोक में पूछते हैं।

श्लोक—**पृथां समागत्य कृताभिवादनस्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः ॥७॥**

श्लोकार्थ—भगवान् ने पृथा के समीप आकर उसको प्रणाम किया, उस समय अतिशय हार्दिक प्रेम उत्पन्न होने से जब कुन्ती की आंखों से आंसू टपकने लगे, तब उसने आलिङ्गन किया तथा अपने बान्धवों का कुशल पूछा, अनन्तर भगवान् ने भी भूआ से सबकी कुशलता के समाचार पूछे ॥७॥

सुबोधिनी—भगवान् पृथां समागत्य पृथानिकटे गत्वा कृताभिवादनो जातः। तया च अतिहार्देन आर्द्रा दृष्टिर्यस्याः। करुणया भक्त्या च आर्द्रा भवति दृष्टिः। ततोऽपि अतिहार्दा लौकिकसम्बन्धेन स्नेहयुक्ता आर्द्रा भवति। ततस्तया परिरम्भितः। कुशलमापृष्टवान्। स्वयं च पृष्ट इति लौकिकी भाषा भगवत्कृता स्थिरा जातेति निरूपितम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—भगवान्; पृथा के समीप आकर, उसको प्रणाम करने लगे, जिससे अतिशय प्रेम के कारण उसके नेत्रों में आंसू भर गये। दया तथा प्रेम से दृष्टि आर्द्र हो जाती है और नेत्रों से जल बहने लग जाता है। उससे भी लौकिक सम्बन्ध के कारण अतिशय हार्दिक स्नेह वाली दृष्टि आर्द्र होती है। अर्थात् आंखें आंसूओं से भर जाती है पश्चात् ऐसी पृथा ने प्रेम से भतीजे का आलिङ्गन किया अनन्तर कुशल समाचार पूछे। स्वयं से पूछे गये। यों यह भगवत्कृत लौकिकी भाषा स्थिर हुई, जिसका निरूपण किया गया ॥७॥

आभास—तस्याः स्तोत्रार्थं प्रवृत्तिमाह तमाहेति।

आभासार्थ—'तमाह' इस श्लोक से स्तुतिके लिये हुई उसकी प्रवृति को कहते हैं।

श्लोक—**तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना।
स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥८॥**

श्लोकार्थ—प्रेम की विक्लवता से जिसके कण्ठ रुद्ध हो गए हैं और आंखें आंसूओं से भर गई हैं, ऐसी उन बहुत क्लेशों को स्मरण कर उनके नाश का उपाय भगवान् के दर्शन ही समझने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—प्रेम्णा वैक्लव्यम्। अन्तःकरणस्य तादृश प्रेम। तेन रुद्धकण्ठता शरीरवैक्लव्यम्। अश्रूणि लोचने यस्या इतीन्द्रियवैक्लव्यम्। किञ्च। स्वस्थानामपि भक्त्यैवं भवति।

इयं तु बहुक्लेशापन्ना तांश्च स्मरतीत्याह स्मरन्ती तानिति । बहूनेव क्लेशान् स्मरन्ती । क्लेशनिवृत्यर्थं प्रार्थयिष्यतीत्याशङ्क्याह क्लेशापायात्मदर्शनमिति । क्लेशानामपायो नाशो यस्मात् तादृशं स्वरूपस्य दर्शनमेव यस्येति । दर्शनेनैव क्लेशनिवृत्तौ तदर्थं न प्रार्थना ॥८॥

व्याख्यार्थ—कुन्ती को अन्तः करण के प्रेम के कारण विक्लवता[1] होने लगी, जिससे कण्ठरुद्ध हो गया। इससे शरीर की घबराहट प्रकाशित की, आँखों में आँसू भर जाने से इन्द्रियों की व्याकुलता जतादी। स्वस्थों की भी दशा, प्रेम से इस प्रकार की हो जाती है। यह तो बहुत दुःखों को भोग चुकी है, जिनको यह स्मरण करती थी, तब उनके निवृत्ति के वास्ते प्रार्थना करेंगी? जिसके उत्तर में कहा कि 'क्लेशापायात्मदर्शनम्' उसने क्लेशों के मिटाने का उपाय आपके स्वरूप का दर्शन ही जाना है, अर्थात् दर्शन से ही दुःख मिट गये, जिससे उनके मिटाने के लिये प्रार्थना नहीं की ॥८॥

आभास—भगवता वय कृतार्था इति इदमेव भगवत्स्तोत्रम्। तत्कृतकरिष्यमाणभेदेन द्विविधं निरूपयति तदैवेति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—भगवान् के दर्शन से ही हम कृतार्थ हो गये है, यों यह कहना ही भगवान् का स्तोत्र है, जो किया और जो किया जाएगा के भेद से दो प्रकार के हैं, जिसको 'तदैव' दो श्लोकों से निरुपण करते हैं।

श्लोक—**तदैव कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते कृता वयम्।**
ज्ञातीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥९॥
न तेऽस्ति स्वः परो भ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः।
तथापि स्मरतां शश्वत्क्लेशान्हंसि हृदि स्थितः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण! हमारी कुशल तब ही हो गयी, जब कि आपने हमें कृतार्थ कर दिया और हमारा स्मरण करते ही भ्राता को भेज दिया ॥९॥

जगत् बन्धु और आत्मरूप जो आप हैं, उनको अपना-पराया भेद नहीं है, तो भी स्मरण करने वालों के हृदय में विराजमान होकर निरन्तर उनके क्लेशों का नाश करते है ॥१०॥

सुबोधिनी—यदैवास्मान् स्मृतवान्, तदैव नः कुशलमभूत्। चिन्ताभावायाह। सनाथा अपि त्वया वयं कृताः। नाथ एव काले स्मरतीति। वयमिति श्लाघायाम्। एतस्याभिज्ञापकमक्रूरप्रेषणमित्याह ज्ञातीन्नः स्मरतेति। 'येनोपशान्तिर्भूतानां'मित्यत्र तथा निरूपितम्। कृष्णेति तदर्थ-

---

[1] —घबराहट

मेवावतार उक्तः। सर्वसंरक्षार्थं भ्राता प्रेषितः। अनेन भ्रात्रपेक्षयापि तवैव स्नेहाधिक्यात्। नेद दैहिकन्यायेन कृतार्थकरणम्, सन्निहितो बन्धुरेव प्रषणीय इति लौकिकरक्षापि सूचिता। एवं स्व रक्षकत्वेन प्राप्तं वैषम्यं परिहरति न तेऽस्तीति। स्व. स्वकीयः परः शत्रुः। एतदभावे हेतुमाह भ्रान्तिरिति। इयं बुद्धिर्भ्रान्तेति नास्तीत्यर्थ। तत्र हेतुत्रयमाह विश्वस्य सुहृदात्मन इति। दैहिके विचार्यमाणे त्वमेव विश्वम्, अन्तःकरणे तु सुहृत् सर्वस्यापि भगवान्, वस्तुविचारे त्वात्मैव। अतो भावत्रयेऽपि भगवतो वैषम्यबुद्धिर्न सम्भवतीत्यर्थः। तर्हि कथं विषमकार्यमित्यत आह तथापीति। ये केचित्स्मरन्ति, तेषां हृदये स्थितः क्लेशसमानाधिकरणो न भवतीति। अग्निस्तृणमिव क्लेशान् हंसि। अतो भावनाकार्यमेव क्लेशहननम्। तदपि स्वाभाविकमेव॥९-१०॥

व्याख्यार्थ – जब ही आपने हमको याद किया उस समय ही हमारा कल्याण हो गया, चिन्ता का अभाव हो गया, जिसके लिये विशेष कहते है, कि आपने हमको सनाथ भी किया है। कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि समय पर नाथ ही स्मरण करते हैं, 'वयं' बहुवचन से बताया, कि आपकी इस कृत्ति से हमारी प्रशंसा होती है, अर्थात् हम उत्तम बड़े गिने जाते हैं। आप हम को स्मरण करते रहते हैं, जिसका प्रमाण अक्रूर का भेजना है। इसलिये श्लोक में यों कहा है, कि हमारा स्मरण आते ही अक्रूर को भेज दिया है। यह 'येनोपशान्तिर्भूताना' श्लोक में निरुपण किया है। 'कृष्ण' नाम से यह सूचित किया कि उसके लिये ही आपका यह अवतार है। सब की रक्षा के लिये भाई को भेजा है। इससे यह बताया कि भ्राता स्वयं नहीं आये, किन्तु आपने भेजा। जिससे सिद्ध है कि भ्राता की अपेक्षा ही हम पर अधिक स्नेह है। यह दैहिक न्याय से कृतार्थ करना नहीं है ? निकट के बन्धु को ही भेजना चाहिये, इस प्रकार से लौकिक रक्षा भी सूचित की है। यों अपने रक्षकपन से होनेवाली विषमता को भी दूर किया। जैसे कि आपकी 'यह अपना है और वह पराया है',ऐसी भ्रान्तिवाली भेद बुद्धि तो है ही नहीं। इस विषय की सिद्धि में तीन कारण देते है कि 'विश्वस्य-सुहृदात्मनः दैहिक विचार करते हैं तो आप ही विश्वरूप हैं। अन्तःकरण के लिये विचार करने पर सब के सुहृद आप भगवान् ही हैं,। यदि वस्तु का विचार किया जाता है तो आप सबकी आत्मा ही हैं। अतः इस प्रकार के तीन भाव से भगवान् को विषमता वाली बुद्धि है ही नहीं यह ही सिद्ध होता है। यदि यों है, तो विषम कार्य कैसे होते हैं ? जिसके उत्तर में कहा जाता है कि, जो आपका निरन्तर स्मरण करते हैं, उनके हृदय में आप विराजमान होकर क्लेश के समान अधिकरण नहीं होते हैं' अग्निस्तृणमिव क्लेशान् हंसि' जैसे कि अग्नि तिनको को जलाती है वैसे ही आप क्लेशों का नाश करते है, अतः क्लेशों का नाश, भावना का ही कार्य है, वह भी स्वाभाविक हो है॥१०॥

आभास—ततो राजापि स्तोत्रं कृतवानित्याह **किं न इति**।

आभासार्थ—'किं न आचरितं' इस श्लोक से राजा भी स्तुति करता है।

श्लोक— युधिष्ठिर उवाच–**किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर।**
योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥११॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने कहा–हे अधीश्वर ! मैं नहीं जानता हूँ कि हमने कौन

से श्रेय करने वाले श्रेष्ठ कार्य किए हैं, जिनसे योगेश्वरों को भी जिनके दर्शन दुर्लभ है, वे हम कुमतियों को कृपापूर्वक दर्शन दे रहे हैं ॥११॥

सुबोधिनी – तस्यापि स्वाभिनन्दनेनैव स्तुतिः। स हि सर्वं कर्मफलमेव जानाति। अतो भगवद्दर्शनमपि महाफलमिति साधनं कल्पयति। नोऽस्माभिः अस्माकं वा श्रेयः आचरितमस्ति। एतत्परिज्ञाने निरन्तरदर्शनार्थं निरन्तरं तत्कर्तव्यमिति पृच्छन्निव स्वज्ञानमाह न वेदाहमिति। अधीश्वरत्वात् अन्तःकरणस्वामित्वात् भगवानेव जानाति। दर्शनस्य महाफलत्वमाह **योगेश्वराणामपि दुर्दर्श** इति। स्वस्यातथात्वमाह **कुमेधसामिति** ॥११॥

व्याख्यार्थ— आपका अभिनन्दन करने से उसकी भी स्तुति हो गई है। वे सर्व कर्म फल को जानते ही हैं, अतः भगवान् का दर्शन भी महान् फल है। यों कह कर साधन की कल्पना करते है। हमारा कुछ सत्कर्म किया हुआ मालूम होता है। अथवा हमने कोई (उत्तम) श्रेयस कर कर्म किये है। यदि आपको इसकी जानकारी है तो भगवान् के निरन्तर दर्शन होते रहे, उसके लिये सदैव वैसे ही कर्म करते रहिये, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'न वेदाह' हमे तो ज्ञात नहीं है कि हमने कौन से उत्तम कार्य किये है। आप नहीं जानते है तो कौन जानता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप अधीश्वर होने से अर्थात् अन्तःकरण के स्वामी होने से आप भगवान् होने से आप ही जानते हैं। दर्शन का महाफल बताते हैं कि यह दर्शन योगीश्वरों को भी कठिनाई से होता है, हम तो वैसे नहीं है, यह बताते हुए कहते हैं कि हम दुर्बुद्धि हैं, तो भी अपनी दयालुता बताने के लिये आपने दर्शन दिये है ॥११॥

आभास—एवं सर्वैः स्तुतः तेषां हितार्थं कियत्कालं तत्रैव स्थित इत्याह **इतीति**।

आभासार्थ—इस प्रकार सब की स्तुति सुनते हुए भगवान् उनके हित करने के लिये कुछ समय वहीं ठहरे, यह 'इति वै' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक— **इति वै वार्षिकान्मासान्राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम्।**
जनयन्नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ॥१२॥

श्लोकार्थ— राजा युधिष्ठिर की प्रार्थना स्वीकार कर वे (श्रीकृष्ण) वर्षा के चार मास तक वहाँ विराजे। वहाँ रहकर इन्द्रप्रस्थ के निवासियों के नेत्रों को आनन्द दान देने लगे ॥१२॥

सुबोधिनी—सर्वत्र विद्यमानोऽपि निश्चयेन तत्र स्थितः सर्वजनीनः। वार्षिका मासाश्चत्वारः। अनेन निद्रायामागतायां भक्तहृदये शयानः स्थित इति सूचितम्। लोकेऽपि वर्षायां गमनागमनौ न सुकरौ। तत्रापि युधिष्ठिरेणाभ्यर्थितः। तदर्थं इन्द्रप्रस्थौकसां च नयनानन्दं जनयन्। एकया क्रियया फलत्रयं साधयतीति विभुत्वं हेतुत्वेन प्रदर्शितम्। यतोऽयं लोको भ्रान्तः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—सब स्थानों में विराजमान होते हुए भी निश्चय से यहीं विराजमान हो रहे हैं, यह वहां के सब निवासियों को प्रतीति हुई। वर्षा ऋतु के चार मास ही वहाँ रहे, इससे यों दिखाने लगे कि नींद आने से भक्तों के हृदय शैया पर पौढ़ रहे है। लोक में भी वर्षा के दिनों में बाहर आना जाना कठिन होता है। इसमें भी फिर युधिष्ठिर ने रहने के लिये प्रार्थना की है। इस वास्ते इन्द्रप्रस्थ निवासियों के नेत्रों के लिये आनन्द उत्पन्न करते हुए निवास करते थे। एक ही क्रिया से तीन फल सिद्ध करते है। यों करने में कारण बताते हैं, कि आप 'विभुः' सर्व व्यापी हैं, यह लोक तो भ्रान्त है ॥१२॥

आभास—एवं भक्तिमुक्त्वा कर्माह एकदेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भक्ति का वर्णन कर 'कर्म' का वर्णन 'एकदा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।**
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥१३॥
साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत्परवीरहा ॥१४॥

श्लोकार्थ—एक समय चतुर वीर शत्रुओं के नाशक अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ वानर की ध्वजावाले अपने रथ में चढ़, गाण्डीव धनुष हाथ में उठाकर, अक्षय तीरों से भरे हुए तरकस बांधकर, तैयार होकर, अनेक हिंसक जानवर और मृगों से व्याप्त वन में शिकार खेलने गए ॥१३-१४॥

सुबोधिनी—मासचतुष्टयमध्य एव अष्टकाद्यर्थं आखेटकार्थं गमनम्। वानरध्वजो रथोर्जुनस्य। एतत्प्राप्तिमप्यग्रे वक्ष्यति। इदानीमसाधन इति शक्तया सहितस्तथा भवतीति विवाहानन्तरं परिग्रहानन्तरं वा तद्वक्ष्यति। वानरो हनूमान् ध्वजे यस्येति। तेषु भगवत्कृपा महती निरूपिता॥ गाण्डीवमप्यग्नेः सकाशादेव प्राप्तम्। तूणीरौ च अक्षयसायकौ। तत एव प्राप्तं त्रिविधमेतत्। कृष्णेन सह भावः सर्वेषामयातयामत्वाय। फलसाधनयुक्तता वा। सन्नद्धो बद्धकवचः। पुनरपि युद्धं संभविष्यतीति पूर्वयुद्धं जातमप्यग्रे निरूप्यते। अन्यथा विवाहस्य प्राधान्यं न स्यात्। भगवदंच्छिकोऽयं पदार्थक्रम इति न वैपरीत्यम्। प्रथमं खाण्डवदाहः, पश्चात्स्त्रीप्राप्तिरिति। विचारितं तु तथा, कृतं त्वत्रोच्यते विहर्तुमिति। तदेवाह बहुव्यालमृगाकीर्णमिति। व्याला दुष्टाः, मृगा अदुष्टाः, सावरणा निरावरणाश्चेति कर्मबन्धो निवारितः। महद्विपिनमिति। मृगयारूपा क्रीडा तत्रानन्ता भवतीति वा। उभयान्हन्तीत्युत्कर्षः। तेषां मारणे सामर्थ्यमाह परवीरहेति। शत्रूणां विवेकपूर्वकं युद्धं कुर्वतामपि यो वीरहा। ॥१४॥

व्याख्यार्थ—इस चातुर्मास के मध्य में शिकार के लिये वा अष्टकादि तिथियों में पितृ देवताओं

को तृप्ति कराने के लिये जाना होता है अन्यथा नहीं। जिस रथ में हनूमान् की ध्वजा है, वह रथ अर्जुन का है, इसकी प्राप्ति का वर्णन भी आगे कहेंगे। अब साधन रहित है, इसलिये जब शक्ति सहित होगा, तब असाधन बनेगा, इसलिये विवाह के बाद वा भार्या के साथ होने के पश्चात् वह कहेंगे। रथ की ध्वजा में वानर का चिन्ह भगवान् की महती कृपा का सूचक है। गाण्डीव धनुष भी अग्नि से अर्जुन को प्राप्त हुआ है, जिसके तीर, क्षय होने वाले नहीं, वैसे ही तूणीर[1] है। ये तीन ही उससे पाये है। कृष्ण के साथ सहभाव का भावार्थ है, सर्व का इस प्रकार प्रहर भी इनके साथ सम्पर्क अन्य किसी का नहीं होता है अथवा फल के साधन की योग्यता प्रकट होती है। कवच बान्ध-कर तैयार हुआ है, इस प्रकार तैयार होकर बताया है कि आगे लड़ाई हुई है, फिर भी युद्ध होगा, यों नहीं हो तो विवाह की मुख्यता प्रकट सिद्ध न होगी। यह पदार्थक्रम भगवान् की इच्छानुसारी है, इसलिये इसमें विपरीतता नहीं है, प्रथम खाण्डव का दाह, पश्चात् स्त्री की प्राप्ति विचार तो, यों किया था, किन्तु जो किया वा हुआ वह यहाँ कहा जाता है। अर्थात् विचार से विपरीत किया, विहार के लिये गये, कहाँ ? जहां बहुत दुष्टपशु[2] अदुष्टपशु[3] आवरण वाले. आवरण रहित, इससे कर्म का बन्धन मिटाया, जहाँ वन में गये वह बड़ा था, अर्थात् वहां अनन्त प्रकार मृगया रूप क्रीड़ाएं हो सकती हैं, दोनों का नाश होता है यह जिसका उत्कर्ष हैं, उनके मारने में सामर्थ्य कहते हैं कि 'परवीरहा' विवेक से युद्ध करने वाले शत्रुओं का भी जो नाश कर सकता है ॥(३-१४॥

आभास—अतस्तत्र गतः पञ्चविधान् द्विविधानपि मारितवानित्याह तत्राविध्यदिति।

आभासार्थ—अतः वहां जाकर पंचविध और द्विविधों को भी मारा, जिसका वर्णन 'तत्राविध्यत्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् शूकरान् महिषान् रुरून्।**
शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणान् शशशल्लकान् ॥१५॥

श्लोकार्थ—वहाँ बाणों से व्याघ्र, शूकर, भैंसे, रुरू, शरभ, रोज, गैंडे, हरिण, खरगोश और श्याही इनको बींधने लगे ॥१३॥

सुबोधिनी—शरैर्न तु कपटैः। व्याघ्रा महिषा रुरवश्च त्रयो दुष्टत्वेन मारणीयाः। तेषां चर्मनखाद्युपयोगः। शल्यका अपि कठिना इति तैः सहोक्ताः। परं भक्ष्याः। शरभादयश्च षट्। तत्र शरभगवयावभक्ष्यौ। शूकरश्चेत्पूर्वमुक्तः, तदापि भक्ष्यः। पञ्च भक्ष्याः, पञ्चाभक्ष्याश्चेति दश निरूपिताः ॥१५॥

१– तरकश–जिसमें तीर रखे जाते है, २—शेर आदि, ३—मृग

व्याख्यार्थ—शरों से मारने लगे न कि कपट से व्याघ्र, भैंसे और रुरु[1] ये तीनों दुष्ट हैं इसलिये मारने योग्य हैं। उनके चर्म और नख आदि काम में आते हैं। श्याही पशु भी कठिन हैं, इस कारण साथ में ही कहे गये है, किन्तु खाने योग्य हैं। शरभ[2] से लें के जो ६ नाम हैं, उनमें से शरभ और गवय (रोज) खाने योग्य नहीं हैं शूकर का आगे कहा ही है, तो भी भक्ष्य हैं, पांच पशु खाने योग्य हैं और पांच खाने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार का दश का निरुपण किया है ॥१५॥

आभास—तत्रोत्तमानां कर्मोपयोगमाह तान्निन्युरिति।

आभासार्थ—'तान्निन्युः' श्लोक से वहां उत्तमों के कर्म का उपयोग कहते है—

श्लोक—**तान्निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते।**
तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उन पवित्र कर्म के योग्य पशुओं को पर्वणी निकट थी, इसलिए राजा के नौकरों ने वे लाकर राजा को अर्पण किए, अर्जुन प्यासा होने और थकावट के कारण यमुना पर गया ॥१६॥

सुबोधिनी—किङ्करा इति महिषगर्दभादिभिस्तन्नयनप्रतिषेधः। यतो मेध्याः। तत्रापि पर्वण्यष्टकादावुपस्थिते ॥१६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में शिकार किये हुए पशुओं को ले जाने वाले 'नौकर' कहे हैं। नौकर क्यों ले गये ? इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जिन पशुओं को ले जाना था, वे पशु मेध्य[3] थे, अष्टकादि पर्वणी निकट थी, इसलिये गर्दभ और भैंसों पर नहीं ले गये, क्योंकि यज्ञ के लिये ले जाने वाने वाला पवित्र पदार्थ उन पर ले जाने का शास्त्रों में निषेध है, अतः नौकर ले गये ॥१६॥

आभास—तत्र सङ्गे मृगा इव कन्याप्युपलब्धेत्याह तत्रोपस्पृश्येति।

आभासार्थ—'तत्रोपस्पृश्य' श्लोक में कहते हैं कि वहां पशुओं की तरह 'कन्या' भी प्राप्त की।

श्लोक—**तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ।**
कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥

१—एक प्रकार के हरिण, २—आठ पांव वाला हरिण।
३—पवित्र-यज्ञ में काम आने वाले थे।

श्लोकार्थ—वहाँ आकर दोनों महारथी कृष्ण और अर्जुन ने स्नान किया और जल पीकर बैठे तो उनकी दृष्टि में एक सुन्दर कन्या इधर-उधर घूमती हुई देखने में आई ॥१७॥

सुबोधिनी—उपस्पर्शनं स्नानम्। ततः पानम्। विशदत्वात् न जलानयनसङ्ग्रहः। महारथाविति स्त्रीदर्शने न शङ्का। उभावपि कृष्णाविति भगवत्तेज एव विभक्तमिति न दर्शने दूषणम्, कन्यात्वाच्च। तत्रापि चरन्ती यमुनातीरे परिभ्रमन्ती भगवन्तं द्रष्टुमागता। चारु दर्शनं यस्या इति सापि पश्यतीति निरूपितम्। तेन प्रश्नादिकं न विरुद्धमिति भावः॥१७॥

व्याख्यार्थ—'उपस्पृश्य' का अर्थ है स्नान कर अनन्तर जल पीया। विशद होने से जल लाकर सङ्ग्रह की आवश्यकता नहीं थी। दोनों महारथी थे, इसलिये स्त्री के देखने में किसी प्रकार शङ्का नहीं दोनों कृष्ण थे, क्योंकि भगवान् का ही तेज, दो रूपों में विभक्त होकर दर्शन दे रहा था। इसलिये स्त्री के देखने में कोई दोष नहीं है, और वह स्त्री अब तक कन्या ही थी, इसके अलावा वह भगवान् के दर्शन करने के लिये यमुनाजी के तट पर फिर रही थी एवं सुन्दर रूप वाली भी थी, एवं वह स्वयं भी देख रही थी, इससे यह भी निरुपण किया है, इससे उससे' प्रश्नादिक करना विरुद्ध नहीं है यह भाव है॥१७॥

श्लोक—**तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम्।**
पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम्॥१८॥

श्लोकार्थ—सुन्दर दाँतोंवाली, मनोहर मुखवाली, स्त्रियों में उत्तम, उस कमनीय कमरवाली के पास भगवान् का भेजा हुआ अर्जुन आकर पूछने लगा॥१८॥

सुबोधिनी—भोग्यरूपा सेति लौकिकन्यायेनैव ग्राह्येति स्वयं गते अर्जुनस्य वैमनस्यं स्यादिति शक्तिः समा स्थापितेति भगवतैव अर्जुनः प्रेषितः पप्रच्छ। वरारोहात्वात् कालो विलम्बं न सहते। सुद्विजामिति लक्षणानि निरूपितानि। रुचिराननामिति रसवत्त्वम्। सख्या प्रेषणान्न कपटकरणम्। फाल्गुनो जितेन्द्रियश्च। पञ्चाप्सरउद्धारे फाल्गुने अनन्तशयने पञ्चाप्सरसां तत्स्पर्शेन मुक्तिप्रतिपादनात्, तथात्रापि तत्सम्भाषणात् सा भगवन्तं प्राप्स्यतीति तद्वचनं न दूषणम्। न वदिष्यतीत्याशङ्क्याह प्रमदोत्तमामिति। प्रकृष्टेन मदो यासाम्, ता एव वदन्ति। तासामपीयमुत्तमा॥१८॥

व्याख्यार्थ—देखी हुई, वह भोग के योग्य रूप वाली है, इस कारण से उसको लौकिक रीति से ही ग्रहण करना चाहिये। यदि भगवान् स्वयं उससे पूछने के लिये पधारते तो कदाचित् अर्जुन के मन में विषमता उत्पन्न हो जावे इसलिये आपने अर्जुन को ही भेजना,नीति योग्य समझकर भेजा। वह कमनीय कमर वाली है, इसलिये काल उनसे मिलने मे विलम्ब सहन नही कर सकता है। अब उसके लक्षण बताते हैं कि सुन्दर दाँतों वाली है, मनोहर मुखारविन्द वाली है, जिससे उसके मुख में वा

उसमें रस है। मित्र ने भेजा है इसलिये अर्जुन कपट भी नहीं कर सकता है तथा अर्जुन जितेन्द्रिय भी हैं, कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि अर्जुन ने स्पर्श मात्र से पांच अप्सराओं का उद्धार कर दिया। वैसे यहां भी उसके साथ केवल सम्भाषण करने से वह भगवान् को प्राप्त करेगी, इसलिये उसका प्रश्नोत्तर दूषण रूप नहीं है। अर्जुन तो पूछने गया, किन्तु ऐसी वह इससे बोलेगी नहीं, ऐसी शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि जब जो विशेष मदवाली हैं। वे भी ऐसी विषय में प्रेम से बोलती है, तब तो यह उनमें उत्तम होने से अवश्य बोलेगी ॥१८॥

श्लोक—का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे सुश्रोणि ! तूं कौन है ? किसकी है ? कहाँ से आई है ? क्या करना चाहती है ? हे शोभने ! मेरे ध्यान में तो यों आया है कि तूं पति की इच्छा कर रही है, अतः सब वृत्तान्त मुझे कह दे ॥१६॥

सुबोधिनी—का त्वमिति प्रश्नचतुष्टयम्। स्वरूपतः का देवनारी, अन्या वा काचिदिति। **कस्यासीति** सम्बन्धी पित्रादिः पृष्टः। **सुश्रोणीति** सम्बोधनम्। अत्र स्थितिरयुक्तेति सूचितम्। कुतो वात्र समागतेति। दैवगत्या समागमने दोषाभावार्थं किं **चिकीर्षसीति** स्थिरतया पृच्छ्यते। यतो नेयमुद्विग्ना, नाप्यन्यत्र गन्तुमिच्छती। अतस्तपस्यादिकं चिकीर्षितं पृष्टम्। तत्स्वस्य हितकारि न भवतीति स्वहितं सम्भावनया पृच्छति **मन्य** इति। पञ्चापि प्रश्ना वक्तव्याः। अन्यथा परिग्रहो न युक्त इति। **सर्वं कथय शोभने** इति तस्या भयाभावः, स्वस्य प्रीतिरपि सूचिता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—अर्जुन ने उससे 'तूं कौन है ? आदि ४ प्रश्न पूछे, स्वरूप से तूं देवस्त्री है वा किसी दूसरी जाति की है ?' किसकी है, इससे यह पूछा कि तेरे पिता आदि सम्बन्धी कौन है ? हे कमनीय कमर वाली। यह सम्बोधन देकर उसको सूचित किया कि तुझे ऐसे स्थान में इस प्रकार एकाकी नहीं फिरना चाहिये। यहाँ आने का क्या कारण है ? यदि आ भी गई है, उस दैव दोष[1] निवारण के लिये क्या करना चाहती है ? यह प्रश्न इसलिये किया है कि वह उद्विग्न नहीं है और कहीं दूसरे स्थान पर जाना नहीं चाहती है, इससे तपस्या आदि करने की इच्छा है ? यों पूछा। यदि यह तपस्या करनी चाहती है तो उससे अपना हित न होगा, क्योंकि हमको यह मिलेगी नहीं, जो हम चाहते हैं, इसलिये सम्भावना से पूछता है कि मैं समझता हूं कि तूं पति की इच्छा कर रही है। इस तरह पांच प्रश्न करने चाहिये, यदि यों पांच प्रश्न न किये जायेगे तो परिग्रह उचित न

१—टिप्पणी में 'दोषाभावार्थ' के स्थान पर' समागमनार्थ' पाठ माना है इस पाठ के अनुसार अर्थ यों हो सकता है कि, दैवगति से जिस पति के प्राप्ति के लिए आगई है तो उसकी प्राप्ति के लिए क्या तप आदि करना चाहती है ?

होगा। अतः हे शोभने ! सब कह दो, शोभने ! सम्बोधन से उसको निर्भय होने को सूचित किया तथा अपनी प्रीति की सूचना भी दी है ॥१६॥

आभास—अतः कालिन्दी तन्निषेधार्थं भगवन्तमेव वरिष्यामीति पृष्टानर्थानाह अहं देवस्येति।

आभासार्थ—अर्जुन ने जो प्रश्न किये उनके उत्तर में कालिन्दी 'अहं देवस्य' श्लोक में कहती है कि मैं भगवान् को ही वरूँगी।

श्लोक—कालिन्द्युवाच—**अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती।**
विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥२०॥

श्लोकार्थ—कालिन्दी कहने लगी कि मैं सूर्य नारायण देव की कन्या पति चाहती हूँ। वह भी वरद, वरेण्य विष्णु ही, न कि अन्य कोई। अतः परम अर्थात् शीघ्र फल देने वाले तप में स्थित हूँ ॥२०॥

सुबोधिनी—देवतात्वाज्जातिरुक्ता। सवितृत्वात् तत्र नासम्भावना। दुहितृत्वाद्देयैव। अतो न कस्याप्यपराधः सम्भाषणे। त्वत्कल्पितमपि सत्यमेवेत्याह **पतिमिच्छतीति**। तद्वारणार्थमाह **विष्णुमिति**। तत्र हेतुः **वरेण्यमिति**। सर्वैरेव वरणीयो भगवान्। तत्रापि हेतुः **वरदमिति**। वरं ददातीति वरणीयो वरः। तेन **आत्मदस्त्ववर्थादु**क्तम्। 'किमर्थमागते'त्यस्य 'किं चिकीर्षसी'त्यस्य च उत्तरमाह तपः **परममास्थितेति**। **परमं** शीघ्रफलपर्यवसायि। **आस्थितेति** फलप्राप्तेः पूर्वं न निवृत्तिः सूचिता ॥२०॥

व्याख्यार्थ—देव पद देने से अपनी देव जाति बताई है। मेरे देवत्व में किसी प्रकार असम्भावना नहीं, कारण कि मेरे पिता जी सूर्य नारायण देव हैं, मैं उनकी कन्या हूं, अतः अब देने योग्य हूं अर्थात् अविवाहित हूं। इसलिये कोई भी मुझ से भाषण करे, वा मैं भी किसी से करूँ तो दोष नहीं है। तुमने जो कल्पना की है, वह सत्य है। मैं वास्तव में पति की कामना वाली हूं, किन्तु वह अन्य कोई नहीं, विष्णु ही चाहती हूँ। कारण कि वह वरण योग्य है, सब उनका ही वरण करते हैं, क्योंकि भगवान् अर्थात् षड्गुण सम्पन्न हैं। उनमें भी कारण है कि वर को देते हैं अर्थात् मनकी इच्छा पूर्ण करते हैं। जो इच्छा पूरण करे वही 'वर' हो सकता है। यों कहने से बताया कि वे अपने को भी दे देते हैं : क्यों आई हो ? क्या करना चाहती हो, जिसका उत्तर देती है मैं उस तपस्या में पूर्णतया स्थित हूँ जिससे शीघ्र ही फल की प्राप्ति हो जावे। पूर्णतया स्थित कहने का भावार्थ यह है कि फल प्राप्त किए बिना मैं लौटना नहीं चाहती हूँ ॥२०॥

आभास—सर्वस्यापि विष्णुत्वात् तादृशसुखदानसमर्थः। लोकन्यायेन तद्विभूतिः वरणीयोऽपि भवतीति, अन्येषां ततो हीनानां वरदानसमर्थोऽपि कश्चिद्भविष्यति, कश्चि-

दात्मानं वा तथा मन्यत इत्याशङ्क्य निषेधति **नान्यं पतिं वृण** इति ।

आभासार्थ　विष्णु होने के कारण सब को वैसा सुख देने में समर्थ है : यद्यपि लोक न्याय से उसकी विभूति भी वरण योग्य होती है. कोई ऐसा भी होगा जो अन्य हीनों को दान देने में समर्थ होवे । कोई ऐसा भी है, जो अपने को वैसा मानते है । ऐसी शङ्का उठाकर उसका उत्तर देती हुई 'नान्यं पति' श्लोक में भगवान् से इतर को मैं वरूंगी ही नहीं, ऐसे मना करती है ।

श्लोक—नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम् ।
तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! जिसको लक्ष्मी ने वरा है, जिसके पास सदैव लक्ष्मी रहती है, उस पति के सिवाय अन्य को न वरूँगी । वह अनाथों का आश्रय, मुकुन्द भगवान् मुझ पर प्रसन्न हो ॥२१॥

सुबोधिनी—भक्तिदातारं भगवद्दातारं वा तत्त्वेन वृणे, न तु पतित्वेन । **वीरेति** धर्मसम्बोधनाद्बलात्पक्षो निवारितः । **अवीरेति** वा स निराकृतः । स चेत् स्वसायुज्यं प्रापयित्वा तथाभूताय प्रयच्छति, तदा परं न जान इत्यभिप्रायेणाह **तमृत** इति । तस्य परिज्ञाने नियमे च हेतुमाह **श्रीनिकेतनमिति** । लक्ष्म्या स एव वृत इति लक्ष्मीसहितो वा । श्रीवत्साङ्को भगवानिति तस्य परिज्ञानम् । ननु भगवान् 'नाहं वेदै'रिति वाक्यात् तपसा न सिद्धो भविष्यतीति चेत्, तत्राह **तुष्यतामिति** । स हि वरदो भवति । तत्रेदमेव प्रथमं याचे तुष्यतामिति । ततस्तुष्टे अन्यद्याच इत्यभिप्रायः । मे मह्यम् प्रति । यतः सः लक्ष्म्या अपि प्रसन्न । ननु वाक्यं बाधकमिति चेत्, तत्राह **भगवानिति** । ईश्वरत्वान्न नियम्यः कस्यचित् । नन्वीश्वरस्यैवैतद्वाक्यमिति चेत्, तत्राह **मुकुन्द** इति । यदि निषिद्धाना साधनानां प्रयोजकता न स्यात् भगवत्प्रसादे, तदा कस्यापि मोक्षो न सिध्येत् । अतः स्वतन्त्रभक्तिविषयं तादृशरूपदर्शनविषयं वा तद्वाक्यमिति मन्तव्यम् । किञ्च । मास्त्वस्मत्साधनम्, स स्वधर्मविचारेणापि सन्तुष्टो भवत्वित्याह **अनाथसंश्रय** इति । येषां न कोऽपि नाथः, तेषां सम्यगाश्रयो भवति, दीनदयालुत्वात् । अन्यो मा तुष्यतामिति निषेधार्थं वा। नात्र संशय इति वा भवति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—भक्ति देने वाले तथा षड्गुणैश्वर्य देने को तत्व से वरण करती हूँ न कि पति पन से । हे वीर ! इस सम्बोधन से बताया है कि यह जो पक्ष मैं कह रही हूँ वह बलात मैंने स्वीकार नहीं किया है, परन्तु अपनी इच्छा एवं प्रेम से किया है । अथवा यदि सन्धिविच्छेद कर 'हे अवीर' पद लिया जाय तो इसका आशय होगा कि आप वीर नहीं हैं, इसलिये उनकी विभूति होने पर भी, आपको न वरूँगी, यदि वह सायुज्य देकर वैसे को दे देवें तब उस गुप्त आशय को मै नहीं जानती हूँ, किन्तु मेरा मन्तव्य (हार्दिक इच्छा) तो यह है, कि उनके सिवाय दूसरे को नहीं वरूँगी, क्योंकि उनका मुझे ज्ञान है तथा नियम की भी सुधि है । उसमें कारण कहतो है–'श्री निकेतनं' लक्ष्मी ने उनको ही वरा है, यों, या लक्ष्मी सहित है, कौस्तुभ मणि के चिन्ह वाले भगवान् हैं, इस प्रकार ज्ञान

है। भगवान् तो 'नाहं वेदैः' वाक्य से कहते हैं कि मैं तपस्या से नहीं प्राप्त होता हूँ इससे वह तपस्या से नहीं मिलेंगे। इस पूर्वपक्ष का उत्तर देती है कि प्राप्त तो वह अपनी तुष्टि से ही होते हैं, तपस्या से वह प्रसन्न हो, (प्रसन्न होने पर ही) 'वरद' बनते है, इसलिये प्रथम प्रसन्नता की याचना करती हूँ। अनन्तर मेरे लिये अन्य की याचना करूँगी, वह लक्ष्मी पर भी प्रथम प्रसन्न हुए। तू कहती है वह ठीक है, किन्तु 'नांह वेदैः' वाक्य बाधक है। यदि यों कहो तो इस पर मेरा उत्तर है कि यदि इस वाक्य से भगवान् की प्राप्ति में जिन साधनों को निषिद्ध कहा है, तो उनकी, (भगवान् की) प्रसन्नता में प्रयोजकता न होगी, जिससे मुक्ति की प्राप्ति किसी को न होगी? यदि कोई भी मुक्त न हुआ तो 'मुकुन्द' नाम की सार्थकता जाती रहेगी, अतः उस वाक्य का भावार्थ यह है कि इन साधनों से स्वतन्त्र भक्ति तथा वैसे रसरूप स्वरूप का दर्शन, नही हो सकता है। विशेष में कहती है कि मेरा साधन फलीभूत न हो, किन्तु आप अपना धर्म विचार कर तो प्रसन्न होवे, आप 'अनाथाश्रय' हैं अर्थात् जिनका कोई नाथ नहीं है उनको पूर्ण आश्रय देने वाले आप ही हैं, क्योंकि दीन दयालु हैं, अथवा दूसरा कोई मत प्रसन्न हो, यह निषेध वास्ते है, वा इसमें कोई संशय नहीं है ॥२१॥

आभास—नामस्थानादीन्याह कालिन्दीतीति।

आभासार्थ—'कालिन्दीति' श्लोक में नाम स्थान आदि बताती है।

श्लोक—कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले।
निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—मैं कालिन्दी नाम से प्रसिद्ध हूँ। यमुनाजल में पिता के बनवाए गृह में तब तक रहूँगी, जब तक अच्युत के दर्शन न होंगे अर्थात् वह नहीं मिलेंगे ॥२२॥

सुबोधिनी - कलिन्दपर्वते तद्रूपेण समागतात् सूर्याज्जातेति पार्वत्या इव ममापि नियम इति सूचितम्। **वसामि यमुनाजल** इति दुर्गस्थितिरुक्ता। अनेन यमुनायास्तस्याश्च भेदः प्रदर्शितः। पर्वतभावापन्नादियमाधिदैविकी कालिन्दीत्येव नाम्ना विश्रुता उत्पन्ना। सा तु यममुत्पाद्य पश्चात्। तद्दोषपरिहारार्थं यमुनामुत्पादितवान्। उभयोरैक्यात् आधिदैविकाधिभौतिकवत् स्थितत्वात् लोके अभेदेन प्रयोगः। नापि तपतीवत् शापान्नदीत्वम्, पूर्वमेव नदीरूपस्य विद्यमानत्वात्। नाप्याध्यात्मिकं देवतारूपम्, तथा सति यमुनापरित्यागासम्भवात्। अनुग्रहनिग्रहयोरेव तदभिव्यक्तेश्च। सर्वथा च भेदकं सूर्यतनयात्वात् लोके प्रसिद्धचभावाच्च नास्तीत्याधिदैविकत्वं कल्प्यते। अत्रैव स्थितौ नियामकमाह **निर्मिते भवने पित्रेति**। सूर्येण यमुनाजले भवनं निर्माय भगवदर्थं स्थापिता। अतो यावदच्युतदर्शनं तत्र स्थास्यामि, ततो भगवद्गृहं गमिष्यामि, न तु भगवानत्र स्थाप्यः। अत्रैव स्थितायाः परिग्रहो वा न नियम्यते ॥२२॥

व्याख्यार्थ—मेरा जन्म कालिन्द पर्वत पर, कलिन्द पर्वत रूप धारण कर आये हुए सूर्य नारायण से हुआ है, अतः मैं सूर्य की पुत्री हूँ। जैसे पर्वत से उत्पन्न पार्वती का प्रण शङ्कर को ही वरण करने का था, वैसे ही मेरा भी विष्णु को प्राप्त करने का है, यह सूचित किया। मैं यमुनाजल

में यों रहती हूँ, जैसे दुर्ग में रहा जाता है, इस प्रकार कहकर अपना और यमुना का भेद दिखा दिया है। यह कालिन्दी आधिदैविकी है, न कि आधिभौतिकी; क्योंकि सूर्यनारायण आधिदैविक रूप कलिन्द पर्वत थे, इसलिए 'कालिन्दी' नाम से उत्पन्न हुई हूँ एवं प्रसिद्ध हुई हूँ। सूर्यनारायण ने पहले यम को उत्पन्न किया। उसके उत्पन्न करने से जो दोष लगा, उसको मिटाने के लिए पश्चात् यमुना को उत्पन्न किया। दोनों यमुना और कालिन्दी का परस्पर ऐक्य आधिदैविक आधिभौतिक के समान होने से लोक में दोनों की एक रूप से प्रसिद्धि है। इसका 'तपती' की भाँति शाप से नदीपन नहीं हुआ है। प्रथम नदीरूप विद्यमान था, न कि आध्यात्मिक देवरूप था। यदि वह रूप हो तो यमुना का परित्याग कर न सके। अनुग्रह और निग्रह में ही उसके अभिव्यक्ति का हेतु है। दोनों सूर्य की पुत्रियाँ हैं। लोक में वैसी प्रसिद्धि न होने से सर्वथा भेद नहीं है। जिससे आधिदैविक स्वरूप से प्रकट सूर्यदेव ने कलिन्द होकर इसको जन्म दिया, यह कल्पना की जाती है। यहाँ जल में ही रहने में नियामक कारण बताती है। मेरे जनक सूर्यदेव ने यमुनाजल में भवन तैयार कराकर उसमें मेरा निवास भगवान् की प्राप्ति तक रखा। अतः जब अच्युत भगवान् के दर्शन होंगे, तब इस भवन का त्याग कर भगवान् के भवन में जाकर रहूँगी। यहाँ भगवान् को स्थापित न करूँगी, कारण कि यहाँ ही निवास करने से परिग्रह का नियमन न हो सकेगा॥२२॥

आभास—एवं तस्याः संवादेन रूपमवगत्य यथार्थमेवावदिदित्याह **तथावददिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार सम्वाद से उसके स्वरूप को जानकर जो यथार्थ है, वह 'तथावदत्' श्लोक में कहने लगे।

श्लोक—तथावददगुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् ।
रथमारोप्य तद्विद्वान्धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—अर्जुन ने भगवान् को कालिन्दी ने जो कहा, वह सुनाया उसका यथार्थ जानने के लिए भगवान् उसको रथ में बिठाकर धर्मराज के पास ले गए ॥२३॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुः गुडाकेश इति । गुडाकाया निद्रायाः व्यामोहिकायाः ईश इति । सोऽपि मोक्षदाता । वासुदेवः तस्यास्तं निर्बन्ध दूरीकुर्वन् तां रथमारोप्य तमर्थं यथार्थं विद्वान् निदर्शनरूपं धर्मनिर्णायकं वा धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उसमें कारण कहते हैं कि अर्जुन व्यामोह करने वाली निद्रा का स्वामी है और वह वासुदेव मोक्षदाता हैं। उसके[1] आग्रह को दूर करते हुए, यथार्थ अर्थ को जानने वाले भगवान् वासुदेव उस (कालिन्दी) को रथ में बिठाकर, उदाहरण रूप अथवा धर्म के निर्णय करने वाले धर्मराज के पास ले आए ॥२३॥

१- कालिन्दी के,

आभास—एवं साधनशक्तिसिद्ध्यर्थं तां गृहीत्वा पश्चात् भक्तार्थं विश्वकर्मादीनाज्ञापयदित्याह यदैव कृष्ण इति ।

आभासार्थ—इस साधन शक्ति की सिद्धि के लिए उसको लेकर, पश्चात् भक्तों के लिए विश्वकर्मा आदि को आज्ञा दी, जिसका वर्णन 'यदैव' श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**यदैव कृष्णः संदिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।**
कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ।।२४।।
भगवांस्तत्र निवसन्स्वानां प्रियं चिकीर्षयन् ।
अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ।।२५।।

श्लोकार्थ—जैसे ही पाण्डवों ने नगर बसाने के लिए भगवान् की प्रार्थना की, वैसे ही आपने विश्वकर्मा से अत्यन्त अद्भुत विचित्र नगर रचवाया ।।२४।।

अपने भक्तों का प्रिय करने की इच्छा से आप खाण्डव को अग्निदेव की भेंट करने के लिए कुछ काल वहाँ विराजे और अर्जुन के सारथी बने ।।२५।।

सुबोधिनी—नायं तस्य कृतिनिर्बन्धः । यदैव मनसा वा तत्कृत्वा समानीय वा स्थितः सन् पाण्डवैः संदिष्टः । भगवत्कर्तव्यमेव संदेशनियमेन ज्ञापितवान् । तदैव परमाद्भुतं नगरं विश्वकर्मणा कारयामास । भगवानपि मनसा सृजेत्, ततश्च तत्र दोषा न प्रभविष्यन्तीति, गर्वाद्यभावे दुर्योधनादीनां निराकरणं न भवतीति विश्वकर्मणैव कारयामास ।२४।।

विश्वकर्मापि भगवदुपयोगाभावे ज्ञाते न सम्यक्करोतीति भगवांस्तत्र निवसन्नेव कारयामासेति पूर्वार्धमुभयत्र सबध्यते । तर्हि स्थितिः स्वार्थापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वानामेव प्रियं चिकीर्षयन्** । न केवल स्थानमुत्कृष्टं दापितवान्, किन्तु साधनान्यपीत्याह **अग्नये खाण्डवं दातुमिति** । भगवांस्तत्र निवसन्नित्यनुवर्तते । अन्यथा अग्निरपि सतुष्टो न भवेत् । भगवान् भक्तानां हितार्थं गुणभावमपि प्राप्तवानिति वक्तुमर्जुनस्य **सारथिरासेत्युक्तम्** ।।२५।।

व्याख्यार्थ—यह उसकी[1] कृति का आग्रह नहीं है, क्यों कि श्रीकृष्ण ही सब के स्वामी हैं । जब ही भगवान् मन में अथवा उनको पास बुलाकर स्थित हुए, तब पाण्डवों ने प्रार्थना की अर्थात् यह प्रार्थना भगवान् के मन द्वारा भगवान् को की गई है । जैसे किसी को संदेश द्वारा कहा जाता है वैसे यहाँ भी भगवान् को जो करना चाहिये वह संदेश की भाँति कहा गया है । अर्थात् संदेश भेजने वाले भगवान् सुनने वाले भी भगवान् ही हैं, तब ही परम अभ्दुत नगर विश्वकर्मा से निर्माण कराया ।

१- अर्जुन के,

विश्वकर्मा से बनवाने का कारण यह था कि दूसरे से बनवाने से दुर्योधन आदि का निराकरण नहीं होता था। यों तो भगवान् मन से भी बना लेते और उसमें किसी प्रकार के दोष भी नहीं होते ॥ २४ ॥

यदि विश्वकर्मा जानते कि यह नगर भगवान् के उपयोग में न आएगा तो, सुन्दर न बनाता, इसलिये आप वहां विराजमान होकर बनवाने लगे, जिससे उसको[1] विश्वास हो गया कि इसमें भगवान् विराजेंगे, अतः अतीव अद्‌भुत नगर बनाने लगा। तब तो भगवान् अपने लिये बनवाते हैं? इस शका के मिटाने के लिये कहते हैं कि 'स्वानामेव प्रियं चिकिर्षयन्' भगवान् अपने सम्बन्धी सुहृदों का प्रिय करने की इच्छा करते थे, इसलिये अपने लिये ही नहीं, किन्तु सुहृदों के सुख के लिये यह कार्य करवाया है। भगवान् ने केवल उत्तम स्थान ही तैय्यार नहीं करवाया किन्तु आप वहां बिराज कर खाण्डव वन को अग्नि को दे दिया। यदि भगवान् यों न करते तो 'अग्नि देव' प्रसन्न न होते। भगवान् भक्तों के हित के लिये गुणरूप भी धारण करने लगे, जैसे कि आप अर्जुन के सारथी बने, सारथी का कार्य गुण रूप का कार्य है ॥ २५ ॥

आभास—गुप्ततयापि स्थित्वा अर्जुननाम्नैव इन्द्रादिजयं करिष्यामीति भगवद-ध्यवसायं ज्ञात्वा अग्निरप्यर्जुने संतुष्टो जात इत्याह **सोऽग्निस्तुष्ट** इति।

आभासार्थ—गुप्त रहकर भी, अर्जुन नाम से इन्द्रादिकों को जीतूंगा, इस प्रकार भगवान् का निश्चय देख, अग्नि देव भी अर्जुन पर प्रसन्न हुआ, जिसका वर्णन 'सोऽग्निः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोकार्थ—सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयान्श्वेतान्रथं नृप।
अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हेराजन्! उस अग्नि ने प्रसन्न होकर, अर्जुन को धनुष, श्वेत घोड़, अक्षय तरकस, अस्त्रों से अकाट कवच दिया ॥२६॥

सुबोधिनी—अग्नेः पञ्चाङ्गानि पञ्चापि दत्तवान्। 'धनुर्यज्ञादुत्पन्नमिषवश्च वज्रजन्मा ही'ति श्रुतेः। श्वेताः हयाः सात्त्विकाः मथनादुद्भूताः आग्नेया एव। अक्षयतूणीरावपि साहचर्यादाग्नेयौ। सर्वैरेवास्त्रिभिरभेद्यं वर्म दैवत्यमपि 'अग्निः सर्वा देवता' इत्याग्नेयमेव ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अग्नि के पाँच अङ्ग हैं। वे पांच ही अर्जुन को दिये। यज्ञ से 'धनुष' उत्पन्न हुआ है, तीर भी यज्ञ से जन्मे हैं, योंश्रुति में कहा है कि अग्नि के मथन के समय, सात्विक घोड़े पैदा हुए हैं, अतः वे भी आग्नेय हैं। अर्थात् अग्नि से उत्पन्न हुए हैं। अक्षय तरकस भी साथ रहने वाले होने से आग्नेय माने जाते है। सब अस्त्रों से भी अभेद्य

१—विश्वकर्मा को।

'वर्म अर्थात् कवचा ये पांचों ही दैवत्य हैं, इसलिए कहा है, 'अग्निः सर्वाः देवताः' जिसका तात्पर्य है कि ये अग्नि के ही सम्बन्धी अङ्ग है ॥२६॥

आभास—अन्यदपि दापितवानित्याह मयश्च मोचित इति ।

आभासार्थ—अन्य भी दिलाया यह वर्णन 'मयश्च' श्लोक में करते हैं--

श्लोक—मयश्च मोचितो वह्नेः सभां उपाहरत् ।
यस्मिन्दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशि भ्रमः ॥२७॥

श्लोकार्थ—और वहां अग्नि से मय को बचाया, इस कारण से मय ने अर्जुन को एक सभा दी, जिसमें दूर्योधन को जल में थल का और थल में जल का भ्रम हुआ॥२७॥

सुबोधिनी—अत्राशेषविशेषकथा भारतादनुसन्धेया। वह्नेर्मोचितो मयः सख्ये सभामुपाहरत्। भगवता मोचितः भगवते स्वकार्यं दातुमयुक्तम्, भगवति न प्रभवतीति च, उपकारश्च कर्तव्यः, अत साक्षाद्दातुमशक्तः सख्ये अर्जुनायोपाहरत्। सख्ये दत्तं च भगवान् मन्यते। यद्यप्यर्जुनः सखा तथापि तत्सम्बन्धात् राज्ञे दत्तमिति। तस्या उपयोगमाह **यस्यामिति**। जले स्थलभ्रमः, स्थले च जलभ्रम इति। वस्तुनि न भ्रमः, किन्तु दृश्येव ॥२७॥

व्याख्यार्थ—मय की समग्र कथा भारत से जाननी। वन्हि से छूटे हुए मय ने मित्र[1] को एक सभा दी। भगवान् ने छुडाया और भगवान् को अपना कार्य देना उचित नहीं समझा। भगवान् पर इसका प्रभाव न पड़ेगा, और उपकार तो करना चाहिए अन्यथा कृतन्धता देखने में आएगी। अतः साक्षात् भगवान् को देने में अशक्त होने से उनके मित्र अर्जुन को दी। मित्र को मिली हुई वस्तु अपने को मिली मानेंगे। यद्यपि मित्र तो अर्जुन ही है, तो भी उसके सम्बन्धी होने से राजा को दी। उसका[2] उपयोग कहते है कि जिसमें दूर्योधन को जल में स्थल का भ्रम हुआ और स्थल में जल का भ्रम हुआ था। यह भ्रम वस्तु में नहीं था, किन्तु दूर्योधन की दृष्टि में भ्रम हुआ था ॥२७॥

आभास—एवं मुख्यशक्त्या ऐश्वर्यरूपया स्वरूपज्ञानरूपया वा यावत्कर्तव्यं तत्कृत्वा तावत्तामात्मसादकृत्वा अन्यथा अन्यथा सर्वात्मना अन्योपकारो न भवतीति तस्या विवाहं कर्तुं भगवान् द्वारकां गत इत्याह स तेनेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने ऐश्वर्य रूप अथवा स्वरूप के ज्ञान रूप मुख्य शक्ति से जितना करना चाहिए था वह करके उससे उसको आत्मसात्[3] न करके, अन्यथा यदि अपने काबू में करले तो सर्वात्म रूप से दूसरों का उपकार न हो सकता, यों उससे विवाह करने के वास्ते भगवान् द्वारका गए, जिसका वर्णन 'स तेन' श्लोक में करते हैं।

१—अर्जुन, २-सभा का, ३- अपने आधीन

श्लोक—स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ।
आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः ॥२८॥

श्लोकार्थ—वे राजा अर्जुन उस मय से परामर्श ले सुहृदों से अनुमोदित हो सात्यकि आदि मुख्य यादवों को साथ कर, द्वारका लौट आए ॥२८॥

सुबोधिनी—सोऽर्जुनः सखा राजा वा । तेन मयेनार्जुनेन वा सम्यगनुज्ञातः स्वस्य कृतकार्यत्वं ज्ञात्वा सर्वैरेव बन्धुभिर्गमनं कृतं चानुमोदितः, चकाराद्देवैरपि । स्वकृतं सर्वजनीन जातमिति ज्ञापयितुमेतदुक्तम् । यैः सह गतः तैः सह पुनरागत इति । कृत्यैव ते कृतार्थाः कृता इति न सहायार्थं तेषामुपयोगः कर्तव्य इति सूचितम् । अतः सात्यकिप्रभृतयस्तत्र न विनियुक्ताः । नयनानयने तु विवाहस्य प्रामाणिकत्वज्ञापके ॥२८॥

व्याख्यार्थ—'सः' उनने सखा अर्जुन अथवा राजा, 'तेन', मय से वा अर्जुन से अच्छी तरह परामर्श पूर्वक अनुमति ले, अपना कार्य पूर्ण हुआ जान कर, समस्त बान्धवों के साथ गमन किया और उन्होंने इसकार्य का अनुमोदन भी किया । च' पद का भावार्थ है कि देवों ने भी अनुमोदन किया । यों कहने का तात्पर्य है, कि जो हमने किया, वह सर्व जनता को पसंद आया है । जिनके साथ गए उनके साथ लौटे । अपने कार्य से सब को कृतार्थ किया । इससे यह सूचित किया कि सहायता के लिए उनका उपयोग कर्तव्य नहीं है । अतः सात्यकि प्रभृति यादवों को उस काम में नहीं लगाया था । ले जाना और ले आना ये दोनों तो विवाह की प्रामाणिकता को जताने वाले हैं ॥२८॥

आभास—अतः सर्वसम्मतां पश्चात्तामुपयेम इत्याह अथेति ।

आभासार्थ—अतः सर्व की सम्मति से उससे पश्चात् विवाह किया वह 'अथ' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अच्छा पवित्र बलवान् ऋतु तथा नक्षत्र देख अपने बान्धवों को परम आनन्द एव मङ्गल देते हुए भगवान् ने कालिन्दी से विवाह किया ॥२९॥

सुबोधिनी—सुष्ठु पुण्ये नक्षत्रे । ऊर्जिते सर्वग्रहानुगुणे । पुण्यनक्षत्रं वैदिकम् । ऊर्जितत्वं ज्योतिः-शास्त्रप्रशस्तत्वम् । वितन्वन् परमानन्दमिती सर्वेषां सम्मतिरुक्ता रुक्मिणीप्रभृतीनामपि । किञ्च । विवाहमात्रेण न सुखं दत्तवान्, किन्तु स्वरूपतोऽपि परममङ्गलरूपः अतो विशिष्टः फलदायी जात इत्यर्थः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—ज्योतिष शास्त्र से प्रशंसनीय, शुद्ध, सर्वग्रह जिसमें शुभ थे तथा वैदिक पुण्य नक्षत्र में परम आनन्द का विस्तार करते हुए, यों कहने से बताया कि रुक्मिणी प्रभृति सब की तथा सर्व

बान्धवों की यों करने में सम्मति है, केवल विवाह कर सुखदान नहीं किया, किन्तु अपने स्वरूप से भी सब के लिए परम मङ्गल रूप हुए। अतः विशेष उत्तम फल देने वाले हुए, यह तात्पर्य है ॥२६॥

आभास—विवाहान्तरमाह द्वाभ्याम्, **विन्दानुविन्दाविति** ।

आभासार्थ—'विन्दानुविन्दा' इन दो श्लोकों से दूसरे विवाह को कहते हैं।

श्लोक—विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ।
स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ॥३०॥
राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।
प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—मित्रविन्दा नाम वाली राज कन्या जो विन्द और अरविन्द की बहिन थी, उसने श्रीकृष्ण को वरना चाहा परन्तु उसके भ्राताओं ने निषेध किया, क्योंकि वे दूर्योधन के वश तथा पीछे चलने वाले थे ॥३०॥

मित्रविन्दा जो अपनी फूफी[1] राजाधिदेवी की कन्या थी, उसको राजाओं के देखते हुए बलात्कार से कृष्ण हर ले गए ॥३१॥

सुबोधिनी—द्वितीयपक्षस्थेयम् । तानप्युद्धर्तुं भगवान् गृह्णाति । मित्रविन्दाया अवन्तिदेशे स्थितिः। तत्रैव स्वयंवरः। तत्र दुर्योधनादयोऽपि गताः। भगवांश्च। ततः स्वयंवरणप्रस्तावे दूराद्भगवन्तं दृष्ट्वा निकटे स्थितौ भ्रातरावाह मया कृष्णो वरणीय' इति। ततस्तौ तस्या आसक्तिं च ज्ञातवन्तौ। तयोर्विचारेण दुर्योधनो वरणीय इति। यतस्तस्यैव वशावनुगौ च। यथा रुक्मी। स्वभगिनी 'स्वोदरेति न तत्रान्यं प्रतिबन्धं कर्तुं शक्तः। **न्यषेधताम्**। भगवत्सम्मुखे विलम्बमानाम्। ततः अपसार्य दुर्योधनसमीपे नेतुं प्रवृत्तावित्यर्थः। ततो भगवानेतज्ज्ञात्वा तौ दूरीकृत्य रथवेगेन शीघ्रमागत्य तां जहारेत्याह **राजाधिदेव्या** इति। राजाधिदेवी वसुदेवभगिनीं नवमे निरूपिता। सा तु लोकन्यायेन मातुलकन्यावत् भाग एव भवति। अतो न दानापेक्षा। कन्यायां परमन्यासक्तायां ग्राह्या नवेति विचारः। सापि राजस्वधिकं दोष्यतीति भगवन्तमेव मन्यते। कस्यापि मित्राण्येव विन्दतीति नानभिप्रेतं **प्राप्नोति। पितृष्वसुरिति** कुलद्वयेऽपि तस्या विवाहः सम्मत इति बोधितम्। **प्रसह्ये**ति भ्रातृभ्यामाच्छिद्य। यतः **कृष्णः** स्त्रीणां हितकर्ता। अन्ये च राजानः साक्षिणो जाताः। तेनायं विवाहः सर्वसम्मतः सर्वसाक्षिकश्च। संबोधनं च तादृशम्। सम्मतमिति सम्मत्यर्थम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह दूसरे पक्ष[1] की थी, उनका भी उद्धार करने के लिए भगवान् ग्रहण करते हैं। मित्रविन्दा का निवास अवन्ती में था। वहीं स्वयंवर हुआ। वहां दूर्योधन आदि गए, और भगवान्

१—अभक्त दूर्योधन के पक्ष वालों की थी,

भी पधारे थे। पश्चात् स्वयंवर के मौके पर भगवान् को दूर से देखकर समीप में स्थित भ्राताओं को मित्रविन्दा कहने लगी कि मैं कृष्ण को वरूँगी। यह सुनकर वे इसकीआसक्ति श्रीकृष्ण में है यह जान गए। उनका विचार था कि यह दुर्योधन को वरण करे क्योंकि वे उसके वश तथा अनुयायी थे। जैसे रुक्मी मित्र विन्दा इनकी सगी बहन थी, इसलिए कोई इनके विचार में रुकावट करने में समर्थ नहीं था। अतः इन्होंने बहिन को कृष्ण से वरण करने के लिए रोका। वह उस समय कृष्ण के सामने खड़ी थी। वहां से दूर हटाकर दुर्योधन के समीप लेने में प्रवृत्त हुए। तब भगवान् रथ के वेग से शीघ्र पधार कर उनको दूरकर उसको[1] ले गए। राजाधिदेवी मित्रविन्दा की माता वसुदेव की बहिन थी। यह नवम स्कन्ध में निरूपण किया है, अतः वह लोक न्याय से मामे की कन्या की तरह इष्ट[2] ही होती है। अतः इसके लिए दान की अपेक्षा नहीं है। शेष यह विचार अन्य में आसक्त कन्या लेनी चाहिए वा नहीं, वह[3] भी सब राजाओं में विशेष प्रकाशमान होने से भगवान् को हो उत्तम मानती है। कन्या भी हितकारों को चाहती है। जिससे दुःख को नहीं पाती है। भूआ कहने से यह बताया कि दोनों कुलों में उसका विवाह हो सकता है। बलात्कार कहने का आशय है कि भ्राताओं से छीन-कर ले आये, क्योंकि कृष्ण स्त्रियों के हितकारी हैं। दूसरे राजा तो केवल साक्षी बनगए। उससे यह विवाह सर्व सम्मत हुआ तथा सर्व इसके साक्षी बने और सम्बोधन भी वैसा सर्व सम्मति के लिए दिया है ॥३०-३१॥

आभास—तृतीयं विवाहमाह भक्तिरूपम्, नग्नजिदिति चतुर्विंशतिभिः।

आभासार्थ—भक्ति रूप तीसरा विवाह 'नग्नजित्' श्लोक से २४ श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक—**नग्नजिन्नाम कौरव्य आसीद्राजातिधार्मिकः।**
तस्य सत्याभवत्कन्या देवी नाग्नजिती नृप॥३२॥

श्लोकार्थ—हे कुरुवंश में उत्पन्न नृप ! नग्नजित नाम वाला राजा बहुत धर्मात्मा था। उसकी कन्या नाग्नजिती सत्या थी ॥३२॥

सुबोधिनी—ज्ञाने सर्वे विरोधिनः, भक्तौ प्रकृतिरेवेति व्यसनान्येवात्र बाधकानीति तान्येकेन रूपेण दूरीकर्तुमशक्यानीति सप्तविधा साधन-शक्तिरुक्ता। अन्यथा त्रिभिरेव प्रेमसम्पत्तौ पाद-सेवनादीनां वैयर्थ्यमेव स्यात्। सस्यात्मनिवेदने च भगवता स्वधर्मस्थापनार्थं क्रियेते। तत्कृत्वा भगवत्तुल्यः पश्चाद्व्यसनानि समूलं दूरीकरोतीति ज्ञापयितुं स्वयं भगवानत्र सप्त रूपाणि करिष्यति। इयं च भक्तिः पाषण्डे न भवतीति ज्ञापयितुं नग्न-जिद्राज्ञः कन्यात्वेन सा निरूप्यते। नग्नान् वेदर-

---

१--मित्रविन्दा को।

२-लेने योग्य हिस्सा, ३—मित्रविन्दा

हितान् जयतीति । अत एव प्रसिद्धः । त्वमपि कौरव्यः । कौरववंशे उत्पन्नः विश्वासं करिष्यतीति । न केवलं विपक्षानेव दूरीकरोति, किन्तु श्रौतस्मार्तादिसर्वधर्मपरः । अतिधार्मिकः । स्वरूपतोऽपि महान् राजा । तस्य गुणत्रयमपि समीचीनमिती तत उत्पन्ना नाग्नजितीत्याह तस्येति । कौसल्येति पाठे कोसलदेशाधिपतिरयोध्याराजा । सत्येति नाम । स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेयं भक्तिः सत्येति । अत एव वेदविरुद्धमतेषु अधमेषु कर्मविहीनेषु भक्तिः सत्या न भवतीति द्योतितम् । उत्कर्षवादा एवातोऽन्यथा । अन्यथा भक्तिशास्त्रं व्यर्थमेव स्यात् । सहस्रशो भगवदंशा दृष्टप्रत्ययान्यपि सम्पादयन्तीति शास्त्रे अनुक्ता भक्तिः न भक्तिरिति । भगवत्साक्षात्कारात्पूर्वमेवैषा व्यवस्था । सा च देवतारूपा अलौकिकी कन्या न कमपि भगवदंशं गृहीत्वा स्थिता । असाधारणी मूलभूतेनैव ग्राह्या, न केवलम्, यतो भक्तिः प्राप्यते, स एव वेदानुसारी । किन्तु यत्रापि तिष्ठति तेनापि तथा भाव्यमिति नाग्नजितीत्युक्तम् । पितुरनुसारिणी, न मातुरिती ज्ञापयितुं च । 'धन्या पितृमुखी कन्या' इति वाक्यात् । नृपेति स्नेहार्थं सम्बोधनमनासक्त्यर्थं च ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान में प्रपञ्च के सर्व पदार्थ विरोधी हैं । भक्ति में केवल प्रकृति विरोधी है । जिससे इसमें व्यसन+ ही बाधक है । वे एक ही तरीके से दूर करने कठिन हैं । इसलिए उनको दूर करने के लिए सात प्रकार की साधन शक्ति कही है । यों नहीं[1] कहते तो तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण से ही प्रेम सम्पत्ति प्राप्त हो जावे तो पाद सेवन आदि की व्यर्थता हो जाती । शेष दो सख्य तथा आत्मनिवेदन तो भगवान् ने अपने धर्म की स्थापना करने के लिए ही किये हैं । अतः इन दोनों से भगवत्तुल्य कर, पश्चात् व्यसनों को समूल दूर करते है । यह जताने के लिए भगवान् स्वयं सात स्वरूप धारण करेंगे । यह भक्ति पाषण्ड में नहीं होती है । यह जताने के लिए कहा है कि बड़े धर्मात्मा नग्नजित के यहां ही वह कन्या रूप से प्रकट हुई है । यों निरूपण किया जाता है । यह राजा बड़े धर्मात्मा हैं, ऐसा क्यों प्रसिद्ध हुआ ? जिसका वर्णन करते हैं कि यह राजा जो वेद को नहीं मानते है अर्थात् अवैदिक हैं उनको जीतता है । तात्पर्य यह कि उनको वेद का तात्पर्य समझाकर वेद धर्म में रुचि उत्पन्न कर भगवद्भक्त बनाते हैं । तुम भी कुरुवंश में उत्पन्न हुए हो । इसलिए विश्वास करोगे ही । केवल विपक्षियों को दूर करता हैं यों नहीं किन्तु श्रोत स्मार्त धर्म के परायण भी करता है । जिससे वे भक्त बन जाते हैं, इत्यादि कारणों से वह अति धर्मात्मा था एवं स्वरूप से भी महान् राजा था । उसके तीन गुण भी समीचीन थे, वैसे राजा से उत्पन्न कन्या भी नाग्नजिती थी । यदि 'कौशल्या' पाठ माना जाय तो वह कोसल देश का अधिपति अयोध्या का राजा था । इसका ही नाम सत्या था, स्वरूप से, फल से और साधन से यह 'सत्या' भक्ति रूपा है । इस कारण से ही अधम जो वेद विरुद्ध मत है और कर्म से हीन है, उनमें सत्याभक्ति[1] नहीं होती है । यह प्रकाशित

+भूख, प्यास, रोग और कर्म, ये चार लोक में उपद्रव करने वाले हैं । जूआ, शराब पीना और स्त्रियां ये उतने उपद्रव करने वाले नहीं, इस प्रकार सात व्यसन हैं ।

१—सात प्रकार की साधन शक्ति न कहते ।

१—सच्ची भक्ति नहीं होती है,

किया है। इस कारण से जो इससे अन्य प्रकार कहते हैं अर्थात् अधमों में असत्य भक्ति हो तो वह भी उद्धार करने में समर्थ है। वह केवल भक्ति का उत्कर्ष दिखाने के लिए कहा है। इस प्रकार उत्कर्ष न दिखाया जाय तो भक्ति शास्त्र ही व्यर्थ हो जावे। अथवा अधमों में भी यदि सत्या भक्ति मानी जावे तो सदाचार के लिए जो शास्त्र में शासन है वह व्यर्थ हो जाय, क्योंकि अधमों में सदाचार आदि शिष्ट कर्म नहीं रहता है। लोक में जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव देखने में आता है ऐसे हजारों भगवदंश देखने में आते हैं। ऐसों में जो भक्ति है वह शास्त्र सिद्ध सत्य भक्ति नहीं है, केवल भक्ति का आभास है। भगवान् के साक्षात्कार से प्रथम की ही यह व्यवस्था है। वह देवता रूप कन्या अलौकिक है। किसी भी भगवदंश को ग्रहण कर स्थित नहीं है। यह साधारण नहीं है, किन्तु मूलभूत स्वरूप से ही ग्रहण करने योग्य है, न केवल वही वेदानुसारी मार्ग वा महात्म्य है जिससे भक्ति प्राप्त होती है, किन्तु जहां भी रहती हो उसको भी वैसा हो जाना चाहिए, इसलिए 'नाग्नजिती' कहा है, यह संज्ञा इसलिए दी है कि यह सत्या, पिता का अनुसरण करने वाली है, न कि माता का। शास्त्र में कहा है कि 'धन्या पितृ मुखी कन्या' जो कन्या, पिता के मुख[1] को देख कर चलती है, वह धन्य[2] है। हे नृप ! यह संबोधन, स्नेह अथवा अनाशक्ति प्रकट करने के वास्ते दिया है ॥३२॥

आभास—सा भगवन्निमित्तमेव कथं स्थितेति शङ्कां परिहर्तुं तत्प्राप्तौ व्यसनानीव प्रतिबन्धका वृषाः स्थिता इत्याह **न तां शेकुरिति**।

आभासार्थ—वह भगवान् के आने के लिए ही क्यों रुकी ? इस शङ्का को दूर करने के लिए 'न तां शेकुः' श्लोक में कहते हैं कि उनकी प्राप्ति में व्यसनों की भांति 'बैल' प्रतिबन्धक थे।

श्लोक—**न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् ।**
तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्मर्षान् वीरगन्धासहान् खलान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—राजा ने प्रतिज्ञा की थी कि वह मेरी कन्या को वर सकता है, जो इन वीर पुरुषों की गन्ध को भी सहन न करने वाले, दुष्ट, तीखे सींगो वाले, अति दुर्धर्ष, सात साड़ों को जीतेंगे। जो राजा वहाँ आए वे इनको जीत न सके इसलिए इस सत्या को भी ले न सके ॥३३॥

सुबोधिनी—यतो नृपा राजसाः। अत एव तां वोढुं सप्तगोवृषान् अबध्यान् रुधिरसम्बन्धमपि कारयितुमयुक्तान् स्वतः अजित्वा तां वोढुं न शक्ताः। सप्तभिर्मिलितैर्जये सप्तानां सा भवतीति वैदिके पक्षे से निषिद्ध इति नग्नजिता न क्रियते। 'तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दत' इति श्रुतेः। वार्क्षीद्रौपदीप्रभृतिषु 'ते दश प्राणाः, एते चेन्द्राः, पञ्चमुखो वा महादेव' इति कालवशात्पुष्टिवशाद्वा प्रलयात्पूर्वमेवं भवतीति व मर्यादामेवं कर्तुं युक्तम्। तस्माद्भक्तिर्भगवतैव प्राप्तव्या,ज्ञानेन च भगवत्त्व-

---

१—आचरण-कर्तव्य को,　　२—प्रशंसा के योग्य

मिति पूर्णबोधा एव भगवद्भक्ता भवन्ति । तान् वृषान् अजेयत्वार्थं वर्णयति तीक्ष्णश्रृङ्गानिति । शरीरेण दुष्टता निरूपिता । अजेयता च । सुदुर्मर्षानिति । दुष्टो मर्षः क्रोधो येषामिति स्वभावदोषो निरूपितः । अन्तः-करणदोषो वा । इन्द्रियदोषानाह । वीरस्य गन्धमपि न सहन्त इति । खलानिति सहजो जीवदोषः । आसुरास्ते जीवा इति । अतो दोषचतुष्टयादजेयाः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—नृप राजस थे, इसलिए ही जो अवध्य हैं और जिनका स्वल्प भी रक्त न निकले, इस प्रकार उन सात सांडों को अपने आप ही न जीत कर उसको लेने के लिए समर्थ न हुए। सात मिलकर इनको जीते तो वह कन्या सातों की हो जाए। यह कार्य वैदिक पक्ष में निषिद्ध है, इसलिए धर्मात्मा नग्नजित इस अवैदिक कार्य को नहीं करना चाहता है, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दते' एक कन्या दो पति नहीं कर सकती है। वार्क्षी द्रौपदी आदि में जो अन्यथा हुआ है, उसको समझाते हैं कि वे दश प्राण थे। ये पाच हो इन्द्र थे अथवा पञ्चमुख महादेव थे। यों काल वश वा पुष्टि वश से वैसा हुआ। प्रलय से पहले यों होता था, किन्तु मर्यादा में यों करना योग्य नहीं है। इस कारण से सत्या रूपा भक्ति तो भगवान् को ही प्राप्त करनी चाहिए। ज्ञान से भगवत्त्व होता है, इसलिए जिनको पूर्ण ज्ञान है वे ही भगवद्भक्त होते हैं। वे सांड जोतने जैसे नहीं हैं। जिनके गुणों का वर्णन करते हैं। उनके सींग तीक्ष्ण थे, इससे उनके शरीर से दुष्टता दिखाई, और अजेयपन बताया। दुष्ट क्रोध जिनमें था, इससे स्वभाव का दोष कहा। अथवा अन्तःकरण दोष कहा। वीर की गन्ध भी सहन नहीं कर सकते है, इससे इन्द्रिय दोष कहा है। वे खल थे अतः स्वाभाविक जीव दोष कहा। वे आसुरी जीव थे, अतः इन चार दोषों से अजेय थे ॥३३॥

आभास—अतः सर्वेषु निवृत्तेषु भगवान् प्रवृत्त इत्याह तां श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—सब जब निवृत्त हो गए तब भगवान् प्रवृत्त हुए। वह तां श्रुत्वा' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान्सात्वतां पतिः ।**
जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः ॥३४॥

श्लोकार्थ—यादवों के पति भगवान् ने सुना कि यह सत्या उसको मिलेगी, जो सांडों को जीतेगा, यह सुनकर बड़ी सेना के साथ आप अयोध्या गए ॥३४॥

सुबोधिनी—यो हि व्यसनापनुत्, स एव विषय इति लोके फलिष्यति ।

व्याख्यार्थ – जो निश्चय से व्यसनों को तोड़ देता है,वह ही विषय होता है, यों लोक में फलेगा।

कारिका—**क्षुत्पिपासे तथा रोगाः कर्माणि द्विविधानि च ।**
लोकोपद्रवरूपाणि चत्वार्यावश्यकानि हि ॥१॥

कारिकार्थ—भूख, प्यास, रोग, दो प्रकार के कर्म (एक निषिद्ध सुवर्ण आदि की चोरी, दूसरे काम्य कर्म) ये आवश्यक चार, लोकों को उपद्रव करने वाल हैं ॥१॥

कारिका—**द्यूतं पानं स्त्रियश्चेति त्रीण्यनावश्यकानि हि ।**
मृगयादिर्न सर्वेषां तस्मान्न व्यसनानि हि ॥२॥

कारिकार्थ – जूआ, मद्यपान और स्त्रियां ये तीन व्यसन आवश्यक नहीं है, शिकार आदि सब नहीं करते हैं इसलिए वे व्यसन नहीं हैं ॥२॥

कारिका—**विशेषेणासनं यत्र व्यसनं तत्प्रकीर्तितम् ।**
ज्ञातेऽपि दोषे यस्यास्ति न निवृत्तिस्तदेव तत् ॥३॥

कारिकार्थ—जिसमें विशेष स्थिति या आसक्ति होती है उसको व्यसन कहते हैं । जिसके दोष जाने भी जावे किन्तु वह छूटे नहीं, वह ही व्यसन कहलाता है ॥३॥

सुबोधिनी—भगवानेव तानि दूरीकर्तुं शक्त इति वृषजिन्मात्रलभ्यां तां श्रुत्वा । समर्थो भगवान् । सात्वतां भक्तानां पतिः । अन्यथा भक्तोद्धारो न भवतीति स्वयं जगाम । कौसल्याः कौसलदेशराजानस्तेषां पुरमयोध्याम् । महता सैन्येन वृत इति । महत्त्वाकाङ्क्षिणो राज्ञः संतोषार्थम् । 'देवानां पूरयोध्या' इत्यादिश्रुतौ नगर्या अपि दैत्यनिवारकत्वमुक्तम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ही उनको दूर करने के लिए समर्थ हैं, इसलिए वह उसको मिलेगी जो सांड़ों को जीतेगा । यह सुनकर यादवों के पति,समर्थ भगवान् स्वयं वहां पधारे । नहीं पधारते तो भक्त का उद्धार न होता । कोसल देश के राजाओं को कौसल्य कहा जाता है । उनका पुर 'अयोध्या' कहाता है । 'देवानां पूरयोध्या' श्रुति में कहा है कि 'अयोध्या' देवताओं की नगरी है. जिससे यह बताया कि वहां दैत्यों का निवास नहीं हो सकता है । भगवान् बड़ी सेना, महत्त्व की इच्छा वाले राजा के सन्तोष के लिए ले गए, अन्यथा आपको सेना की आवश्यकता हो नहीं थी । ३४॥

आभास—ततस्तस्याःभिनन्दनमाह स कोसलपतिरिति ।

आभासार्थ—पश्चात्, उसका अभिनन्दन 'स कोसल पति' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—स कोसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।
अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रत्यनन्दत ॥३५॥

श्लोकार्थ—वह कौसल का राजा भगवान् को पधारते देख, आसन से उठ, आसन आदि देने आदि अनेक प्रकार की महती पूजा द्वारा अभिनंदन करने लगा ॥३५॥

सुबोधिनी—महांश्चेन्नानुमन्येत, तदा बलादनभिप्रेतानां सम्बन्धिनो समीचीना न भवतीति तस्य पुरस्कार उच्यते । लौकिकन्यायेन स करिष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह प्रीत इति । प्रत्युत्थानमासनं च आदिभूते येषाम्, स्वयमुपविष्टः । गुरुणा अर्हणेनेति । अमूल्यद्रव्यैः पूजयामास । एवं कर्तुः कन्यादानमभिप्रेतं भवतीति । ततः प्रत्यनन्दत साधु समागतमिति प्रतिनन्दनं च कृतवान् कदाचिद्भगवान् कृपां कुर्यात्,तदा कन्या कृतार्था भविष्यतीति। अनेन राजा सन्दिग्ध इत्युक्तम्। वृषजयाभावेऽपि ।।३५।।

व्याख्यार्थ—यदि महान् होता, तो इस प्रकार सत्कार न करता । तब बल से लाई जाती, तो वह प्रेमियों की सम्बन्धिनी न होती । जिससे अच्छी न लगती, इसलिए बताते हैं कि वह अयोध्या का पति महान् अर्थात् अभिमानी नहीं था । इसलिए आपका सत्कार करने लगा । यह सत्कार लौकिक नीति के कारण किया होगा ? इस शङ्का निवारण के लिए कहा है कि 'प्रीतः' प्रसन्न होकर, उठना और आसन आदि देना, जब आप बिराजे तब अमूल्य द्रव्यों से महती पूजा करने लगा । जो इस प्रकार पूजा करता है, वह कन्या देना अभीष्ट समझता है । पूजा के बाद स्वागत के शब्द भले पधारे आदि कहने लगा । यों करने का आशय यह था कि भगवान् करे तो मेरी कन्या कृतार्थ हो जावे । यों विचार करने से ज्ञात होता है कि राजा संदिग्ध था अर्थात् राजा की इच्छा ऐसी हो गई कि साडों को न भी जीते तो भी मेरी कन्या कृपा कर ग्रहण करे तो अच्छा है ।।३५।।

आभास—अन्ये तु निःसन्दिग्धा एव, प्रतिज्ञापूरणाभावेऽपि तन्मात्रादयः कन्या चेत्याह **वरं विलोक्येति** ।

आभासार्थ—दूसरे माता एवं कन्या आदि तो निःसंदेह थे । प्रतिज्ञा पूरण न होगी तो भी ये ग्रहण करेंगे ।

श्लोक—**वरं विलोक्याभिमतं समागतं नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।**
भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः ।।३६।।

श्लोकार्थ—अपनी इच्छानुकूल आए हुए वर को देख, जो कि रमापति हैं, उनको प्राप्त करने की इच्छा करनी लगी । भगवान् को प्रार्थना करने लगी कि मुझे यह वर मिले । यदि मैंने इसलिए व्रत आदि किये हैं तो प्रभु मेरी मनः कामना सत्य करें।३६।

सुबोधिनी—कन्यया यो वरणीयः, सर्वैरपि, सोऽयं स्वयमागतो वरयितुम्, तत्रापि स्वस्याभिमतम् । नरेन्द्रकन्या स्वयमपि विचक्षणा । अप्रहतश्च भगवद्वरणमार्ग इति निरूपयितुं विशेषणमाह रमापतिमिति । दृष्ट्वा दर्शनफलं प्रार्थयति भूयादयं मे पतिरिति । ननु धर्मादीनां भगवति सामर्थ्याभावात् कथं भगवान् पतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह **आशिषोऽमलाः सत्याः करोत्विति** । अयं भगवानेव एतत्सर्वं सम्पादयतु । स्वस्मिन् स्वयमेव शक्तः । नन्वयं फलरूपः कथं तत्कृते साधनतामापद्यत इति चेत्, तत्राह **यदि मे धृतो व्रतैरिति** । व्रतैर्भगवन्नियमैः यैर्भगवान् वशे

भवति तादृशश्चेद्धतः तदा अस्मदधीन इति मे निर्दुष्टा आशिषः सत्याः करोतु । अनेन लोक-प्रतीत्या गोपिकासु अन्यादृश्योऽप्याशिषः सत्या करोतीति सूचितम् । अतो मम नास्त्येव सन्देह इति भावः । अनेन सर्वासां भगवानभिप्रेत इति निरूपितम् । अन्यथा व्रतकरण एव विरोधं कुर्युः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—जो वर कन्या तथा सब को अभीष्ट है कि यह ही वरण योग्य है, वह स्वयं वरने के लिए आगए हैं। अपनी सम्मति भी यह ही है। राजा की पुत्री स्वयं चतुर तथा विशेष लक्षणों वाली है। भगवान् के वरण का मार्ग तो बिना रुकावट वाला है। यों निरूपण करने के लिए 'रमा-पति' विशेषण दिया है। जिनको लक्ष्मी ने वरा है, उनको वरने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। देखकर, दर्शन का फल लेना चाहती है। जिससे प्रार्थना करती है कि यह मेरा पति हो। भगवान् की प्राप्ति में धर्मादि की सामर्थ्य नहीं है तब भगवान् पति कैसे होंगे? निर्मल आशार्वाद सत्य करें। अर्थात् भगवान् ही यह सब सम्पादन करें। आपमे आप ही समर्थ हैं। भगवान् स्वय तो फलरूप हैं वह साधन रूप कैसे बनेंगे? इस पर कहती है कि 'यदि मे धृतो व्रतै' जिन नियमों से भगवान् वश होते हैं वे यदि मैंने किये हैं तो मेरे आधीन हो, अर्थात् मेरी कामनाओं को पूरण करें। एवं नियम पालन से प्राप्त आशीर्वादों को सत्य करें। इससे यह कहा कि गोपिकाओं को तरह दूसरों की भी आशिष सत्य करते हैं, अतः मुझे वरेंगे इसमें मुझको कोई सन्देह नहीं है, इससे यह सूचित किया कि भगवान् सब को अभीष्ट हैं, नहीं तो व्रत करने में ही विरोध करें॥३६॥

आभास—अग्रे यत्पादपङ्कजेति श्लोकः कन्याया एव प्रार्थनारूप इति केचित्। केचित्तु राज्ञ इत्यग्रे पठन्ति । तत्र प्रसादः कन्याया एव युक्तः । अतोऽत्रैव व्याख्यायते । पूर्वं स्वव्रतविश्वासेन भगवान् करिष्यतीत्युक्त्वा, ईश्वरस्य को वा नियामक इति; तस्य तोषार्थमाकाङ्क्षां प्रकटीकुर्वतो प्रसादमेव प्रार्थयति **यत्पादेति** ।

आभासार्थ—इस निम्न 'यत्पादपङ्कज' श्लोक में कन्या ने प्रार्थना की है। यों कितने ही कहते हैं और किसी का मत है कि राजा की प्रार्थना का श्लोक है; इसलिए आगे पढते हैं। इनमें कन्या का ही प्रसाद उचित है इस कारण से यहां ही इसकी व्याख्या की जाती है। पहले अपने किए हुए व्रत के विश्वास से कहा है कि भगवान् करेंगे, ईश्वर का नियामक कोई नहीं है। उनकी प्रसन्नता के लिए आकाङ्क्षा प्रकट करती हुई कृपा के वास्ते ही प्रार्थना 'यत्पाद' श्लोक में करती है।

श्लोक—यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।
लोलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयासौ काले दधत्स भगवान् मम केन तुष्येत् ॥

श्लोकार्थ—जिनके चरण कमल की रज, लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, महादेवजी और लोकपाल ये सब शिर पर धारण करते हैं, और जो अपनी मर्यादा की पालना के लिए स्वइच्छा से समय पर लीला विग्रह धारण करते है, वे परमेश्वर मुझ पर किस उपाय से प्रसन्न होंगे ॥३७॥

सुबोधिनी—भगवत्प्रसादे हि भगवानेव प्राप्स्यते, तदेव च काम्यते । तदतिदुर्लभम् । यत्र तस्य रज एव सर्वैः कामितमित्याह । यस्य पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीः । अब्जजो ब्रह्मा । गिरिशो महादेवः । तत्सहितः लोकपालैश्च सहितः । रजसा हि भगवदीयं शरीर भवतीति पूर्वमुक्तम् । तदा भगवान् निःसन्दिग्धं प्राप्यते । स्वतन्त्रा भक्तिर्वा भवति । तत्रापि शिरसि बिभ्रति । एतच्छरीरवियोगे प्रथमं ततः एव देहारम्भकाः परिष्वङ्गं कुर्वन्तीति । लक्ष्म्या अपि भगवदवतारेषु अवतारोऽपेक्षित इति, सर्वेष्वेव देहेषु यथा भगवत्सम्बन्धो भवति, तदर्थं मृग्यमेव । ब्रह्मादीनामपि स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं यथा तथा भवति तदर्थं धारणं पुनरधिकारनिवृत्त्यर्थम् । नन्वितः पूर्वास्ते कथं बिभ्रतीत्याशङ्क्याह लीलातनूरिती । यो भगवान् स्वकृतानां धर्ममर्यादानां परीप्सया रक्षितुमिच्छया लीलातनूर्दधत् भवति । तेन चरणरजःसम्बन्धप्रार्थना च युक्तेति भावः । एवं सर्वप्रार्थ्योऽयमेवेत्याह अमाविति । स पुरः स्फुरतीति साधनविलम्बः सोढुमशक्य इति, प्रसाद एवैतत्कार्यं सिध्यतीति, केन वा उपायेन तुष्येदिति जिज्ञासा । उत्वा चरणयोः पतित्वा प्रार्थनीयः, आहोस्विदन्यो व कश्चिदुपाय इति । भगवत्त्वादेव दानादिपक्षो निराकृतः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के प्रसन्न होने पर ही भगवान् प्राप्त होंगे । वह ही कामना की जाती है, वह प्राप्त होना कठिन है । जहां उनकी चरण रज ही सब चाहते हैं, जैसे कि लक्ष्मी, ब्रह्मा, महादेव और लोकपाल । ये सब रज की ही कामना करते रहते हैं, क्योंकि उनके चरण रज से ही यह शरीर भगवदीय होता है । यों आगे कहा गया है, जब शरीर भगवदीय हो जाता है तब निश्चय से भगवान् प्राप्त होते हैं । अथवा स्वतन्त्र भक्ति[1] होती है । उसी अवस्था में भी रज को शिर पर धारण करते हैं, इस शरीर के वियोग होने पर भी प्रथम उससे ही देह के आरम्भ करने वाले तत्त्व मिलाप करते हैं अर्थात् अन्य देह भी भगवदीय ही बनती है । जब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, तब लक्ष्मी के अवतार की भी अपेक्षा रहती है जो भी देह मिले उनमें जैसे भगवान् से सम्बन्ध हो, उसके लिए खोज करनी चाहिए, ब्रह्मादिक भी चरण रज इसलिए धारण करते हैं कि अपने अधिकार की समाप्ति के बाद इस अधिकार की निवृत्ति होकर भगवदीय देह की ही प्राप्ति होवे ।

यदि यह इच्छा इनकी है तो इससे पहले कैसे धारण करते थे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते है कि 'लीलातनूः' जो भगवान् अपनी बनाई धर्म मर्यादा की रक्षा के इच्छा से लीला शरीर धारण करते हैं, इस कारण से चरण रज के सम्बन्ध की प्रार्थना उचित है, यह भाव है । इस प्रकार सब को इसकी ही प्रार्थना करनी चाहिए, जो सामने वा आगे स्फुरित हो रहे हैं । साधन विलम्ब सहना भी अब कठिन है अथवा सहा नहीं जाता है । आपकी कृपा ही इस कार्य को सिद्ध कर सकती है । किस उपाय से प्रसन्न होंगे, यह जिज्ञासा है । जाकर चरणों में पड़कर प्रार्थना की जाय वा दूसरा कोई उपाय है । भगवान् होने से दानादि से प्रसन्नता के पक्ष का निराकरण किया है ॥३७॥

आभास—अचिन्तितमपि कल्पयिष्यतीति संभावनया मनोरथः । अत एव भगवान् तमुपायं कल्पितवानित्याह अचितमिति ।

१—शुद्ध पुष्ट पुष्टि भक्ति ।

आभासार्थ—जिसका विचार भी न किया हो उसको भी आप रचेंगे, इस सम्भावना से मनोरथ किया, अतएव भगवान् ने वह उपाय रचा, जिसको 'अर्चितं' श्लोक में कहा गया है।

श्लोक—**अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।**
आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ॥३८॥

श्लोकार्थ—राजा फिर भगवान् का पूजन कर कहने लगे कि, हे नारायण ! हे जगत् के पति ! आत्मानन्द से पूर्ण आपका मैं तुच्छ क्या पूजादि सत्कार कर सकता हूँ ॥३८॥

सुबोधिनी—पुनः पूजयित्वा भगवत्प्रेरणया स्वयमेव राजा किञ्चित्प्रार्थितवान् । इति वक्ष्यमाणप्रकारम्, यथा कन्यामनोरथः सिध्यति । अन्तर्बहिःपूर्णस्य नियामकस्य किं वक्तव्यं किं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह । **नारायण** प्रेरक । **जगत्पते** बहिर्नियामक । अतो यथेच्छसि तथैव कारयसि । तस्मान्न किञ्चिद्वक्तव्यम् । किञ्च । अपूर्णं हि केनचित् क्रियया पूर्यते, अयं तु पूर्णानन्देनैव पूर्णः, आत्मैव आनन्दः । व्यापकत्वे विरलता स्यादिति बृंहणत्वलक्षणं पूर्णत्वमाह **पूर्णस्येति** । तत्राप्यहमल्पकः अत्यल्पः कुत्सितोऽल्पो वा, अनानन्दत्वात् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—राजा फिर भगवान् की पूजा कर, उनकी प्रेरणा से कुछ प्रार्थना करने लगा। यह कहने का ढंग है, जिससे कन्या का मनोरथ सिद्ध होता है। भीतर और बाहर पूर्ण तथा नियामक को, क्या कहा जाय कि क्या करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहता है कि आप नारायण होने से प्रेरक हैं और जगत् के पति होने से बाहर के नियामक हैं। इस कारण से जैसी आपकी इच्छा होती है, वैसे ही कराते हैं। इस कारण कुछ कहना नहीं चाहिए, किञ्च, जो अपूर्ण होता है उसको किसी क्रिया से पूर्ण किया जाता है। आप जो सामने दर्शन दे रहे हैं वे तो पूर्ण आनन्द से ही पूर्ण हैं। आत्मा ही आनन्द है; व्यापकपन में विरलता हो, इसलिए यहां तो बृहत्त्व लक्षण वाला पूर्णत्व 'पूर्णस्य' पद से कहा है। जहां ऐसी पूर्णता है, वहां मैं अति अल्प अर्थात् बहुत तुच्छ, निरानन्द होने से क्या कह सकता हूं ? ॥३८॥

आभास—प्रस्तावनार्थमेव भगवांस्तं प्रेरितवान्, यथा याचितोऽपि न प्रत्याख्याति, अतोऽवसरं प्राप्य भगवान् भक्तहितार्थी तं याचितवानित्याह **तमाहेति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने ही प्रस्तावना के लिए उसको वैसी प्रेरणा की है। जैसे मांगते भी नहीं। प्रकट करता है, अतः अवसर पा कर भक्त के हित चाहने वाले भगवान् उससे मांगने लगे—यह 'तमाह' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**तमाह भगवान्हृष्टः कृतासनपरिग्रहः ।**
मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन॥३९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे कुरुनन्दन ! भगवान् आसन पर विराजमान हो, प्रसन्न चित्त से, मुस्कराते हुए मेघ जैसी गम्भीर वाणी से राजा को कहने लगे ॥३९॥

सुबोधिनी—भगवानिति सर्वसमर्थः पूर्णः । पूर्णस्य याचनं न विगीतम्, प्रत्युपकारसम्भवात् । कृष्ण इति स्त्रीणां हितः । कृतासनपरिग्रह इत्यव्यग्रः । तस्यासनं चेत्परिगृहीतम्, अन्यदपि परिग्राह्यमिति । न हि भोजनार्थमुपविष्टस्तृप्तेः पूर्वमुत्तिष्ठति । न वा तदा याचनं दोषाय । तस्य सर्वमेव दुःखं नाशयतीति **मेघगम्भीरयेति** । **सस्मितमिति** किञ्चिन्मोहयन् यावता प्रयच्छति कन्यामेव, नत्वात्मानम् । तथा सति कन्या अग्राह्या स्यात् । सम्बोधनं विश्वासाय ॥३९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् कहने का तात्पर्य है सर्व समर्थ पूर्ण । पूर्ण यदि याचना करे तो निन्दित नहीं है । प्रत्युपकार करने से, अथवा उनकी याचना भी अपने ऊपर उपकारक है । कृष्ण है, इससे स्त्रियों के हित रूप है । आसन आदि ग्रहण किये हैं जिससे व्यग्रता रहित है । उनने जब आसन ग्रहण किया है तब दूसरा भी लेना चाहिये । जैसे जो भोजन पर बैठा हुआ वह तृप्ति से प्रथम नहीं उठता है, उस समय अन्य वस्तु मांग लेने में कोई दोष नहीं है । भगवान् मेघ जैसी गम्भीर वाणी से मांगते हुए सर्व ही दुःख नाश करते है । मुसक्यान के साथ अर्थात् कुछ मोह में डालते हुए जो कुछ मांगते है, वह कन्या ही मांगते हैं न कि आत्मा को । वैसी कन्या होने से अग्राह्य होनी चाहिये, कुरुनन्दन ! संबोधन विश्वास के लिए दिया है ॥३९॥

आभास—भगवान् याचनदोषं परिहरन् याचते **नरेन्द्रेति** ।

आभासार्थ—भगवान् दोष का परिहार करते हुए 'मांगते' हैं, यह 'नरेन्द्र' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**नरेन्द्र याञ्चा कविभिर्विगर्हिता**
राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया
कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे नरेन्द्र ! पण्डित लोग कहते हैं कि मांगना बहुत बुरा है । जो क्षत्रिय अपने धर्म में चलता है, उसके लिए ही उसकी निन्दा की गई है । तो भी मैं आपसे जो आपकी कन्या माँग रहा हूँ, जिसका कारण हैं कि मैं आपसे मित्रभाव करना चाहता हूँ । हम पैसा देकर भी कन्या लेने वाले नहीं हैं ॥४०॥

सुबोधिनी - स्त्रीणां हितार्थमवतीर्णस्य येन केनाप्युपायेन तद्धितं साधनीयमिति मम न दोषः। तथापि राजन्यनाट्यं कुर्वतस्तद्विरुद्धं न कर्तव्यमिति तदर्थं सामान्यन्यायमाह। **राजन्यबन्धोर्याच्ञा कविभिर्विगर्हिता**। ब्रह्मवृत्तिरेव सा। **नरेन्द्रे**ति सम्बोधनेन संमतिः प्रदर्शिता। यागविचारे यागादाविन्द्रः प्रार्थ्यत इति नरनाट्ये प्रार्थना न विगीतेति सूचितम्। स्तुतिरप्यनेन कृता। **कविभिरि**ति विचक्षणैः। ते ह्येवं मन्यन्ते। भगवता वीर्यं क्षत्रियेभ्यो दत्तम्। यत्किञ्चिदपेक्षितं तद्वीर्येणैव साधनीयमिति। अनेनादाने बलादपि नेष्यामीति सूचितम्। आपत्सु याचनं न दुष्यतीत्यत आह। **निजधर्मवर्तिन** इति। निजधर्मो वीर्यम्। रागे उत्पन्ने राग एव निवारणीयः। अनिवृत्तौ वा स्वधर्मः कर्तव्यः। ततो मरणं प्राप्तिर्वा। मरणेऽपि परतः प्राप्नोति। तस्माद्वीर्यमेव कर्तव्यम्। तथापि। याच इत्याह **तथापी**ति। एवं करणे हेतुः **सौहृदेच्छया**। यथा त्वदीया कन्या अभिलषिता, एवं सौहार्दमपि। ततो वीर्ये द्वयं न सिध्यति। ईश्वरत्वात्कापट्येन जयो जयो न भवतीति कदाचिद्दमनेऽपि न मन्येतेति याचनम्। धर्मपरीक्षार्थं च वचनम्। कन्या देयैवेति नातीव भारः। पूर्णो याचमानः प्रतिदास्यतीति शङ्कायामाह **न हि शुल्कदा** इति। मूल्ये दत्ते दासी भवतीति। तत्रापि वयं वीर्यमेव परं शुल्कं प्रयच्छामः। श्रोत्रियमतया कदाचिच्छुल्कं याचेरन्, कन्यायाः कुशिका वयमिति नवमे तथा निरूपणात् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियों के हित के लिए अवतरित को किसी भी उपाय से उनका हित सिद्ध करना चाहिए, इसलिए मुझे मांगने में दोष नहीं है, तो भी क्षत्रिय का नाट्य करने वाले को उसके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए, जिसके लिएं सामान्य न्याय कहते हैं। क्षत्रिय के लिए मांगने की निन्दा की है। मांगना ब्राह्मण की वृत्ति है। नरेन्द्र ! कहने से बताया है कि इसमें आपकी भी सम्मति हे। यज्ञ के लिए, यज्ञ आदि में इन्द्र की प्रार्थना की जाती है, इसलिए नर के नाट्य में मांगना निन्दित नहीं है। यह सूचित किया, इससे स्तुति भी की है। 'कवि' शब्द का भावार्थ है जो चतुर हैं, वे यों मानते हैं। भगवान् ने वीर्य (पराक्रम) क्षत्रियों को दिया है, अतः क्षत्रियों को जिसकी अपेक्षा होवे वह वीर्य से ही प्राप्त करे। यों कहकर यह बताया कि यदि मांगने से न दोगे तो बल से भी लूंगा। आपदाओं में याचना दूषित नहीं है। इसलिए कहा है, कि जब आपदा न हो अपना धर्म पालन हो सके, तब क्षत्रिय को मांगना नहीं चाहिएं। वीर्य से ही लेना चाहिएं। किसी में प्रेम उत्पन्न हो जाय तो उसको मिटा देना चाहिए। यदि प्रेम निवृत्त न हो सके तो अपना धर्म करना चाहिए। उस वीर्य धर्म से उस प्रिय वस्तु की प्राप्ति होगी अथवा मृत्यु होगी मरने पर परलोक में उत्तम स्त्री की प्राप्ति होगी, इस कारण से वीरता ही करनी चाहिए। यों होते हुए भी जो मैं याचना करता हूँ, जिसका कारण यह है, कि जैसी तुम्हारी कन्या को चाहना है वैसी ही तुम्हारी मित्रता भी चाहता हूँ। वीर्य करूंगा तो दोनों कार्य सिद्ध न होंगे। दोनों सिद्ध करना चाहते हैं, ईश्वर होने से कपट से जो जय की जावे वह जय नहीं कही जाती है, इसलिए कदाचित् सांडों के दमन करने पर भी न माने, इस कारण याचना की गई है। यह कहना धर्म की परीक्षा वास्ते है। कन्या देने योग्य ही है, इसलिए याचना मानने में कोई विशेष भार नहीं है। पूर्ण रीति से मांगने पर ही दी जाती है, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते है कि 'न हि शुल्कदा' हम पैसे देकर लेने वाले नहीं है, क्योंकि पैसे देकर जो ली जाती है वह पत्नी न होकर दासी होती है। उसमें भी हम वीर्य ही उत्तम शुल्क देते हैं। श्रोत्रिय मति से यदि शुल्क मांगे जैसा कि नवम में कहा है 'कन्यायाः कुशिका वयम्' ॥४०॥

आभास—राजा तु याचनात्पूर्वं देयत्वेन विचार्य प्रतिज्ञां च पूरयिष्यामीति कष्टे भगवांश्च न विनियोक्तव्य इति तूष्णीं स्थितः। रागे सति कष्टमपि करोति, नान्यथेति अधुना रागं ज्ञात्वा वृषदमनार्थं प्रार्थयते कोऽन्य इति।

आभासार्थ—राजा ने तो भगवान् की याचना से प्रथम ही विचार कर लिया था कि कन्या तो भगवान् को दूंगा किन्तु प्रतिज्ञा भी पूरी करूंगा। प्रतिज्ञा पूर्ति में भगवान् को कष्ट होगा, उसमें भी उनको लगाना नहीं चाहिए, इस विचार में ही चुप हो रहा, मन में कहा कि यदि प्रेम होगा तो कष्ट भी स्वतः करेंगे। यदि प्रेम न होगा तो न करेंगे, अब देखने में आता है कि कन्या के लिए इसमें प्रेम है, इसलिए वृषों के दमन के वास्ते 'कोऽन्य' श्लोक में प्रार्थना करता है—

श्लोक—राजोवाच—कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः।
गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ॥४१॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगा कि आपसे विशेष उत्तम इस संसार में दूसरा कौन सा वाञ्छित वर कन्या को मिलेगा, आप गुणों के एक ही धाम हैं, जिनके अङ्ग में लक्ष्मी अविचल होकर सदैव रहती है ॥४१॥

सुबोधिनी—त्वत्तोऽप्यभ्यधिकः दाने कोऽपि नास्ति पात्रम्। कन्यायाश्चेप्सितो वरो नान्योऽस्ति। अतो दृष्टसम्पत्तिः सर्वापि सिद्धा। किञ्च। सर्वाः स्त्रियस्त्वदीया एव। यतो गुणानामेकं धाम भवानेव। अनन्ता गुणा नित्यास्त्वय्येव प्रतिष्ठिताः। अत एव श्रीरनपायिनी त्वयि। यत्र श्रीस्तत्र सर्वमिति। वसतीत्यन्यत्र परिभ्रमणमात्रम्। ॥४१॥

व्याख्यार्थ—आप से भी विशेष उत्तम दान लेने का पात्र कोई नहीं है, और कन्या को भी आप ही इच्छित वर हो, न कोई अन्य, अतः प्रत्यक्ष जितनी सम्पत्ति चाहिए वह आप में सिद्ध ही है और विशेष, सब आपकी ही स्त्रियाँ हैं, क्योंकि गुणों का स्थान आप एक ही हैं। अनन्त नित्यगुण आप में ही रहते हैं, अतएव स्थिर लक्ष्मी आप में ही है, जहां श्री है वहां सब रहते हैं, दूसरे के यहां तो केवल भटकना है ॥४१॥

आभास—परमस्मदीयोऽपि धर्मः पालनीय इत्याह किन्त्वस्माभिरिति।

आभासार्थ—किन्तु हमने जो प्रतिज्ञा की है वह मेरा धर्म भी आप को पालना चाहिए, यह 'किन्त्वस्माभिः' श्लोक में कहता है।

श्लोक—किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्त्वतर्षभ।
पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीक्षया ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे यादव श्रेष्ठ ! आपकी याचना से पहले ही हमने प्रतिज्ञा कर रखी है। कन्या के वर की परीक्षा करनी चाहिए कि उन पुरुषों में जो वरना चाहता है, कितना पराक्रम है ॥४२॥

सुबोधिनी—अधुना करणे अपराधो भवेत्, किन्तु पूर्वमेव कृतः। **समयो** नियमः। तुशब्दो निर्भरदान व्यावर्तयति। **सात्वतर्षभेति** प्रतिज्ञा पालनीयेत्यत्र सम्मतिरुक्ता। यादवश्रेष्ठास्तत् जानन्तीति। भक्तस्वामी भक्तप्रतिज्ञां पालयिष्यतीति। प्रतिज्ञाकरणे निमित्तमाह **पुंसामिति**। क्षत्रियेषु वीर्यवान् महान्। सप्ताङ्गानि क्षत्रियस्य। सर्वत्र तत्सामर्थ्ये महान् भवति। अतः सप्तवृषा दम्यत्वेन स्थापिताः। महत एव कन्या देया। जामातरं प्रति नम्रता बोधनीया। अधमे च सा निषिद्धा। अपरीक्षायां वीर्यं न ज्ञायत इति। एतदपि कन्यावरपरीक्षार्थमेव, न त्वस्यान्य उपयोगोऽस्ति। अतः कन्यादाने तदवश्यं कर्तव्यम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—आपकी याचना के अनन्तर यदि प्रतिज्ञा की हो तो अपराध लगे, किन्तु यह पहले ही की हुई है। समय का तात्पर्य है, कि मैंने नियम बना लिया है कि कन्या किसको दूंगा, एक प्रकार शपथ ली है. 'तु' पद से अति मात्र दान को टालता है। भगवान् को 'सात्वतर्षभ' विशेषण से यह प्रार्थना की है कि आप यादव श्रेष्ठ हैं, अतः मेरी प्रतिज्ञा पालन करनी चाहिए, जिसमें आपकी भी सम्मति है। इस तत्त्व को यादव श्रेष्ठ जानते ही है। भक्तों के स्वामी भक्त की प्रतिज्ञा पालेंगे ही। प्रतिज्ञा करने का कारण बताता है, क्षत्रियों में बड़ा वह है, जो वीर्य वाला है। क्षत्रिय के सात अङ्ग है. सातों अङ्गों में जिनका सामर्थ्य शौर्य है, वह महान् है, अतः सात सांड दमन के लिए स्थापित किए हैं। जो महान् होवे, उसको कन्या देनी चाहिए, जामाता के प्रति नम्रता बतानी चाहिए। यदि जामात अधम है तो नम्रता बतानी निषिद्ध है। यदि परीक्षा न ली जावे तो वीरता का पता न लगे। यह प्रतिज्ञा भी कन्या के वर की परीक्षा करने के लिए की गई है। इसका कोई अन्य उपयोग नहीं है और न किया जावेगा, अतः इसका उपयोग कन्या दान में अवश्य किया जावेगा ॥४२॥

आभास—तं समयमाह, यथा परीक्षा सम्पद्यते, **सप्तैत** इति।

आभासार्थ—'सप्तैते' श्लोक में वह प्रतिज्ञा बताता है. जिससे परीक्षा हो जाती है।

श्लोक—सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः।
एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! ये सात सांड ऐसे हैं, जो कठिनाई से दमन किए जाते हैं और इनसे लड़ना भी अपनी मृत्यु लाना है। बहुत राजपुत्र जो मेरी प्रतिज्ञा सुन कन्या को वरने के लिए आए थे, वे इनसे अपने गात्र तुड़वा कर भाग गए हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—एकत्र गृहे सप्तवृषा निरुद्धाः, न कश्चित्तत्र परिपालकः । नापि तत्र गौः काचित्, भक्ष्यं च यथेष्ट मादकम् । ततोन्योन्यं युध्यमानाः अतिमत्ताः नित्यं क्रुद्धास्तिष्ठन्ति । तत्रापि सप्त । विषमसंस्थापन्नाः, अन्यथा द्वन्द्वयोधिनो भवेयुः । **गोवृषा** इति न मारणीयाः । गोजातीयाः वृषाः समस्थाः । **वीरे**ति सम्बोधनमितरस्तुतिः श्रोतुर्निन्दार्थेति शङ्काव्युदासार्थम् । वीरस्याग्रे कथनं वीर्योद्बोधनार्थम् । बहूनेव वृषानेकश्चारयति इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह **दुर्दान्ता** इति । अदान्तापेक्षयापि कठिनाः । दुरुपसर्गो दमनविरोधिनं वदति । तत्र दमनसम्भावनापि नास्तीति ज्ञापयितुम् । वीरैरपि दुर्दान्ता इति वा । किञ्च दुष्टः अवग्रहो येषाम् । तैः सह कलहो मरणपर्यवसायी । आग्रहो वा दुष्टः । ते मारयितुमशक्याः, दृष्टादृष्टोपायैः । अन्यांश्च मारयन्तीति द्वयमुक्तम् । नापि तेषां वीर्यं सम्भावनामात्रेण सिद्धम्, किन्तु बहुधा कृतकार्यमित्याह **एतैर्भग्ना** इति । काकतालीयव्युदासाय सुबहवः । भङ्गो न पराजयमात्रम् । तथा सति दृष्ट्वापि भीताः पलायिता भवन्ति । किन्तु भग्नगात्राणां करचरणादीनां भङ्गपर्यन्तं यतमानाः । ननु शिक्षाबीजयोरप्रयोजकत्वं तेषु भविष्यतीति चेत् तत्राह **नृपात्मजा** इति । न तु क्षत्रियमात्रम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ—सात सांड़ एक ही गृह में इकट्ठे रुके हुए हैं । वहां उनको पालना करने वाला कोई नहीं है । वहां कोई गौ भी नहीं है । उनको मादक भोजन यथेष्ट मिलता है । इस कारण आपस में लड़ते हुए बहुत मत्त नित्य क्रोध पूर्ण रहते हैं । उसमें भी वे सात होने से समान नहीं हैं । जिससे कि दो दो मिल कर लड़ सके । सांड है इसलिए मारने के भी योग्य नहीं है, क्योंकि ये समान भूमि के गौ जाति के वृष है, न कि अरण्य की विषम भूमि के भैंसे हैं । भगवान् को वीर ! यह सम्बोधन देकर प्रकट किया है कि आप अन्य समस्तों से शूर हैं, इस प्रकार आपकी स्तुति की गई है । जिसका कारण, कोई भी श्रोता इससे अन्यों की निन्दा समझ बैठे उस शङ्का के मिटाने के लिए यह स्तुत्यर्थ विशेषण है न कि अन्य की निन्दा के लिए । गौ वृषों के विशेषणों के देने से प्रथम 'वीर' शब्द देने का तात्पर्य, शौर्य के जगाने में है । यदि भगवान् कह दें कि एक ही मनुष्य बहुत वृषों को चराता है, ये तो सात ही है, इसमें कौनसी बड़ी बात है ? इसके उत्तर में राजा कहता है कि ये वृष वैसे नहीं हैं, किन्तु दुर्दान्त[1] है जो वृष अदान्त होते है, उनसे भी कठिन हैं, दुर उपसर्ग देने का आशय है कि ये वृष दमन कराने के विरोधी हैं । किसी को दमन करने ही नहीं देते है । इन वृषों को दमन करने की सम्भावना भी नहीं है । यों जताने के लिए ऐसा कहा है । अथवा वीरों को भी इनका दमन करना अत्यन्त कठिन है । विशेष में इनसे लड़ना भी बुरा है । जिसका परिणाम मरण पर्यन्त हो सकता है । अथवा आग्रह दुष्ट है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपायों से वे नहीं मारे जा सकते हैं । स्वयं नहीं मरते है, किन्तु अन्यों को मार देते हैं । उनका वीर्य केवल सम्भावना ही नहीं है, किन्तु इनने वैसा कार्य भी कर दिखाया है । जैसे कि इनने राजपुत्रों के गात्रों को तोड़ दिया हैं । यह तोड़ना भी काकतालीय न्याय के समान अकस्मात् एक किसी का नहीं किन्तु बहुतों के तोड़ डाले है । तोड़ना केवल पराजय नहीं है यों हो तो देखकर डर के मारे भाग जाते, किन्तु यहां तो जब तक उनके हाथ पैर टूटे नहीं तब तक इनके दमन का यत्न करते रहते थे । शिक्षा एवं विजय उनमें अप्रयोजक होगी ? यदि यों कहो तो उत्तर में कहता है कि नहीं वे साधारण क्षत्रिय नहीं थे किन्तु राजाओं के पुत्र थे, इसलिए इनमें शिक्षा तथा विजय प्रयोजक हो सकती है ।

१—कठिनाई से दमन करने जैसे है

आभास—वृषाणां दोषा उक्ता इति, तेषु चेत्तव कृपा, एतादृशानप्युद्धरिष्यामीति, तदा भवानेव कन्याया वरः, तदा तां दुष्टामप्युद्धरिष्यति, तदीयांश्च । ते हि कन्यानिमित्तमेव निरुद्धा इति तदुद्धारव्यतिरेकेण कन्योद्धारो नोपपद्यते । अतस्त्वं चेत्तानुद्धरिष्यसि, तदा वर इत्याह **यदीमे निगृहीताः स्युरिति ।**

आभासार्थ—सांडो के दोष कहे, यदि उन पर आपकी कृपा होगी कि इनका भी उद्धार करूं तो आप इनका दमन करेंगे। जिससे कन्या का वर आप ही बनेंगे। तब आप उन दुष्टों का भी उद्धार करोगे, क्योंकि ये कन्या के कारण ही एक स्थान में एकत्र रुके हुए हैं। उनके उद्धार हुए बिना कन्या का भी उद्धार नहीं होगा,अतः आप यदि उनका उद्धार करोगे तो कन्या के वर हैं, यह 'यदीमे निगृहीताः'श्लोक में कहता है।

श्लोक—यदीमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।
वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे यदुनन्दन ! जो आप इनका निग्रह कर लो तो हे लक्ष्मीपति ! आप ही मेरी कन्या के वर हो, यह स्वीकार करता हूँ ॥४४॥

सुबोधिनी--निग्रहे कृते उद्धारोऽवश्यंभावीति तदेवोक्तम् । यदुनन्दनेति लीलार्थमागता कदाचिन्न कुर्यादिति सूचितम् । यादवास्तथा न कुर्वन्तीति । सन्देहश्च गोवर्धनादिना । तदा **अभिमतो वरो भवान्** । **मे दुहितुरिति** स्वस्य हीनतां बोधयति । योग्यता तु सर्वोत्तमैवेत्याह **श्रियः पत इति** ॥४४॥

व्याख्यार्थ - निग्रह होने से इनका उद्धार अवश्य होने वाला है, वह ही कहा है। यदुनन्दन ! सम्बोधन से कहा है कि आप लीला करने के लिए ही पधारे हो, इसी से यह कहा कि अचानक न किया जावे तो कहता है कि आप लीलार्थ आये हो तो भी यदुनन्दन हैं अर्थात् यादव हैं। यादव यों नहीं करते हैं, वे तो ऐसे कार्य करने से पीछे हटते नहीं है। गोवधन आदि लीला आपने की है, इसलिए सन्देह होता है। उद्धार करते हो तो मेरी पुत्री के अभिमत वर आप ही हैं। मेरी पुत्री कहने से अपनी हीनता जताई है, आप में योग्यता तो सर्व से उत्तम है ही, क्योंकि लक्ष्मी के पति हैं ॥४४॥

आभास—प्राप्तैव कन्या, समयः परं पूरणीय इति राज्ञो विश्वासार्थमलौकिकप्रकारं निराकुर्वन् कटिबन्धनादिकं कृत्वा तथा कृतवानित्याह **एवमिति ।**

आभासार्थ—कन्या तो प्राप्त ही है, किन्तु प्रतिज्ञा पूरी करनी चाहिए, यों राजा को विश्वास दिलाने के लिए अलौकिक ढंग का निराकरण करते हुए, लौकिक प्रकार दिखाने के वास्ते कमर बान्धना आदि क्रिया का वर्णन 'एवं समय' श्लोक में करते हैं।

श्लोक--एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं विभुः ।
आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान् ॥४५॥

श्लोकार्थ--भगवान् ने इस प्रकार प्रतिज्ञा सुन, कमर बाँध अपने सात स्वरूप कर लीला से ही उनको पकड़ लिया ॥४५॥

सुबोधिनी--विभुः सर्वप्रकारेण कर्तुं समर्थः। अन्तः प्रविष्टः आत्मानं सप्तधा कृतवान् । सप्तापि भगवानेव भवति । अलौकिकं तु न कर्तव्यम् । रूपाणि त्वेकस्य बहून्यपि भवन्ति । पुत्राश्चित्राणि । कालभेदेन च तानि न तिष्ठन्तीत्येतावन्मात्रमुत्कर्षहेतुरेव । नत्वलौकिकं किञ्चित् । ततो लीलयैव न्यगृह्णात् । लीलैवोत्कर्षहेतुः । बन्धनं तु सुगममेव ॥४५॥

व्याख्यार्थ - सर्व प्रकार से करने में समर्थ श्रीकृष्ण ने भीतर जहां सांड स्थित थे, वहां जाकर अपने सात स्वरूप किए । सात भी भगवान् ही हैं । अलौकिक तो नहीं करना चाहिए रूप तो एक के बहुत भी होते हैं । जैसे पुत्र और चित्र, वे काल भेद से रहते नहीं है । केवल इतना ही उत्कर्ष का हेतु है, इसमें कुछ अलौकिक नहीं है । अनन्तर लीला से ही इनको पकड़ लिया, लीला ही उत्कर्ष का कारण है, बांधना तो सरल ही है ॥४५॥

आभास--निगृह्य बद्ध्वा समानीतवानित्याह **बद्ध्वेति** ।

आभासार्थ--पकड़कर बाँध के ले आए, 'बद्ध्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक--बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः ।
व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा ॥४६॥

श्लोकार्थ--शौरि जिनका गर्व एवं बल नष्ट हो गया हैं, ऐसे उन साँडों को रज्जु से बाँध इस प्रकार खींच कर लाए, जैसे बालक काठ के बैलों को खींच लाते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी--दामभिः पृथक् पृथक् । पूर्वं शृङ्खलाभिरपि न बद्धास्तिष्ठन्तीति । **शौरिरिति** लौकिकोत्कर्षः । गर्वो बलं च हतम् । ततो लीलया व्यकर्षत् । यथा मृतप्राया बलीवर्दा आकृष्यन्ते भारपीडिताः । बलीवर्दत्वमपि तेषां निवृत्तमिति दृष्टान्तेनाह **बालो दारुमयानिति** । ते हि विपरीता अपि पतिता बालेनाकृष्यन्ते, तथा विशीर्णावयवा आकृष्टा इति तेषां गर्वोऽपि **निराकृतः**, राज्ञश्च ॥४६॥

व्याख्यार्थ --जो पहले लोहे के जंजीर से भी बांधे नही जाते थे, उन प्रत्येक को अलग अलग रज्जु से बाँध कर ले आए, क्योंकि शूर वंश में उत्पन्न होने से 'शौरि' हैं । यह लौकिक उत्कर्ष बताया,

उनका बल नाश कर दिया। पश्चात् लीला से खींच ले आये। जैसे मरे हुए जैसे बैल भार से पीडित लाए जाते हैं, उनका वैल पन भी निवृत्त हो गया। यह दृष्टान्त देकर बताते है कि काठ के बने वैल उलटे भी पड़ जाते हैं तो भी जैसे बालक उनको घसीट लाते हैं, वैसे जिनके अवयव शिथिल हो गए है, जिनको आप खींच लाए, यों कर उनका तो गर्व मिटाया, किन्तु राजा का भी मिटा दिया ।।४६।।

आभास—ततो राजा कन्यां दत्तवानित्याह **विस्मित** इति ।

आभासार्थ—अनन्तर राजा ने श्रीकृष्णचन्द्र को कन्या दी जिसका वर्णन 'विस्मित' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ।
तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान् विधिवत्सदृशीं प्रभुः ।।४७।।

श्लोकार्थ—यह देखकर राजा चकित हो गया और प्रसन्न हुआ, अतः भगवान् को अपनी कन्या दो। भगवान् ने भो अपने सदृश उस कन्या का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ।।४७।।

सुबोधिनी—आदौ विस्मितः, पश्चान्मुदितः, बन्धनवशीकरणनिःसत्वकरणान्यत्याश्चर्याणीति विस्मयः। एतदर्थमेव प्रतिज्ञेति कार्ये सम्पन्ने मुदितः। **राजेति** महता सम्भ्रमेण तस्मै दुहितरं ददौ। याचनदानप्रतिग्रहाः तस्यां जाता इति वक्तुं भगवानपि तां प्रतिगृहीतवानित्याह **तां प्रत्यगृह्णादिति**। भक्तावेव भगवानेवं करोतोति **भगवानित्युक्तम्**। धर्मपरोऽयं भगवच्छब्दः। तदेव ज्ञापयति **विधिवदिति**। वैदिकधर्मास्तत्र योजितवान्। तदा लौकिका आसुरा वा धर्मास्तां न स्पृशन्तीति सर्वथा स्वाभिप्रेतं सम्पादयति। तस्यां तथाकरणे हेतुमाह **सदृशीमिति**। स्वभावतः सदृशी। आगन्तुकदोषाभावाय तथाकरणम्। तस्यां दोषदूरीकरणार्थं तथाकरणे लौकिकत्वं भगवति स्यात्, अत आह **प्रभुरिति**। स्वयं स्वत एव समर्थः ।।४७।।

व्याख्यार्थ—राजा पहले चकित हुआ, अनन्तर प्रसन्न हुआ। बांधना, वश में लाना, निर्बल बनाना आदि कार्य विशेष अचम्भेवाले हैं। इनसे राजा चकित हो गया। इस कार्य के लिए ही प्रतिज्ञा थी। वह कार्य पूर्ण होने से प्रसन्नता हुई। 'राजा' कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् को कन्या धूम धाम से आदर पूर्वक दी। 'प्रत्यगृह्णात्' पद का भावार्थ है कि इसमें याचना, दान और प्रतिग्रह तीनों सिद्ध हो पाये। इस प्रकार भगवान् ने स्वीकार किया, 'भगवान्' पद का आशय स्पष्ट करते हैं कि भक्ति में ही भगवान् यों करते हैं। यह भगवान् शब्द धर्म परायण है। अर्थात् इससे भगवान् ने ऐश्वर्यादि गुण प्रदर्शित किए हैं। सारांश यह है कि धर्म प्रकार से शास्त्र विधि अनुसार ही विवाह किया। वैदिक धर्म सब वहां किए। जिससे लौकिक वा आसुर धर्म उसको स्पर्श न कर सके। यों सर्वथा अपना मन चाहा ही पूर्ण करते हैं। इस (सत्या) के लिए यों क्यों किया ? जिसका कारण बताते है कि 'सदृशी 'स्वभाव से समान है। इसके अनन्तर कोई भी दोष न आवे, इसलिए यों वैदिक

प्रक्रिया सम्पूर्ण की किन्तु उसमें दोष न आवे इस वास्ते इस प्रकार करने से भगवान् में लौकिक पन आजायगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् में लौकिक पन नहीं आयगा, क्योंकि आप 'प्रभु' स्वयं स्वतः सर्व समर्थ हैं ॥४७॥

आभास—तद्द्वारा सर्वासामेव स्त्रीणां हितं कृतवानित्याह राजपत्न्य इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने उसके द्वारा सब का हित किया; यह राजपत्न्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।
लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥४८॥

श्लोकार्थ—राजा की पत्नियाँ अपनी कन्या को प्यारा पति कृष्ण मिला देख, परमानन्द को प्राप्त हुईं और बड़ा उत्सव मनाने लगीं ॥४८॥

सुबोधिनी—आदौ राज्ञोपि ताः धर्मैकहेतवो जाताः ततो दुहितरि सापत्न्याभावः। तद्द्वारा स्वस्य सम्बन्धः भगवत्युत्कर्षबुद्धिः स्नेहश्चेति कृष्णमुद्धारकं प्रियमान्तरमीप्सितम्,पतिं बाह्यम्। ऐहिके बाह्याभ्यन्तरसुखदाता। पश्चादपि सायुज्यदः। अतः स्वस्यापि तद्द्वारा तथा भविष्यतीति परमानन्दं लेभिरे। सन्तोष एव तासां निस्तारे नियामकः। आन्तरमुक्त्वा तासां बाह्यमाह जातश्च परमोत्सव इति। महानेव सम्भ्रमस्ताभिः कृत इत्यर्थः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—आदि में राजा की वे रानियाँ धर्म की ही एक हेतु हुई। इस कारण से पुत्री में सापत्न्य भाव किसी ने नहीं किया। अर्थात् सब रानियां उसको सहोदरा समझ, उसके द्वारा अपना भगवान् से सम्बन्ध हुआ है, अतः भगवान् में उत्कर्ष बुद्धि और स्नेह उत्पन्न हो गया। इससे श्रीकृष्ण अपने भी उद्धारक एवं आन्तर प्रिय हैं, ऐसी कामना को। धारण करने योग्य पति हैं ? इस लोक में बाह्य और आभ्यन्तर सुख दाता है और पीछे भी सुख देने वाले हैं। एवं सायुज्य देते है, अतः हम को भी इसके द्वारा उसी प्रकार सुखादि की प्राप्ति होगी, इसलिए परमानन्द को प्राप्त होने लगीं। उनके निस्तार में सन्तोष ही नियामक है, यह आन्तर भाव कह कर अब बाहर का भाव प्रकट करते हैं कि उन्होंने धूमधाम से बड़ा उत्सव मनाया ॥४८॥

आभास—अन्येषामपि सर्वेषां तत्प्रसङ्गात् कृतार्थतामाह शङ्खेति ।

आभासार्थ—अन्य भी जो थीं उन सब को इस प्रसङ्ग से कृतार्थता हुई वह 'शङ्खभेर्यानका' श्लोक में प्रकट करते हैं।

श्लोक—शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः ।
नरा नार्यश्च मुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः ॥४९॥

श्लोकार्थ—शङ्खभेरी और नक्कारे बजने लगे। माङ्गलिक गीत गाये जाते थे। बाजे बजते थे, ब्राह्मण आशीर्वाद देते थे। नगर के नर तथा नारियाँ सुन्दर वस्त्र, आभूषण और मालाओं से सुभूषित हो आनन्द मग्न हो रहीं थीं ।।४९।।

सुबोधिनी—शङ्खादयो वाद्यानि त्रिविधानि, गीतादीनि शब्दात्मकानि त्रिविधानि। षडेते सत्त्वादिसत्त्वान्ता:। गीतानकयो राजसत्वम्। नरा नार्यश्चेति। चकारादनुक्तसर्वसङ्ग्रहः। मुदिता इत्यान्तरम्। वस्त्रादयो बाह्यास्त्रयः। अलङ्काराः सहजा इति चकाराज्ज्ञेया: ।।४९।।

व्याख्यार्थ- शङ्ख, भेरी और नक्कारे तीन प्रकार के वाद्य थे, वैसे ही गीता आदि शब्द के रूप भी तीन प्रकार के थे। ये छः ही सत्त्व से लेकर सत्त्व के अन्त तक थे, अर्थात् इनके प्रारम्भ में सत्त्व था और अन्त में भी सत्त्व था। गीत और नक्कारों में राजसत्व है। नर तथा नारियाँ सब थी, 'च' से जो नहीं कहे हैं उनका होना भी समझना चाहिए। प्रसन्न हुई यह आन्तर भाव है। वस्त्र, आभूषण और मालाएँ ये तीन बाहर के आनन्द को प्रकट करते हैं। अलङ्कार तो सहज ही होते हैं, यों 'च' पद से जानना चाहिए ।।४९।।

आभास—राज्ञः सन्तोषेण प्रायेण सर्वस्वदानमाह दशधेन्विति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ- राजा ने प्रसन्नता से सर्वस्व दान दिया, इसका वर्णन 'दशधेनु' से दो श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद्विभुः।
युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम् ।।५०।।
नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान्।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान्नरान् ।।५१।।

श्लोकार्थ- राजा ने दहेज में दस सहस्र गायें, गले में धुधुकी धारण किए, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, तीन सहस्र दासियाँ, नव सहस्र हाथी, नव लक्ष रथ, नव करोड़ घोड़े, नव पद्म प्यादे दिए ।।५०-५१।।

सुबोधिनी—धर्मकामसाधका एकेन। अर्थसाधकाश्चतुरङ्गसेनारूपा अपरेण। अनभिप्रेतत्वान्न ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह पारिबर्हमिति। कन्याग्रहणे तद्ग्रहणमावश्यकम्। विभुरिति प्रतिष्ठार्थं यथाकथञ्चिद्दानं वारितम्। धर्मो हि सहस्रदक्षिण: प्राकृतवैकृतभेदेन दशविधो भवति। कामस्त्रिविध इति सहस्रशो युवतयो दत्ता:। नायिकाभेदेन गुणभेदेन च त्रैविध्यम्। नियतालङ्कृता रसालम्बना इति। सहस्रशो गजा: सर्वावान्तरजातियुक्ता दत्ता:। नवैव नागभेदा भद्रादयः। रथादयः उत्तरोत्तरं शतगुणा:। पूर्वबुद्धेस्तस्योत्तरा बुद्धिः शतगुणं गृह्णाति।।५०-५१।।

व्याख्यार्थ- धर्म और काम को सिद्ध करने वाले जो पदार्थ दिए वे पहले एक श्लोक में कहे

हैं और अर्थ को सिद्ध करने वाले चतुरङ्ग सेना आदि जो दी उसका वर्णन दूसरे श्लोक में किया है। भगवान् को लेना पसंद नहीं है, इसलिए वे लेंगे नहीं, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'पारिबर्ह' दहेज पद दिया है। जब कन्या ग्रहण की है, तब दहेज लेना आवश्यक है। आप 'विभुः' हैं, अर्थात् सर्व पदार्थ सम्पन्न हैं, इसलिए अपनी मान मर्यादा रखने के लिए कुछ दान रोक दिया, शेष लिया धर्म सहस्र दक्षिण वाला होता है और वह भी प्रावृत तथा विवृत भेद से दश प्रकार का है, अतः दश सहस्र धेनु दी हैं। काम तीन प्रकार का होता है, जिससे हजारों दासियां दी हैं। नायिका भेद से और गुणों के भेद से तीन प्रकार हैं। नियत जो अलङ्कृत हैं, वह रस का आलम्बन है, हजारों गज सर्व प्रकार की जाति के दिए। गजों के भद्र आदि नव ही भेद हैं। रथ आदि एक दूसरे से शतगुण थे। पूर्व बुद्धि से उसकी पीछे वाली बुद्धि शतगुण को ग्रहण करती है ॥५०–५१॥

आभास—ततः स्नेहात्तत्र स्थापनं वारयितुं प्रस्थापनमाह **दम्पती** इति।

आभासार्थ—स्नेह से वहां न रुककर प्रस्थापन 'दम्पती' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ।
स्नेहप्रविलन्नहृदयो यापयामास कोसलः ॥५२॥

श्लोकार्थ—पति पत्नी दोनों को रथ में विराजमान कर बड़ी सेना सङ्ग में दी। स्नेह से द्रवीभूत हृदय वाले कोसल राजा ने उनको रवाना किया अर्थात् विदा दी ॥५२॥

सुबोधिनी—स्थापने धर्मपत्न्यौ कुण्ठिते भवतः। रथं स्वकीयम्। गमनेऽपि राजप्रयत्न एव सर्वोऽपि सूचितः। महत्या सेनया च। तेनैव वृतौ स्वयं गमनमनुचितमिति। स्नेहेन हृदयक्लेदोऽपि गमने प्रतिबन्धकः। अनेन भक्तकर्तव्यं सर्वं कृतवानित्युक्तम्। कोसलदेशाधिपतिरिति स्वयं तत्र भक्तिकरणार्थं स्वयं स्थित इत्यप्युक्तम्॥५२॥

व्याख्यार्थ—विवाहानन्तर कन्या को रोकने से धर्म और पत्नी कुण्ठित[२] हो जाते हैं। रथ अपना था, रवानगी करने में सर्व प्रयत्न राजा की तरफ से था। बड़ी सेना के साथ विदा दी। राजा ने अपना जाना उचित न जाना इसलिए न गए। स्नेह से हृदय द्रवीभूत होना भी जाने में प्रतिबन्धक हुआ। इससे भक्त को जो करना चाहिए, वह सब किया। कोसल देश के अधिपति भक्त होने के कारण भक्ति[३] करने के लिए स्वयं स्थित थे, यह भी कहा है ॥५२॥

आभास—भगवतः सामर्थ्यं प्रतिपादयितुं वृषभजये लोकप्रसिद्धिर्न जातिते तैर्भप्रावयवाः सम्भूय तं ग्रहीतुं यत्नं कृतवन्त इत्याह **श्रुत्वैतदिति**।

१—रवानगी, २—निराश, ३—उपासना

आभासार्थ—वृषभों के जय से भगवान् के सामर्थ्य की प्रसिद्धि नहीं हुई वृषों से जिनके अङ्ग भङ्ग हुए थे वे (राजा) इकट्ठे होकर भगवान् को पकड़ने के लिए प्रयत्न करने लगे, जिसका वर्णन 'श्रुत्वैतत्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रुत्वैतद्रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् ।
भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ।।५३।।

श्लोकार्थ—जिनका प्रथम यादव तथा सांडों ने वीर्य नष्ट कर दिया है, वे राजा यह बात सुनकर सहन न कर सके, अतः कन्या को ले जाते भगवान् को मार्ग में घेर लिया ।।५३।।

सुबोधिनी—एतद्भगवच्चरित्रम् । भूपा इति तेषां स्वदेश उक्तः । भगवतस्तु नापि स्वदेशः, नापि श्वशुरदेशः । सर्वतो रोधे वैयग्र्यं भवतीति । कन्यकामेव नयतीत्यन्यथा श्रुत्वा किञ्चिद्धर्मबुद्धयोऽपि समागताः । अतो राजबाहुल्यं भवति । पथीति विशकलितता सेनायाः । तेषामागमने हेतुं वैरमाह यदुभिर्भग्नवीर्या इति । कन्यार्थं क्लिष्टा अपीत्याह गोवृषैः पुरा भग्नवीर्या इति । तथाप्यागमने हेतुः सुदुर्मर्षा इति । सुष्ठु दुष्टो मर्षो येषामिति । दुरुपसर्गेण दुष्टः क्रोधो भवति ।।५३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् का चरित्र सुन कर 'भूपाः' पद देने का आशय है कि उनका अपना देश था। भगवान् का वा उनके श्वशुर का देश नहीं था । चारों तरफ घेर लेने से व्यग्रता होगी, कन्या को ही ले जा रहे है, यों विरुद्ध समाचार सुनकर जो धर्मात्मा राजा थे वे भी इकट्ठे हो गए, इससे बहुत राजा हो गए । मार्ग में घेर लिया । 'मार्ग' शब्द से यह सूचित किया कि सेना इधर उधर चल रही थी, अतः उनको घेर लेने का अवसर मिल गया । वे आए क्यों ? जिसका कारण बताते हैं कि यादवों ने इनका वीर्य पूर्व ही नष्ट किया था । उस वैर के प्रतिकार के लिए आए थे और कन्या के लिए भी दुःखी थे । वह बताते हैं कि कन्या प्राप्ति के लिए जब आए थे, तब इन गोवृषों ने इनके अङ्ग तोड़ दिए थे । जब अङ्ग तुड़वा के गए तो फिर क्यों आए ? इस पर कहते है कि 'सुदुर्मर्षाः' इनका क्रोध दुष्ट है, अतः इस दुष्ट क्रोध को मिटा न सके, इसलिए क्रोध इनको ले आया ।।५३।।

आभास—न केवलं रोधनमात्रम्, किन्तु मारणार्थमपि प्रवृत्ता इत्याह तानस्यत इति ।

आभासार्थ—केवल प्रभु को रोका नहीं किन्तु मारने के लिए भी प्रवृत्त हुआ ।

श्लोक—तानस्यतः शरव्रातान्बन्धुप्रियकृदर्जुनः ।
गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ।।५४।।

श्लोकार्थ—बांधवों का प्रिय करने वाले गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन ने भगवान्

को घेर कर मारने का प्रयत्न करने वाले उन शरव्रतों (राजाओं) को सिंह जिस प्रकार छोटे हरिणों को ग्रस लेता है, वैसे ही उसने उनको ग्रस लिया अर्थात् अर्जुन ने उनका नाश कर दिया ॥५४॥

सुबोधिनी—भक्तौ भगवदानुगुण्येऽपि भक्तानुगुण्यमप्यपेक्ष्यत इति वक्तुं भगवत्सेवकेनैव ते सर्वे हता इत्याह अर्जुन इति। अलौकिकं भगवता न कर्तव्यम्, ऐश्वर्यं च भक्तिमार्गे स्थापनीयम्। अर्जुनोऽपि न भगवत्प्रेरणया युद्धं कृतवान्, किन्तु बन्धूनां भगवद्भक्तानां वसुदेवादीनां प्रियकृत्, यथा भक्तौ भक्तापेक्षा भवति, बान्धवाश्च स्वोपकारं मन्येरन्। गाण्डीवादीनामुदासीनापकारोपकारौ निरूपितौ। बन्धूनामत्रोपकारो निरूप्यते। एतत्सूचयति गाण्डीवीति। कालग्रासेति। कालवत् जग्रासेति सूचितम् नात्यन्तं क्लेशोऽपि तस्य जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सिंहः क्षुद्रमृगानिति ॥५४॥

व्याख्यार्थ—भक्ति में भगवान् दयालु हो तो भी भक्त की भी उस कर्म में समानता अपेक्षित है अर्थात् वह (भक्त भी) दयालु पन दिखावे यह कहने के लिए बताते हैं कि भगवान् के सेवक अर्जुन ने ही उन सब का नाश किया, भगवान् ऐसे प्रसङ्ग में अलौकिक तो नहीं करते हैं, भक्ति मार्ग मे ऐश्वर्य स्थापन करना चाहिए। अर्जुन ने भी भगवान् की प्रेरणा से युद्ध नहीं किया, किन्तु बाँधव,भगवद्भक्त और वसुदेवादिक को जो प्रिय है, वह किया, जैसे भक्ति मे[1] भक्त की अपेक्षा होती है और बाँधव अपना उपकार मानते थे। गाण्डीवादिकों को उदासीनों में अपकार और उपकार निरूपण किया। यहां बांधवों का उपकार निरूपण किया जाता है। 'गाण्डीवी' पद से यह सूचित होता है। काल जैसे ग्रस लेता है वैसे ही इसने भी उनको ग्रस लिया। इस ग्रसने में अर्जुन को कष्ट भी न हुआ जैसे सिंह को तुच्छ पशुओं के ग्रसने में कष्ट नहीं होता हैं ॥५४॥

आभास—उपसंहरति पारिबर्हमिति।

आभासार्थ—'पारिबर्ह' श्लोक से समाप्ति करते हैं।

श्लोक—**पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया।**
रेमे यदूनामृषभो भगवान्देवकीसुत. ॥५५॥

श्लोकार्थ—दहेज ले, द्वारका में आकर, यादवों में श्रेष्ठ देवकी के पुत्र भगवान् सत्या से रमण करने लगे ॥५५॥

सुबोधिनी—सोपस्करां तां गृहीत्वा विधितोऽपि समानीय परमां रतिं तस्यामुत्पादितवान्। भगवान् नान्यत्र रमते, यथा भक्तौ रमत इति सर्वाभ्यो विशेष उक्तः। द्वारकागमनमर्थादुक्तम्। यदूनामृषभ इति तया गार्हस्थ्यं सम्यक्सम्पादितमिति लक्ष्यते। तत्र सर्वोपपत्तिसिद्धचर्थं भगवानिति। एवं रमणे भक्तकृपैव हेतुरित्याह देवकीसुत इति ॥५५॥

---

[1]—सेवा में

व्याख्यार्थ—दहेज समेत. विधि पूर्वक भी उसको ग्रहण कर द्वारका आए। वहां उसमें परम रति को उत्पादन करने लगे। भगवान् जैसा रमण भक्ति में करते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं करते हैं, इसलिए सब से विशेष कहा। द्वारका जाना किसी अर्थ[1] से कहा, 'यदूनामृषभः' यादवों में वृषभ अर्थात् वीर्यवान् कहने का भावार्थ यह है कि उसके[2] साथ गार्हस्थ्य सम्यक् रीति से पालन करने लगे। भगवान्' नाम कहने से यह जताया है कि आप सब की उत्पत्ति करने में समर्थ हैं। इस प्रकार रमण करने में भक्तों पर कृपा हो कारण है, इसलिए 'देवकी सुतः' कहा है ॥५५॥

आभास—कीर्तिं श्रियं च विधितो गृहीत्वा अष्टैश्वर्ययुक्तः सर्वा एव गृहीतवानित्याह त्रिभिः श्रुतकीर्तेरित्यादिभिः।

आभासार्थ—कीर्ति और श्री को विधि पूर्वक ग्रहण करने से आपके अष्टैश्वर्य कहे। अथवा अष्टैश्वर्य युक्त हो सब को ग्रहण किया, जिसका वर्णन 'श्रुतकीर्तेः' श्लोक से तीन श्लोकों में करते है।

श्लोक—श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः।
ककेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः संतर्दनादिभिः ॥५६॥

श्लोकार्थ—भूआ, श्रुतकीर्ति की कन्या भद्रा, नामवाली कैकय देश के राजा की पुत्री से संतर्दन आदि भ्राताओं के देने पर आपने विवाह कर लिया ॥५६॥

सुबोधिनी—श्रुतकीर्तिरपि पितृभगिनी। कैकयदेशाधिपतेः पुत्री। ज्ञानानन्तरशक्तिर्भ्रातृनिषिद्धेति भक्त्यनन्तरापि कीर्तिस्तथा भविष्यतीति तन्निषेधार्थमाह भ्रातृभिर्दत्तामिति। कृष्ण इत्यसामग्रीमप्येनां गृहीतवान्। संतर्दनोऽतिप्रसिद्ध इति। श्रुतेन कीर्तिः श्रुता वा कीर्तिर्यस्या इति कीर्तिकारणता युक्ता। तर्दनं शब्द इति भवत्येव प्रसिद्धिः। कैकयदेशः पाश्चात्यः ॥५६॥

व्याख्यार्थ—कैकय देश के राजा की पुत्री भद्रा थी। जिसकी माता 'श्रुतकीर्ति' कृष्ण की भूआ थी। ज्ञान के अनन्तर शक्ति[3] थी। उसको भ्राताओं ने रोका था तो भी भगवान् उसको बलात्कार से ले आए थे, किन्तु यहां वह बात नहीं है। अर्थात् भ्राताओं ने रोका तो नहीं किन्तु स्वयं दी है, इसलिए भक्ति के अनन्तर कीर्ति वैसी होगी, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए. 'कृष्ण' नाम देने का तात्पर्य बताते है कि विना दहेज भी इसको लिया। अन्य भ्राताओं का नाम न देकर केवल 'संतर्दन' नाम दिया जिसका कारण है कि वह सब बांधवों से प्रसिद्ध था। सुनने से कीर्ति अथवा जिसकी कीर्ति सुनी है, यों कहकर इसको कारणता योग्य है। यह स्पष्ट किया है 'तर्दन' शब्द, इससे प्रसिद्धि होती ही है, कैकय देश, पश्चिम में है ॥५६।

आभास—श्रीरूपाया लक्ष्मणाया विवाहमाह सुतामिति।

आभासार्थ—'सुतांच' श्लोक से 'श्री रूपा लक्ष्मणा' के विवाह को कहते हैं।

१—मतलब वा आशय से,　२—सत्या के　३—मित्रविन्दा

श्लोक—सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।
स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ।।५७।।

श्लोकार्थ—मद्र देश के राजा की कन्या, जो सब लक्षणों से युक्त थी, उस लक्ष्मणा नाम कन्या को जैसे गरुड़ अकेले अमृत ले आया, वैसे आप अकेले स्वयंवर में से हर ले आए ।।५७।।

सुबोधिनी—मद्रदेशोऽपि कैकयनिकटे । श्री वत्सरूपेति लक्ष्मणा । अस्या विवाहे लक्षणवत्त्वं प्रयोजकमिति लक्षणैर्युतामित्युक्तम् । राधावेधसनिमित्तस्वयंवरे जहार । वरणानन्तरं अग्रिमवाक्यानुरोधेनावगम्यते । एक इति भगवत्प्रतापः। यतः स भगवान् कृष्णः । अप्रतिघातनयने दृष्टान्तः सुपर्णः सुधामिवेति । इन्द्रादिजये च । एतामग्रे विस्तरेण वक्ष्यति । सर्वा एकतो विस्तरोपाख्याना इयमेकत इति ज्ञापयितुं वाचनिके विवाहे विस्तरेणोक्तम् ।।५७।।

व्याख्यार्थ—मद्र देश भी कैकय के निकट है । लक्ष्मणा कौस्तुभ रूप है । इसके विवाह में लक्षणत्व ही प्रयोजक है, इसलिए लिखा है कि वह लक्षणों से युक्त है । अर्थात् लक्षणों वाली है । धन्विचित्र का वेध जिस स्वयंवर का निमित्त था, उसको वेध कर स्वयंवर में कन्या को हर कर ले आए वरण के बाद आगे के वाक्य के अनुरोध से यह समझा जाता है । 'अकेले' ले आये यह भगवान् का प्रताप है, क्योंकि वह भगवान् कृष्ण है बिना प्रतिघात के ले जाने में दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे गरुड़ सुधा को ले आता है । ऐसा इन्द्रादि जय में भी हुआ, इसका विस्तार आगे किया जावेगा । सब एक तरफ विशेष उपाख्यान वाली है और एक तरफ यह एक ही वैसी है, यह जताने के लिए वाचनिक विवाह में विस्तार से कहा है ।।५७।।

आभास—साधनरूपा उक्त्वा साधनाधीनत्वात् साध्यस्य ताः संक्षेपेणाह अन्या इति ।

आभासार्थ--साधन रूप कह कर, साध्य, साधनों के आधीन होने से, उनका संक्षेप में 'अन्या' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः ।
भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ।।५८।।

श्लोकार्थ—और भी श्रीकृष्ण भगवान् की ऐसी हजारों स्त्रियाँ थीं, जिन्हें आप भौमासुर को मारकर, उसके अन्तःपुर[1] से ले आए थे ।।५८।।

१—रनिवास,

सुबोधिनी—चकारादेतास्य उत्कृष्टापकृष्टाश्च संगृहीता:। नरकासुरं हत्वा तदन्त.पुरात्संगृहीता:। तेनैवैकत्र मेलिता भगवता आहृता इति निदर्शनमात्रम्। तासामानयये चारुदर्शनं ज्ञानं सौन्दर्यं च यासामिति हेतुरुक्त:। विजातीया गोपिकादय: असमाना:। उत्कृष्टास्त्वप्सरस: स्वयमागता:। सर्वा एव भार्या आसन्। स्पष्टमेव सर्वासां मुक्तिर्दत्तेति निरूपितम्। एवं भगवतो निरोध:॥५८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मरणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेनवमोध्याय: ॥६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में दिए हुए 'च' से यह बताया है कि इन स्त्रियों के सिवाय अन्य भी कृष्ण की बहुत सुन्दर अथवा साधारण स्त्रियां थीं, जिनको भौमासुर का वध कर उसके रनिवास से लाए थे। उसने जो भी एक स्थान पर इकट्ठी कर रखी थीं, वे ही भगवान् लाये थे। यह केवल उदाहरण है उनके लाने में कारण उनका सौन्दर्य तथा ज्ञान है। विज़ातीय[2] जो गोपिका आदि हैं, वे इनके सदृश नहीं हैं। जो उत्कृष्ट अप्सराएँ हैं, वे स्वय आगई हैं। सब स्त्रियां हुई, इनको मुक्ति दी गई, यह स्पष्ट निरूपण किया, इस प्रकार भगवान् से निरोध हुआ ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
अवान्तर प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

"पञ्च पटरानी विवाह"

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोई। हरि हरि सुमिरत सब सुख होई ॥
हरि हरि सुमिरयौ जब जिहिं जहां। हरि तिहिं दरसन दीन्हो तहां ॥
हरि सुमिरन कालिंदी कीन्हौ। हरि तहँ जाइ दरस तिहिं दीन्हौ ॥
पानि ग्रहन पुनि ताको कियौ। सबै भाँति ताको सुख दियौ ॥
हरिहिं मित्रबिंदा जब ध्यायो। हरि तहँ जात विलंब न लायौ ॥
करि विवाह ताकौं ले आए। तासु मनोरथ सकल पुजाए ॥
हरि चरननि सत्या चित दीन्हौ। ताके पिता परन यह कीन्हौ ॥
सात बैल ये नाथै जोई। सत्या ब्याह तासु सँग होई ॥
हरि तहँ जाइ तासु प्रन राख्यौ। धन्य धन्य सब काहू भाष्यौ ॥
ताके पिता ब्याह तब कीन्हौ। दाइज बहु प्रकार तिन दीन्हौ ॥
बहुरौ भद्रा सुमिरे हरी। गए तासु हित विलंब न करी ॥

२—दूसरी जाति की,

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५९वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५६वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का १०वां अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"तृतीय अध्याय"

भौमासुर का उद्धार और सोलह हजार एक सौ राजकन्याओं के साथ भगवान् का विवाह

कारिका—**सर्वासामुद्धृतिः पूर्वं संक्षेपेण निरूपिता ।**
दशमे विस्तरेणाह तामेवान्यविभाषया ॥१॥

कारिकार्थ—पहले सबों की जो उद्धृति कही है, वह संक्षेप में कही है, उसको ही उत्तरार्ध के इस दशम अध्याय में दूसरी भांति विस्तारपूर्वक कहते हैं ॥१॥

कारिका—**यदर्थमवतीर्णोऽसौ नात्यन्तं तत्र मृग्यते ।**
हेतुरित्यत्र निर्णीतमतस्ता जगृहे हरिः ॥२॥

कारिकार्थ—जिस कार्य के लिए आप प्रकट हुए है, उसमें क्या हेतु है ? उस क

तलाश वहाँ विशेष करने की आवश्यकता नहीं, यों यहाँ निर्णय किया हुआ है । अतः उनको हरि ने ग्रहण किया ॥२॥

-- इति कारिका सम्पूर्ण --

आभास—स्त्रीणां सामान्यतो विवाहे निरूपिते तत्र पराक्रमो न श्रुत इति तदर्थं पृच्छति, सर्वाणि कर्माणि वीर्यवन्ति चेद्भक्तिजनकानि भवन्तीति ।

आभासार्थ—स्त्रियों के (सामान्य रीति से) विवाह का निरूपण हुवा जिससे पराक्रम सुनने में नहीं आया, इससे उसके लिये राजा पूछता है, यदि सर्व कर्म वीर्य वाले होते हैं तब वे भक्ति को उत्पन्न करते हैं ।

श्लोक—राजोवाच—**यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः ।**
निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वन ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित ने कहा कि जिसने स्त्रियां अपने पास रोक रखी थी, उस भौमासुर को जिस प्रकार और जिस कारण से मारा, वह सर्व भगवान् का चरित्र कहो ॥१॥

सुबोधिनी—यथा हत इति । भगवतेति न हनने सन्देहः, किन्तु प्रकारे एव । भौम इति भगवत एव पुत्रः । ननु सर्वे एव यथा हताः तथा सोऽपि हत इति को विशेष इति चेत्, तत्राह येन चेति । राज्ञां हि ताः कन्याः षोडशसहस्रसङ्ख्याताः । यदि स्थानतः स्वरूपतो वा सुगमः स्यात् तदा सर्वे राजानः सम्भूय तं मारयेयुः । लज्जास्पदत्वाद्दुहितृहरणस्य । अतो ज्ञायते सर्वप्राणिनामवध्यः स इति दुर्गमश्चेति । तादृशस्य वधो लौकिकन्यायेन कथमिति भगवति विचारणा । ताः प्रसिद्धाः । किञ्च । निरुद्धा एव कुतः, कथं नोपभुक्ताः । ता वा भगवता कथमाहृता इति । यथा विक्रमो भवति, तथा आचक्ष्व । अनेन तासां विवाहे लोके क्लिष्टता प्रतिभातीति ज्ञापितम् । युक्त्या चैवं ज्ञायतेऽक्लिष्टं भवतीति । यतोऽय शार्ङ्गधन्वा । न हि समर्थः क्लिष्टं करोति ॥१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जैसे मारा, मारने वाले भगवान् हैं इस लिये मारने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, केवल किस प्रकार मारा यही पूछना है, जिसमें ही सन्देह है, नरकासुर नाम न कह कर भौम नाम यह बताने के लिये दिया कि भगवान् का ही पुत्र है, क्योंकि 'भूमि' भगवान् की पत्नी है, उसने जिसको उत्पन्न किया, वह हरिका ही पुत्र कहा जाता है। जैसे सब ही मारे गये वैसे ही यह भी मारा गया, तो फिर इस में क्या विशेषता है ? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर देते है, कि जिसने राजाओं की १६ हजार कन्याएँ लाकर बन्द कर रखी, जो स्थान से वा स्वरूप से उसको मारना, सरल होता तो वे सब मिलकर उसको मार देते, क्योंकि (किसी की) कन्या हरी जाय, यह लज्जा की बात है, इससे जाना जाता है कि वह सब प्राणियों से मारा नहीं जाता, इस प्रकार यह कार्य कठिन होने से, लौकिक ढंग से कैसे मारा जाय, ऐसे विचार भगवान् के मन में स्फुरित हुए।

वे कन्याएँ प्रसिद्ध थीं उनको केवल रोक क्यों रखा ? उनसे भोग क्यों नहीं किया ? उनको भगवान् किस तरह हरण कर लाये, जिस पराक्रम से यह कार्य किया, जैसे आप उचित समझें वैसे कहिये। यों कहने से उनके विवाह होने पर लोक में क्लिष्टता होती हुई भासती है यों जताया है, युक्ति से तो इस प्रकार समझा जाता है कि यह अक्लिष्ट है,क्योंकि यह शार्ङ्गधन्वा हैं,जो समर्थ होता है उसको कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है अर्थात् उसका कार्य क्लिष्टता के बिना ही होता है ।।१।।

आभास—तत्र प्रसङ्गात्तासां विवाहो जात इति वक्तुं देवकार्यार्थी भगवान् प्रवृत्त इत्याह इन्द्रेणेति ।

आभासार्थ—वहां प्रसंग से उनका विवाह हुआ, यों कहने के लिये 'इन्द्रेण' श्लोक में कहते हैं कि भगवान् देवों के कार्य करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इन्द्रेण हृतछत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ।।२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि जब इन्द्र ने आकर भगवान् को जताया कि भौमासुर छत्र, कुण्डल और अमराद्रि में जो मेरा 'मणि पर्वत' नाम स्थान है, ये तीनों ले गया है। यह जानकर भगवान् सत्यभामा के साथ गरुड़ पर विराजमान होकर प्राग्ज्योतिष नाम वाले नगर को पधारे ।।२।।

सुबोधिनी—पूर्वं नरकासुरो दिग्विजये इन्द्रं पराजित्य जयख्यापनार्थं त्रयं गृहीतवान् । राजत्वख्यापकं छत्रम्, तेनेन्द्रत्वं गृहीतवान् । अदितिकश्यपपुत्रत्वमपरिहार्यमहत्त्वं मत्वा कश्यपात् भगवान् महानिति पितृकृतोत्कर्षे सिद्धे 'इयं वा अदिति'रिति भूमिपुत्रत्वेनादित्यत्वे च रूपविशेषख्यापके कुण्डले तस्या गृहीत्वा स्वमात्रे भूम्यै दत्तवान् । तथा त्रैलोक्याधिपतित्वं च दूरीकर्तव्यम् । तत्र यत्र यस्तिष्ठति, तदधिपतित्वं न दूरीकर्तव्यम्, साधारण्यात्, अतो भूम्याधिपत्यं दूरीकर्तुममराद्रिस्थानं मेरौ यदिन्द्रस्य स्थानं तदपि हृतवान् । अनेन स्वस्थानाधिपत्यं दूरापास्तमिति न पातालाधिपत्यव्युदासाय किञ्चिच्चकार । स्वर्गस्थानमपि ग्राह्यमित्यध्यवसायोऽस्ति । अन्येष्ववतारेष्ववतारप्रयोजनमात्रं करोति । नाधिकम् । नापि वामनः पुत्रं मारयितुमिच्छति । भ्रात्रपेक्षया तु पुत्रः प्रियः, अदितिर्भूमिश्च भक्ते । स्वापेक्षयापि पुत्रः प्रिय इति पुत्रेण स्वमात्रे कुण्डले दीयमाने च न निवारयति । विशेषावतारे सर्वगतं तेजस्तत्रैव गच्छति । अतो वामन उदासीन इति इन्द्रः कृष्णमेव विज्ञापयामास । हृते कुण्डले बन्धोर्मातुर्यस्य । हृतममराद्रेः स्थानं यस्य । चेष्टितमधिकग्रहणरूपम् । ज्ञापितो भगवान् । न हि तत्पुत्रोऽन्येन हन्तुं शक्यः । पूर्वं हि चतुर्मूर्तिर्भगवानास । तत्रैका तपः करोति । अपरा परिपालनम् अपरा भोगम् । चतुर्थी तु निद्राति । तासां च रहटघटिकान्यायेन कर्मणां परावृत्तिः । या तपस्यति, सावेक्षां करोति । यावेक्षिष्ट, सा भुङ्क्ते । या बुभुजे, सा शेते । याशयिष्ट, सा तपस्यतीति । क्रियाया कालश्च सहस्रं वत्स-

राणि। तत्रैषा व्यवस्था। या तपस्यति, सोत्तिष्ठति। ये केचन स्वार्थं तपः कुर्वन्ति, तेभ्यः प्रसन्ना भवति। तत्रैकदा भूमिः तपस्यन्ती स्थिता। सन्ध्यायां च भगवानुत्थितो वरार्थं प्रेरयामास। ततः सन्ध्यायां भूमिः पुत्रं वव्रे। ततोऽयं नरको जातः कालवशादसुरः। ततो भगवान् भूम्या पुनः प्रार्थितः। नायं हन्तव्य इति। ततो भगवानाह 'त्वत्सम्मतिव्यतिरेकेण न हनिष्यामी'ति। स्वस्यास्त्रं नारायणाख्यं दत्तवान्। यावदस्मिन्नस्त्रम्, तावन्न मृत्युरिति। स चासुरत्वात् महादेवभक्तो बभूव। त्रिशूलं च प्राप्तवान्, नारायणास्त्रसमानम्। ततः स्वयं शिवभक्त इति त्रिशूलं स्वार्थे स्थापितवान्। पुत्राय भगदत्ताय नारायणास्त्रं ददौ। अतो हनने भूमिसम्मतिरेव ग्राह्या। भूमिश्च सत्यभामा ॥२॥

व्याख्यार्थ—नरकासुर ने पहले जब दिग्विज की थी उसमें इन्द्र को जतिकर, उस विजय की प्रसिद्धि के लिये तीन वस्तुएँ ली थी, राजत्व की प्रसिद्धि हो, इस लिये छत्र, छत्रद्वारा इन्द्रत्व को ग्रहण कर लिया, अदिति और कश्यप के पुत्रपन का माहात्म्य मिटाते, जैसा नहीं है, यो समझ कर कश्यप से भगवान् बड़े हैं इस प्रकार पिता का उत्कर्ष सिद्ध हो जाने पर 'इयं वा अदितिः' यों अदिति रूप में रूपको जो विशेष प्रकाशित करने वाले उसके कुण्डल थे उनको उस (इन्द्र) से लेकर अपनी माता'भूमि'को दिये तथा त्रैलोक्य का आधिपत्य दूर करना चाहिये। उनमें जहाँ जो रहता है साधारण तौर पर उस स्थान का आधिपत्य दूर नहीं करना चाहिये, इस लिये भूमि पर जो उसका आधिपत्य है उसको दूर करने के लिये मेरू पर्वत पर जो इन्द्रका अमर स्थान है वह भी भौम ने हर लिया इससे अपने स्थान का आधिपत्य दूर ही किया, इसलिये पाताल के आधिपत्य के निराकरण के लिये कुछ नहीं किया, स्वर्ग का स्थान भी ग्रहण करना चाहिये, जिसके लिये उद्यम हो रहा है, अन्य अवतारों में अवतार लेने का जितना प्रयोजन होता है केवल उतना ही कार्य करते हैं उससे अधिक नहीं करते, वामन, भगवान् हैं वे पुत्र को मारना नहीं चाहते हैं। क्योकि भाई से पुत्र अधिक प्यारा होता है, अदिति और भूमि दोनों भक्त हैं, अपनी अपेक्षा से भी पुत्र प्यारा होता है, इस लिये पुत्र (भौमासुर) ने जब अपनी माता (भूमि) को कुण्डल दिये, तब उसको रोका नहीं। जब भगवान् विशेष अवतार लेते हैं तब सर्वगत तेज उसमें ही रह जाता है, अतः वामन रूप भगवान् उदासीन हैं, इसलिये इन्द्र उनको प्रार्थना न कर भगवान् कृष्ण को ही प्रार्थना करने लगा, जिससे माता (अदिति) के और बन्धु (वामन) के कुण्डल हरे गए हैं तथा अमराद्रि स्थान का भी हरण हो गया है,यह भौम ने अधिक ग्रहण किया है यह 'चेष्टित' पद से बताया हे, इस प्रकार सर्व समाचार भगवान् को जताये, उनके पुत्र दूसरे से मारे नहीं जाते पहले भगवान् चतुर्मूर्ति रूप थे, उनमें से एक तपस्या करती है, दूसरी पालना करती है, तीसरी भोग करती है, और चतुर्थ शयन करती है। उनके कर्मों की प्रवृति रहट को घटिकाओं के समान होती रहती है। जो मूर्ति तपस्या करती है वह फिर परिपालन करती है, जो परिपालन करती है, वह भोग करती है, जो भोग करती है वह शयन करती है और जो शयन करती है वह तपस्या करती है, क्रिया का काल हजार वत्सर है उसमें यह व्यवस्था है, जो तपस्या करती है, वह उठती है,जो कोई अपने लिये तपस्या करते हैं,उन पर प्रसन्न होती है,वहां किसी समय भूमि तपस्या कर रही थी,सन्ध्याकाल में भगवान् जाग्रत हुए(उठे)वर के लिये उसको प्रेरणा की कि जो चाहती हो, वह मांगले, यों कहने पर भूमि ने सन्ध्या समय पुत्र मांगा, इस प्रकार ऐसे समय वर प्राप्त करने से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह यह 'नरक' है, ऐसे काल में जन्म लेने के कारण 'असुर' हुआ, जब ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ तब भूमि ने भगवान् को प्रार्थना की, कि यह मारने योग्य नहीं होना चाहिये, अर्थात्

आप इसको मारना नहीं, तब भगवान् ने कहा कि, तेरी राय लिये बिना नहीं मारूंगा, अपना अस्त्र 'नारायण' नाम वाला उसको दिया, जब तक इसके पास अस्त्र होगा, तब तक मरेगा नहीं वह असुर था इसलिये महादेवजी का भक्त हुआ, महादेव से 'त्रिशूल' प्राप्त किया, वह त्रिशूल नारायणास्त्र के समान था शिव भक्त होने से त्रिशूल अपने पास रक्खा और नारायण अस्त्र अपने पुत्र भगदत्त को दिया, अतः मारने में शेष भूमि की सम्मति ही लेनी रही, सत्यभामा भूमि की रूप है ।।२।।

आभास—अतो नरकवधार्थं भगवान् सत्यभामया सह गरुडाधिरूढो गत इत्याह **सभार्यो गरुडारूढ** इति ।

आभासार्थ—अतः नरकासुर के वध के लिये भगवान् सत्यभामा के साथ गरूड़ पर विराजमान होकर उसके नगर में गये जिसका वर्णन 'सभार्यो गरुड़ारूढः' श्लोक में करते है—

श्लोक—सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्यौतिषपुरं ययौ ।
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् ।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ।।३।।

श्लोकार्थ—भगवान् पत्नी के साथ गरुड पर बैठकर प्राग्ज्योतिषपुर नाम नगर में गए, जो नगर गिरिदुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जलदुर्ग, अग्निदुर्ग और वायुदुर्ग इन्हों से दुर्गम तथा घोर व दृढ़ दस सहस्र मुर दैत्य की पाशों से चारों तरफ से घिरा हुआ था ।।३।।

सुबोधिनी—प्राग्ज्योतिषपुरमिति तन्नगरनाम । यदा तेजोबन्नात्मिका सृष्टिः, ततः पूर्वमिदं स्थानमुत्पादितमिति ज्ञापनार्थं तथा नाम । ततस्तस्य षडावरणानि निरूपयति गिरिदुर्गैरिति । सर्वतः गिरयः पर्वताः अश्वेचरस्य दुर्गमाः । साम्प्रतं कामरूदेश इति तत्प्रसिद्धिः । शस्त्रदुर्गाणि द्वितीयानि । दुर्गत्वं परितःस्थितया गमनप्रतिबन्धकत्वम् । शस्त्राणि खड्गादीनि । यथा असिपत्रवनम् । ततो मध्ये जलं परितः । ततोन्तरग्निः । ततो वायुरिति । मुरो नाम पञ्चपर्वाविद्याधिष्ठात्री देवता । तस्य पाशाः सर्वापेक्षयान्तरावरणभूताः, ते च दृढाः, पूर्वापेक्षयापि । अनेन क्रम उत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं सूचितम् । **सर्वत आवृतमिति** । सर्वेर्न मार्गोऽपि संरक्षितः । स्वयं तु खेचरः । तेजःप्रभृत्यावरणत्रयं उपर्यपीति सम्प्रदायः । तेन सर्वागम्यम् ।।३।।

व्याख्यार्थ—'प्राग्ज्योतिषपुर' यह उस नगर का नाम था, जब तेज, जल और अन्तरूप सृष्टि बनी, उससे पहले यह नगर बना था, यह जताने के लिये वैसा नाम रखा हुआ है, इस नगर को छ छिपाने वाले व रक्षार्थ दुर्ग (किले, थे । १-पहले गिरि ही दुर्ग थे,अर्थात् चारों तरफ बड़े बड़े पर्वत थे जिससे घोड़े पर सवार का वहां जाना कठिन था, अब उसकी कामरू देश से प्रसिद्धि है, २-दूसरे शस्त्रों के दुर्ग थे, चारों तरफ खड्ग आदि शस्त्र इस प्रकार सजा कर रखे थे जो जाने वालों को प्रतिबन्धक होते थे जैसे असिपत्रवन होता है ३-इसके पश्चात् मध्य में चारों ओर जल ही जल,इसके बाद, ४-अग्नि ही अग्नि इसके अनन्तर ५-वायु इसके पश्चात् पञ्चपर्वा अविद्या का अधिष्ठाता देव मुर उसके दृढ पाश (बन्धन) थे, जो पहले दुर्गो की अपेक्षा भी अन्दर के आवरण रूप थे, इससे यह

समझाया कि एक दुर्ग से दूसरा दुर्ग क्रम से जबर्दस्त था, चारों तरफ आवृत था, इन्होंने कोई मार्ग भी खुला न छोड़ा था, स्वयं तो आकाश से विचरण करने वाला था, तेज से लेकर तीन आवरण ऊपर भी थे, यह रूढि है, जिससे कोई जाने में समर्थ नहो ॥३।

आभास—तादृशस्यापि लौकिकप्रकारेण वधं वक्तुं क्रमेण दुर्गाणां नाशनमाह गदयेति ।

आभासार्थ—वैसे भी नगर का लौकिक उपाय से वध करने के लिये क्रम से दुर्गों का नाश 'गदया' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः ।**
चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥४॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने गदा से गिरिदुर्ग, बाणों से शस्त्रदुर्ग, चक्र से अग्निदुर्ग, जलदुर्ग और वायुदुर्ग तोड़े तथा खड्ग से मुरपाश काट डाले ॥४॥

सुबोधिनी—गदाप्रहारेणाद्रीन्निर्बिभेद । तेन प्रथमावरणे नराणामपि गमनं सुगममभूत् । स एव चेदानीं मार्गः । सायकैः शस्त्रदुर्गाणि चिच्छेद । सुदर्शनेन जलाग्न्यनिलदुर्गाण्यन्तर्भावितवानित्याह चक्रेणेति । आदावग्निप्रवेशनं सजातीयनिराकरणार्थम् । तदुभयोपष्टम्भकं भवति । तस्य च कार्यं जलम् । ततः कारणं वायुमिति प्रान्तस्थितयोरनुप्रवेशः । मुरपाशांस्तु असिना च नन्दकेन चिच्छेद ॥४॥

व्याख्यार्थ—गदा के प्रहारों से पहाड़ों को तोड़ डाला, जिससे जब प्रथम परदा टूटा, तब मनुष्यों का वहां जाना सुगम हो गया, वह ही अब मार्ग है, बाणों से शस्त्रों के दुर्ग छिन्नभिन्न कर दिया सुदर्शन से जल अग्नि और वायु को खींच लिया, आदि में अग्नि में प्रवेश सजातीय निराकरण के लिये, वह उसमें प्रवेश दोनों का रोकने वाला होता है, उसका कार्य जल है, पश्चात् वायु कारण है, इस लिये बाजू में स्थितों का पीछे उसमें लौटकर प्रवेश होता ही है, मुर दैत्य के पाशों को तलवार एवं नन्दक से छीना ॥४॥

आभास—एवमावरणानि दूरीकृत्य दूरान्मारणसाधनानि पाषाणक्षेपणरूपाणि यन्त्राणि चिच्छेदेत्याह **शङ्खनादेनेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार आवरणों को दूर कर दूर से मारने के साधन जो पाषाणों के फेंकने वाले यंत्र थे, उनको छेदन किया, जिसका वर्णन 'शङ्खनादेन' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।**
प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः ॥५॥

श्लोकार्थ—गदाधर भगवान् ने शङ्ख के नाद से यन्त्र और मन से शूरवीरों के हृदय तथा बड़ी गदा से कोट तोड़ डाले ॥५॥

सुबोधिनी--मनस्विनां हृदयानि उत्साहशक्तीश्च। ततो दुर्गप्राकारमपि बिभेदेत्याह प्राकारमिति। गुर्व्येति। तत्र स्थितानां देवानां नाशनसामर्थ्यं द्योतितम्। तेषामुपेत्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय निरुपसर्गः। **गदाधर** इति। अग्रे युद्धार्थी सावधान इत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ--मनस्वियों के हृदयों को और उत्साह शक्तियों के पश्चात् कोट भी तोड़े, हृदय और उत्साह शक्तियों को शङ्ख के नाद से और कोट को बड़ी गदा से, इस प्रकार वहां स्थित देवों को अपनी नाश करने की सामर्थ्य प्रकट कर दिखाई 'निर्विभेद' में निर् उपसर्ग से यह सूचना दी यों करने से वहां निकट पहुँचने में शेष कोई प्रतिबन्ध न रहा। भगवान् का नाम 'गदाधरः' देकर यह बताया है कि आगे यदि युद्ध होवे तो मैं सावधान हूँ ॥५॥

श्लोक—पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम्।
मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥६॥

श्लोकार्थ—सोया हुआ पाँच सिरों वाला मुर दैत्य, युग का अन्त करनेवाली वज्र समान भयानक पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सुनकर जल से उठकर खड़ा हुआ ॥६॥

सुबोधिनी एवं सर्वावरणानि भित्त्वा सावधानो जातः। शङ्खनादस्य माहात्म्यं 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते'ति ततो दर्पाच्छयानः परिखाजले तन्नादेन दर्पनाशं मत्वा कथं जात इति हेत्वन्वेषणार्थ उत्थितः। न केवलं माहात्म्यात् दर्पनाशकत्वम्, किन्तु स्वरूपतोऽपि नादस्तादृश इत्याह **युगान्ताशनिभीषणमिति**। **युगान्ते** प्रलये, तत्रापि मारकत्वेनैव प्रसिद्धः अशनिः, ततोऽपि भीषणः दर्पं हन्त्येव। प्रलये दैत्यानां दर्पस्तिष्ठतीति प्रसिद्धिः। अतो दर्पेण निश्चिन्तः शयानोऽप्युत्थितः। स च दैत्यस्तेन मारणीय एवेति भगवत्सम्मुखोऽपि विरुद्ध एव जातः। अविद्यासम्बन्धीति ज्ञापयितुं **पञ्चशिराः**। पञ्च शिरांसि यस्येति योगः। **मुर** इत्येव नाम। **जलादिति** परिखासम्बन्धिनः ॥६॥

व्याख्यार्थ – इस प्रकार सब आवरणों को तोड़ कर सावधान हो गये शङ्ख नाद का माहात्म्य बतलाते है कि 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' जिस शङ्ख की ध्वनी, भगवान् के मुख से निकले वायु से पुरित होने के कारण दानवों के दर्प (घमंड को नाश करने वाली है, ध्वनी होने के पश्चात् दर्प से खाई के जल में सोया हुआ, उस नाद से अपना दर्प नाश समझ इस प्रकार नाद कैसे हुआ ? इसकी जांच करने के लिये उठा, इस शङ्ख का केवल माहात्म्य दर्शक का नाशक नहीं है किन्तु नाद स्वरूप से भी दर्प नाशक है, इसकी सत्यता दिखाने के लिये कहते हैं कि प्रलय के समय मे मारने के कार्य से जो प्रसिद्ध वज्र है, उससे भी भयानक, शङ्ख की ध्वनी है जिससे अभिमानियों का दर्प दूर करती है, यह बात तो प्रसिद्ध है कि दैत्यों का दर्प प्रलय के समय भी रहता है, अतः दर्प के कारण निश्चिन्त होकर सोया हुआ भी ध्वनि सुनते ही उठ कर खड़ा हो गया और

वह दैत्य तो मारने के योग्य ही है, कारण कि भगवान् के सन्निधान में सम्मुख होते हुए भी, भगवान् से विरुद्ध हो के खड़ा है, क्योंकि यह दैत्य अविद्या का सम्बन्धी है, इसको बताने के लिये कहा है कि 'पञ्चशिरा:' पांच शिरों वाला है 'मुर' इतना ही नाम है 'जलात्' पानी से कहा, जिसका तात्पर्य है, नगर के चारों तरफ रक्षा के लिये खाई खोदी हुई है, जिसमें पानी भरा रहता है ॥६।

आभास—उत्थित एव युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह त्रिशूलमिति ।

आभासार्थ—'त्रिशूल' श्लोक से कहते है कि युद्ध के लिये प्रवृत्त होना उचित ही है ।

श्लोक—त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखैरभ्यद्रवत्ताक्ष्र्यसुतं यथोरगः ॥७॥

श्लोकार्थ—प्रलयकाल के सूर्य व अग्नि के समान तेजवाला होने से जो देखा भी नहीं जा सकता है, वैसा वह दैत्य पांचों मुखों से मानो त्रिलोकी को ग्रसता हुआ त्रिशूल को लेकर भगवान् के सामने यों दौड़कर आया, जैसे सर्प गरुड़ पर दौड़ आए ॥७॥

सुबोधिनी—अनेनासहायवीरत्वमुक्तम् । सुदुर्निरीक्षण इति युक्तमेव तस्य तथात्वम् । यो हि द्रष्टुमेवाशक्यः, तेन सह को वा युध्येत् । किञ्च । युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः । पाञ्चजन्यध्वनिस्तु प्रलयाशनितुल्य एव, अस्य तु देहकान्तिरपि प्रलयसूर्यानलसदृशी । ततोऽप्युल्बणश्च । अत एव युद्धे निःशङ्कः । महाभूतान्यपि यो भक्षयितुं शक्तः, स कथं जेयो भवेदित्याह ग्रसंस्त्रिलोकीमिति । पञ्चभिर्मुखैः चतुर्षु दिक्षु उपरि च सर्वानेव लोकान् भक्षयति,न समायेति । दर्शनमात्रमेव तस्य भयानकम्, न तु युद्धं कर्तुं शक्त इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह ताक्ष्र्यसुतं यथोरग इति । गरुडं सर्पो यथाभिधावति भक्ष्यः ॥७॥

व्याख्यार्थ—'सुदुर्निरीक्षण' जिसको देखना ही अशक्य है, उसके साथ कौन लड़ सके ? इससे वीरता को किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है, यह सूचित किया है और विशेष यह है कि पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनी तो प्रलय के वज्र के समान है किन्तु इसकी देह कान्ति भी प्रलय के सूर्य तथा अग्नि के समान है, उससे भी तेज होने से युद्ध में निः शङ्क था, जो महाभूतों को भी खाने के लिये समर्थ है, वह कैसे जीता जा सकता है, इसको सिद्ध करने के लिये कहा है कि पांच मुखों से चारों दिशाओं में और ऊपर के सब लोकों का भक्षण करता हुआ शान्त न होता है, उसका केवल देखना ही भयानक है, युद्ध करने के लिये शक्तिमान् नहीं है, यह जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे भक्ष्य सर्प गरुड के पास दौड़ जाता है, वैसे यह भी मरने के लिये भगवान् के पास दौड़ के गया ॥७॥

आभास—गतस्य पराक्रममाह आविध्येति ।

आभासार्थ—गये हुवे के पराक्रम का वर्णन 'आविध्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्स पञ्चभिः ।
खं रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वेग से त्रिशूल को फिरा कर गरुड़ पर चलाया और पांचों मुखों से गर्जना की, उसकी गर्जना का नाद अन्तरिक्ष, पृथ्वी, सब दिशा और आकाश में भर गया, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड घिर गया ॥८॥

सुबोधिनी—उत्तोल्य भ्रामयित्वा वा । तरसा यावद्द्वितीयो न सावधानः । स हि भगवन्तं द्रष्टुमशक्तो गरुडमताडयत् । अविद्या भगवन्तं न विषयीकरोति । कालान्तरमेव भगवत्प्राप्तिरिति कालरूपं गरुडं क्षोभयति । निरस्य प्रक्षिप्य । निरसनेन अवहेला सूचिता । न हि अस्मद्बलं शूलेन समर्थितं भवतीति तृणमिव दूरीकृतवान् । ततोऽविद्यया तं मोहयितुं पञ्चभिर्वक्त्रैर्व्यनदत् । विशेषेण शङ्खध्वनिं कृतवान् । अन्यस्त्वेकधा गर्जति, अहं पञ्चधेति ज्ञापयितुम् । तस्य नादस्य महत्त्वमाह खं रोदसीति । सर्वमेव विवरस्थानं पूरयन् अण्डकटाहमावृणोत् । उपर्यपि ब्रह्माण्डं भित्त्वा गत इत्यर्थः । तत्त्वानामप्यविद्यामोहो वर्तत इति अलौकिकत्वाच्छब्दस्य बहिर्गमनम् । ब्रह्माण्डस्यापि अण्डत्वाद्रोमकूपवच्छिद्रत्वम् । मध्ये सर्वत्र पूरणं न भविष्यतीति विशेषतो गणयति । खमाकाशं मध्यस्थितं सर्वेषां हृदयाकाशो वा । रोदसी द्यावापृथिव्यौ । सर्वा अष्ट दिशः । अन्तरं मध्यम् । शब्दाघातादुत्पन्नस्य शब्दान्तस्य तथात्व भविष्यतीत्याशङ्क्याह महानिति । आ समन्तात्पूरणं बृंहणन्यायेन ॥८॥

व्याख्यार्थ—त्रिशूल को जल्दी ऊँचा उठा कर वा फिरा कर जैसे दूसरा सावधान न हो सके; वह भगवान् को देखने में समर्थ नहीं था इसी लिये गरुड़ के ऊपर उसका प्रहार किया, भगवान् को क्यों न देख सका ? इस शंका का निवारण आचार्य श्री करते है कि, अविद्या भगवान् को अपना विषय नहीं बना सकती है कालान्तर में अथवा काल के अनन्तर ही भगवत्प्राप्ति व दर्शन होते हैं, इससे काल रूप गरूड़ को व्याकुल किया 'निरस्य' फेंक कर यों कहने से यह बताया कि हमारे बल को त्रिशूल समर्थित नहीं कर सकता हैं, इसलिये तिनके समान फेंक कर उसकी अवहेलना को इस के अनन्तर अविद्या से उसको मोहित करने के लिये पाँचों मुखों से ध्वनी की विशेष प्रकार से शङ्ख ध्वनी की, दूसरा तो एक प्रकार से गर्जना करता है, और मैं पांच प्रकार से करता हूँ, यह बताने के लिये यों ध्वनी की, उस नाद का महत्व कहते है, समस्त जो विवर हैं उनको पूरित करता हुआ ब्रह्माण्ड को घेरे लिया । ब्रह्माण्ड का भेदन कर ऊपर भी वह नाद गया, तत्त्वों को अविद्या का मोह होता है, यों अलौकिक पन से शब्द का बाहर जाना हो सकता है, ब्रह्माण्ड भी अण्ड है इससे रोमकूप की तरह उसमें भी छिद्रपन है मध्य में सर्वत्र भरा नहीं जाएगा, इसलिये उसकी विशेष गणना की है, 'खं' आकाश मध्य में स्थित अथवा समस्त का हृदयाकाश, पृथ्वी आकाश, सब आठ दिशाएँ मध्य, शब्द के आघात से पैदा हुए दूसरे शब्द भी वैसे ही होंगे, यों शङ्का कर उसके समाधान के लिये कहते हैं कि 'महान्' वह बड़ा नाद है, इस नादका सर्वत्र भरजाना व्यापक न्याय से है ॥८॥

आभास—एवं तस्य पराक्रममुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवच्चरित्रमाह तदापतदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका पराक्रम कहकर, इसके प्रतीकार के लिये जो भगवान् ने चरित्र किया उसका वर्णन 'तदापतत्' इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तदापतद्वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामच्छिनत्त्रिधौजसा ।
मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥९॥

श्लोकार्थ—गरुड़ पर गिरते हुए त्रिशूल को देख भगवान् ने अपने दो बाणों से तीन टुकड़े कर डाले और तेज से उसके मुख को भर दिया, जिससे क्रोधित हो उस दैत्य ने भी भगवान् पर गदा फैंक दी ॥९॥

सुबोधिनी—तच्छूलमापतत् गरुडोपरि तदेव स्थितम् । त्रिशिखमित्यनेन भेदत्रयं करोतीति त्रिसत्यानां देवानामपि मारकं तदिति सूचितम् । गरुत्मत इति पक्षवानतिकोमल इति । स्वतो निवारणसामर्थ्यं चाह । भगवांश्च हरिः । ततः प्रतीकारोऽवश्यं कर्तव्य इति शराभ्यामच्छिनत् । त्रिधा छेदे न पुनः प्ररोहतीति । तच्छूलं दैत्यमित्यनेन ज्ञापितम् । ओजसेति । तदधिष्ठिता देवतापि यथा छिन्ना भवति, तस्य तेजसा सह वा । तेजोऽपि त्रिधा छिन्नमित्यर्थः । न केवलं त्रिशूलच्छेद एव, किन्तु सोऽपि ताडित इत्याह मुखेष्विति । यथा न रूपात् तस्य रवेण लोकानां भयं जायत इति मुखान्यपि ताडितानि । अर्थात् पञ्चभिः । आपूरितानि वा । तदा यावद्भिः पूरणं भवति । रव एव च निवारणीय इति । तं चापीति । भिन्नतया सोऽपि हृदये ललाटे वा हतः। तदा पक्षपातं ज्ञात्वा मम गम्यो भविष्यतीति तस्मै भगवते सोऽपि ताडितोऽपि रुषा 'अपकृतोतिक्रुद्धो भवतो'ति दूरादेव गदां प्रक्षिप्तवान् ॥९॥

व्याख्यार्थ- दैत्य का फेंका हुआ त्रिशूल गरुड़ के ऊपर पड़ा नहीं किन्तु वहां ही स्थिर हो गया, उस त्रिशूल के दो वा तीन भेद[1] करते हैं, वह त्रिशूल त्रिसत्य जो देव है, उनके भी नाशक है, इससे यह भी सूचित किया, गरुड़ कोमल पांखों वाला है, जिससे यह बताया कि वह स्वयं उसको हटा नहीं सकता है, भगवान् का नाम 'हरि' है अर्थात् सर्व का दुःख हरण करने वाले हैं, तब गरुड़ का दुःख कैसे न हरेंगे ? अवश्य हरेंगे, इसलिये भगवान् ने निश्चय किया कि इसका प्रतीकार अवश्य करना चाहिये, जिससे दो बाणों से उसको तोड़ तीन टुकड़े किये, तीन भाग होने से फिर वह बनता नहीं, इससे यह जाना जाता है कि यह त्रिशूल दैत्य था, तेज से यों किया, जैसे उसका अधिष्ठाता देवता भी छिन्न हो गया, न केवल इतना किन्तु तेज से करने से उसका तेज भी टूट कर तीन भागों में बंट गया, केवल त्रिशूल का तेज सहित छेदन नहीं हुआ किन्तु वह स्वयं भी ताडित हुआ, उसके रूप से मनुष्यों को उतना डर नहीं होता है जितना उसकी आवाज से भय उत्पन्न होता है इसलिये उसके मुखों को भी ताड़ित किया अर्थात् शरों से पांचों मुखों को भर दिया जैसे उनसे शब्द न निकल सके, और उसके हृदय एवं ललाट पर भी आघात किया जिससे उस दैत्य ने भी क्रोधित होकर भगवान् पर दूर से अपनी गदा फेंकी क्योंकि जो तिरस्कृत होता है, वह बहुत क्रोधवाला होता है, इसलिये पास में आने को सामर्थ्य न होने से दूर से भी गदा मारी ॥९॥

१—टुकड़े वा भाग

आभास—सापि गदा देवताधिष्ठितेति भगवान् स्वगदयैव तन्निराकरणं कृतवानित्याह तामापतन्तीमिति ।

आभासार्थ - वह गदा भी देवता से अधिष्ठित थी, इसलिये भगवान् ने अपनी गदा से ही उसका निराकरण किया यह 'तामापतन्तीं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तामापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ।।१०।।

श्लोकार्थ—संग्राम में आती हुई उस गदा के भगवान् ने अपनी गदा से हजारों टुकड़े कर डाल, तब वह दैत्य दोनों हाथ उठाकर दौड़ता हुआ भगवान् के सम्मुख आया, तब भगवान् ने लीला मात्र से उसका सिर चक्र से काट डाला ।।१०।।

सुबोधिनी--कौमोदक्या नितरां बिभिदे । सहस्रधेति । योजनायामशक्या कृता । सजातीयेन सजातीयहननमयुक्तमित्याशङ्क्याह मृध इति । सङ्ग्रामे न दोषः । **गदाग्रज** इत्यनुप्रासः, स्त्रीणां हितकारी वा । बाहूनुद्यम्येति ग्रहणार्थं समागमनमुक्तम् । स च भगवता न स्प्रष्टव्य इति कालेनैव तमच्छिनदित्याह **शिरांसि चक्रेण जहारेति** । पञ्चापि पर्वाणि छिन्नानि, यथा प्रतीत्यापि न संसारः । लीलयेति सुदर्शनसामर्थ्यं व्यावर्तयति । पौरुषं स्वकीयमेव व्यापृतम्, परं निरायासेन, प्राप्त एवायासो व्यावर्त्यते । अथवा । लीलैव तत्स्थाने व्यापृता भविष्यतीति । तेन निरोधरूप एव संसारः साम्प्रतं प्रवर्तताम्, नत्वन्य इति लीलयेत्युक्तम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ – विशेषकर कौमोदकी से तोड़ा हजारों टुकड़े कर दिए, जिससे वह पुनः जोड़ा न जा सके । सजातीय से सजातीय को नाश करना योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं, युद्ध में इस प्रकार करने में दोष नहीं है । 'गदाग्रज' शब्द अनुप्रास अलङ्कार या स्त्रियों के हितकारी अर्थ में दिया है । बाहुओं को ऊपर उठाकर इसलिए आया कि भगवान् को पकड़ लूँ, किन्तु भगवान् तो उसका स्पर्श करना नहीं चाहते हैं; क्योंकि असुर होने से अयोग्य है । इसलिए उसका काल से ही छेदन किया, अतः कहा है कि उसके सिरों को चक्र से काट डाला, उसके पाँच अविद्या के पर्व रूप हैं, जिनके कट जाने से फिर प्रतीति से भी संसार देखने मे नहीं आवेगा । 'लीलया' पद देकर यह बताया कि इसमें सुदर्शन को सामर्थ्य व परिश्रम भी नहीं हुआ । अपना ही पौरुष फैला हुआ है, किन्तु बिना आयास के । यद्यपि आयास प्राप्त है, पर उसकी निवृत्ति हो गई अथवा उस स्थान में लीला ही फैली होगी; जिससे संसार निरोध रूप ही प्रवृत्त होवे, न कि अन्य संसार प्रवृत्त होगा, अतः लीलया' पद दिया है ।।१०।।

आभास—छिन्नेष्वपि शिरस्सु दैत्यत्वात्कदाचित् प्राणाः हृदयादिषु तिष्ठेयुरिति तस्य छिन्नशिरसोऽग्रिमावस्थामाह व्यसुः पपातेति ।

आभासार्थ—यह दैत्य है, इस कारण से यदि सिरों के गिर जाने पर भी प्राण हृदय आदि

में रह जावे, तो इस पर उसकी अग्रिम अवस्था 'व्यसुः पपात' श्लोक में बताते हैं।

श्लोक—व्यसुः पपाताम्भसि निकृत्तशीर्षो निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥११॥

श्लोकार्थ—इन्द्र के वज्र से कटे हुए गिरि जैसे गिर पड़ते हैं, वैसे ही यह भी सिरों के कटने से प्राण मुक्त हो, जल में गिर गया। उसके सातों पुत्र पिता के वध से दुःखी हुए और क्रोध में आकर पूर्ण उद्यत हो, बदला लेने के वास्ते आए ॥११॥

सुबोधिनी—विगता असवो यस्येति। भूमौ पतितस्य दैत्यत्वात् पुनरुद्गमो भविष्यतीति अम्भसि पात उच्यते। 'आपो हि रक्षोघ्नी'रिति। अविद्यायामपि भगवत्सामर्थ्यमग्रेऽप्युत्पादनाभावार्थं च अजित इत्युक्तम्। न केनापि मायादिभिरपि पराजितः। निकृत्तशीर्ष इति। निकृत्त शिरो यस्येति। नितरां छेदः पुनर्योजनाभावार्थः। आधिदैविकच्छेदार्थो वा। युगान्तरेऽपि प्रादुर्भावाभावाय दृष्टान्तमाह निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेति। इन्द्रतेजसा वज्रेण। तथापदं पुनरुत्थाने इन्द्राद्भयं सूचयति। तथाऽपि भयादनुत्थानम्। तस्य सप्तव्यसनानि पुत्राः साधिकरणा मारिता इति वक्तुं तेषामागमनमाह तस्यात्मजा इति। मूलच्छेदे शाखा इव ते न प्रयोजका इति पितुर्वधेनातुराः प्रतिक्रियार्थममर्षजुषः सेवितरोषाः। मारकस्य मारणं प्रतिक्रिया। स्वतः असामर्थ्यात् क्रोधसेवां कृतवन्तः। क्रोधेनापि कदाचिद्भवेदिति। समुद्यता इति बहिःसामग्री निरूपिता। अन्तः क्रोधः ॥११॥

व्याख्यार्थ—उसके प्राण निकल गए, पृथ्वी पर नहीं गिरा। यदि पृथ्वी पर गिरता तो दैत्य होने से कदाचित् फिर इसमें प्राणों का उद्गम (आना) हो जावे, अतः जल में गिरा; क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'आपो हि रक्षोघ्नीः' जल राक्षसों के हन्ता हैं, भगवान् का नाम 'अजित' देकर यह सूचित किया है कि सिर अविद्या रूप थे, यदि वे उस रूप से कदाचित् उत्पन्न हो जाय? इस शङ्का को मिटाते हैं कि भगवान् किसी से माया आदि से भी जीते नहीं जाते हैं, इसलिए भगवान् ने जिस अविद्या को नष्ट कर दिया, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है, उसके सिर पूर्णतया ऐसे काटे गए थे, जैसे फिर वे जुड़ न सके अथवा उसका छेदन आधिदैविक था। अविद्या का ऐसा नाश हुआ, जैसे इंद्र के वज्र से नष्ट पर्वत फिर उत्पन्न होना नहीं चाहते हैं; क्योंकि हम उत्पन्न होंगे तो इन्द्र मारेगा, वैसे भगवान् के भय से अविद्या भी सदैव के लिए नाश हो गई। उसके जो सात पुत्र थे, वे व्यसन रूप थे, उनका भी भगवान् ने अधिकरण सहित नाश किया, यह कहने के लिए उनके आगमन को कहते हैं, यद्यपि वे कुछ करने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि मूल टूट जाने पर शाखाएँ भी नष्ट जैसी हो जाती हैं, वे पत्र पुष्प नहीं दे सकती है, अतः किसी काम की नहीं है, वैसे ही ये भी फिर भी पिता के वध से दुःखी एवं क्रोधित हुए। क्रोध से बदला लेने के लिए आए, उनमें स्वतः तो सामर्थ्य नहीं थी, किन्तु क्रोध से भी कदाचित् बदला लिया जावे, इस विचार से आए। यह बाहर की सामग्री बताई, भीतर क्रोध था ॥११॥

आभास—तेषां प्रसिद्धयर्थं नामानि गणयति ताम्रोऽन्तरिक्ष इति।

आभासार्थ—उनकी प्रसिद्धि के लिए उनके नाम 'ताम्रोऽन्तरिक्षः' श्लोक से गिनाते हैं।

श्लोक—ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुर्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और सातवाँ अरुण ये सब पीठ नामवाले सेनापति को आगेवान बनाकर भौमासुर प्रेरित युद्ध भूमि में गए, फिर शस्त्रों को धारण किया ॥१२॥

सुबोधिनी—ताम्र इति वर्णतः क्रोधात्मकः। अन्तरिक्ष इति सर्वक्रियाव्यापारयितुमशक्यः। श्रवण इत्याकाशरूपः। विभावसुः सूर्याग्नितुल्यः। वसुः भीष्मादेरप्यधिकः। नभस्वान् वायुः। तत्तुल्यः। अरुणः सर्वोद्बोधकः। वर्णतो वा भयानकः। सप्तम इति क्रमोऽत्र विवक्षित इति ज्ञापयति। पीठस्तेषामाधारभूतः। नरकासुरस्य सेनापतिः। मृधे युद्धार्थं भौमप्रयुक्ताः। स्वस्थाने नरकासुरस्तान् प्रेषितवान्। ते हि स्वापेक्षयापि पितृवधाद्युद्धं करिष्यन्तीति। युद्धार्थं प्रथमतो निरगुः, धृतायुधाश्च पश्चाज्जाताः। अनेन युद्धे निश्चयो निरूपितः॥१२॥

व्याख्यार्थ—'ताम्र' इस नाम से उसका वर्णन क्रोध रूप बताया है, 'अन्तरिक्ष' नाम से बताया है कि सब प्रकार की क्रिया करने में यह असमर्थ है, 'श्रवण' नाम से आकाश रूप कहा है, 'विभावसु' नाम से सूर्य एवं अग्नि के समान बताया है, 'वसु' नाम से भीष्मादि से भी अधिक बताया है, 'नभस्वान्' नाम से वायु कहा है या उसके सदृश वहाँ 'अरुण' नाम से सबको जगाने वाला अथवा वर्ण से भयानक सातवाँ कहने से यहाँ क्रम विवक्षित है, यह जताया है। 'पीठ' उन सातों का आधार है, नरकासुर का सेनापति है, ये सब युद्ध के लिए भौम से प्रेरित अपने स्थान पर नरकासुर ने इसलिए भेजे थे कि पिता के वध से ये मुझ से भी विशेष युद्ध करेंगे, युद्ध के लिए पहले ही निकले हुए शस्त्रों को बाद में धारण किया। इससे युद्ध करने का निश्चय प्रकट किया ॥१२॥

आभास—ततः शस्त्राणि प्रायुञ्जतेत्याह **प्रायुञ्जतेति**।

आभासार्थ—अनन्तर शस्त्रों को फेंकना आरम्भ किया, यह 'प्रायुञ्जत' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥१३॥
तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः ।

श्लोक—ये क्रोध से आविष्ट हो भगवान् के निकट आकर, हर एक ने छः छः आयुध (बाण, तलवार, गदा, बरछी, गुर्ज और त्रिशूल) चलाए, अमोघ पराक्रम भगवान् ने अपने असाधारण बाणों से उस शस्त्र जाल के टुकड़े-टुकड़े कर काट गिरा दिए ॥१३½॥

सुबोधिनी--आसाद्य निकटे गत्वा षड्विधान्यस्त्राणि भगवति प्रयुक्तानि निरूपयति **शरानि**त्यादिभि: । **अष्टि**रायुधविशेष: । सप्तभिरपि प्रत्येकं षड्विधानि प्रयुक्तानि । यद्यप्यजितो भगवानिति जानन्ति, तथापि रुषा क्रोधेन उल्बणा: सन्त: तथा कृतवन्त: । भगवता कृतं प्रतीकारमाह तच्छस्त्रकूटमिति । **स्वमार्गणै**रिति । असाधारणैर्बाणै:, अन्यथा अग्नेर्बाणा:, दुर्गाया असि:, गदा वायो:, अष्टिरपि वरुणादे:, शक्तिर्मायाया:, शूलं शिवस्येति, एतावन्त: तत्तद्देवताधिष्ठिता न हता भवेयु: । ननु भगवानेव तेष्वपि स्वसामर्थ्यं दत्तवानिति कथं भगवांश्चकर्तेत्याशङ्क्याह **अमोघवीर्य** इति । तेषु दत्तं परगामि मोघं जातम्, तदेव स्वस्थाने अमोघम् । अत: अमोघेन मोघानि वीर्याणि प्रतिहतानीत्यर्थ: । तिलश: कर्तनं पुनर्नीत्वा लोहखण्डान्यपि सज्जीकर्तुमशक्ता:नीति ज्ञापयति । हेत्याश्चर्ये । तावन्न कर्तव्यम्, प्रयोजनाभावात्, तथापि स्वस्याक्लिष्टकर्मत्वं ज्ञापयितुं तावत् पराक्रमं प्रदर्शितवान् । शस्त्राणां विनियोगमुक्त्वा प्रयोक्तृणामाह तान् **पीठमुख्यानिति** । **यमक्षयमिति** तावद्दण्डार्थम्, मुरवत्पुनरावृत्त्यभावाय वा । ते हि पीठं पुरस्कृत्य समागता इति उपजीव्यत्वात् उत्साहनिवृत्त्यर्थं प्रथमत: स एव हत: । मूर्च्छादिना अलौकिकप्रकारेण हननं व्यावर्तयितुमाह **निकृत्तेति** । चत्वार्यङ्गानि कवचं च निकृत्तानि येषाम् । पितु: पञ्चांशा: तेषु प्रतिष्ठिता इति कार्ये तदंशव्यावृत्त्यर्थं शिर: प्रभृतीनां छेदनम् । शीर्षाणि ऊरव: भुजा: अङ्घ्रयश्च । ज्ञानं गतिश्चाद्यन्तयो: । उत्पत्ति: कर्माणि च मध्ये । तत एवं क्रम: ॥१३½॥

व्याख्यार्थ—'आसाद्य' का तात्पर्य बताते हैं कि भगवान् के समीप आकर छ: प्रकार के आयुध भगवान् पर चलाने लगे, जिसका निरूपण करते हैं, 'शरान्' इस से लेकर अन्य भी 'अष्टि' यह विशेष आयुध है, सातों में से हर एक ने छ: प्रकार के आयुध चलाए, यद्यपि जानते थे कि भगवान् अजेय हैं तो भी क्रोध की अधिकता से यों करने लगे । इस प्रकार जब उन्होंने किया, तब भगवान् ने उसका जो प्रतिकार किया, वह कहते हैं । भगवान् ने अपने असाधारण अमोघ बाणों से उनके शस्त्र जाल के तिल-तिल जितने टुकड़े कर डाले, यदि भगवान् अपने अमोघ बाण नहीं चलाते तो यह शस्त्र जाल टूटता नहीं; क्योंकि ये सब शस्त्र अपने-अपने देवताओं से अधिष्ठित थे, जैसा कि बाण अग्नि से, खड्ग दुर्गा से, गदा वायु से, अष्टिभी वरुण आदि से, शक्ति माया से, शूल शिव से अधिष्ठित था । इन देवताओं में भगवान् ने ही अपनी सामर्थ्य स्थापित की है तो फिर भगवान् ने उनको कैसे काट डाला ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अमोघ वीर्य हैं अर्थात् भगवान् का पराक्रम कभी भी निष्फल नहीं जाता है, भगवान् का वीर्य अपने में तो अमोघ रहता है, दूसरे पात्र में जाने पर पात्रानुसार मोघ हो जाता है, अत: अमोघ वीर्य से मोघ वीर्य नष्ट हो गए, तिल-तिल जितना होने से लोह का पदार्थ भी पुन: बन नहीं सकता है । 'ह' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिए दिया है, प्रयोजक के अभाव से इतना नहीं करना चाहिए था तो भी अपना अक्लिष्टकर्मत्व दिखाने के लिए यों पराक्रम दिखाया गया है, शस्त्रों का विनियोग कह कर, अब शस्त्र चलानेवालों का विनियोग बताते हैं, 'यमक्षयं' मुर की तरह फिर आवृत्ति न हो, इसलिए इनको अक्षय दण्ड दिया है जिस पीठ' नाम वाले सेनापति को अपना बचाने वाला जान ले आए थे, उसका ही पहले नाश किया; क्योंकि उसके नाश से सबका उत्साह नष्ट हो जायगा, अलौकिक प्रकार से मूर्च्छा आदि द्वारा उनका नाश नहीं किया; किन्तु चारों अङ्ग एवं कवच नष्ट किया, पिता के पाँच अंश इनमें प्रतिष्ठित थे, इसलिए उस अंश के निवृत्ति के वास्ते सिर आदि का छेदन किया गया । १-मस्तक, २-जङ्घा, ३-भुजा और ४-पाद इन चारों अङ्गों का छेदन किया, जिससे सिर से ज्ञान और पाद से गति नाश हुई, उत्पत्ति और कर्म मध्य अङ्गों से नाश हुए, इस प्रकार यह क्रम बताया है ॥१३½॥

आभास—तत उभयेषां मुरस्य तत्पुत्राणां च फलरूपस्य नरकस्य निराकरणार्थं प्रवृत्तिमाह स्वानीकपानिति ।

आभासार्थ—अनन्तर मुर और उसके पुत्रों को जो फलरूप नरक मिलता था, उसके निराकरण के लिए 'स्वानीक' श्लोक में प्रवृत्ति को कहते है ।

श्लोक—**स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैस्तथा निरस्तान्नरको धरासुतः ॥१४॥**
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैर्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् ।

श्लोकार्थ—भगवान् बाण और चक्र से अपने सेनापतियों को मरा हुआ देख, पृथ्वी का पुत्र नरकासुर, बहुत क्रोध में आकर समुद्र से प्रकट हुए, मद झरते हुए हाथियों की सेना लेकर बाहर निकला ॥१४½॥

सुबोधिनी—तस्य जयहेतवः सेनाः तासामनीकानां रक्षकाः । अज्ञानेन व्यसनैश्च नरकः सिद्धो भवतीति तेषां निराकरणे स्वयं निराकृतोऽपि लौकिकैः साधनैः स्वजयो भविष्यतीति आस्रवन्मदैर्गजैः सहितः युद्धार्थं निराक्रमत् । अच्युतत्वान्न तस्य केनाप्यंशेन क्षतिः । मुरश्चक्रेण हतः, अन्ये सायकैरिति ससाधनसाध्यस्यानुवादः । तथेति प्रकारस्यापि ततस्तदपेक्षया समर्था गजा इति सूचयितुं पूर्वानुवादः । नन्वग्निवत् भगवान् स्थूलान् सूक्ष्मानपि दहतीति, ततो बलिष्ठानपि गजान् मारयिष्यतीति, कथं तत्प्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह निरीक्ष्येति । दुर्मर्षण इति । दुष्टक्रोधयुक्तः । ज्ञानाच्छादको वर्तत इति तथा प्रवृत्तिः । गजानामुत्कर्षमाह आस्रवन्मदैः पयोधिप्रभवैरिति। कार्यकारणोत्कर्षौ निरूपितौ । स्वभावतो गजा जीवेषूत्कृष्टाः सञ्चराः । अतस्त्रिविधोऽप्युत्कर्षो निरूपितः । गजानां मदस्रव एव बलोत्कर्षे हेतुः । ऐरावतः पयोधिप्रभव इति समानजनकत्वेन तत्सामर्थ्यं सर्वेषां निरूपितम् ॥१४½॥

व्याख्यार्थ—नरकासुर को जिताने वाली सेना के रक्षक जब मारे गए, तब नरकासुर की प्राप्ति हुई अर्थात् वह बाहर निकल आया । अज्ञान से या व्यसनों से ही नरक सिद्ध होता है, उनके निराकरण होने से यद्यपि स्वयं निराकृत हो गया, तो भी लौकिक साधनों से जीत होगी । यों समझ जिनका मद जल बह रहा था, ऐसे समुद्र से उत्पन्न मस्त हाथियों को लेकर युद्ध के वास्ते बाहर आया, भगवान् तो अच्युत हैं, उनकी तो किसी भी अंश से क्षति नहीं हो सकती है, नरकासुर ही चक्र से मारा गया, दूसरे बाणों से नष्ट किए गए । यों साधन सहित साध्यों का अनुवाद है । 'तथा' शब्द का भावार्थ है कि नमूना भी वही है, अनन्तर उसकी अपेक्षा हस्ती समर्थ बलवान् है, यों सूचना करने के लिए पहले का अनुवाद किया है । भगवान् तो जब अग्नि की भाँति सूक्ष्म और स्थूल सबको ही जला देते है, तब बलिष्ठ हस्तियों को भी मार डालेंगे, यों था तो फिर उसकी प्रवृत्ति कैसे हुई ? यदि यों कहा जावे तो कहते हैं कि अपने सेनापतियों को नष्ट हुआ देखकर, दुष्ट क्रोध से युक्त हो गया, जिससे उसका ज्ञान आच्छादित हो गया अर्थात् अज्ञानी बन गया । ऐसी दशा होने से ही प्रवृत्ति हुई, हस्तियों का उत्कर्ष बताते हैं, एक तो इन हस्तियों की उत्पत्ति समुद्र से हुई, जिससे

कारण के हेतु उत्कृष्टता थी, दूसरा उस कारण से उत्पन्न कार्य मदजल स्रवित हो रहा था। गज स्वभाव से पशु जीवों में उत्कृष्ट है और सर्वत्र सङ्घ बनाकर घूमते हैं, अतः तीन प्रकार से उनका उत्कृष्ट निरूपण किया है। हाथियों के बलोत्कर्ष में हेतु उनका मदजल स्रवण ही है, ऐरावत समुद्र से उत्पन्न हुआ है। इसलिए इनका भी उत्पन्न करने वाला समान होने से ऐरावत के सदृश ही इनका सामर्थ्य निरूपण किया गया है ॥१४½॥

आभास—मातरं पितरं कालं च दृष्टवानिति निरूपयितुं तस्य भगवद्दर्शनं वर्णयति **दृष्ट्वा सभार्यमिति** ।

आभासार्थ—माता, पिता और काल को देखा, जिसका वर्णन करने वास्ते 'दृष्ट्वा सभार्य' श्लोक में भगवद् दर्शन का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरिस्थितं सूर्योपरिष्टात्सतडिद्घनं यथा ।**
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं योधाश्च सर्वे युगपत्स्म विव्यधुः ॥१५॥

श्लोकार्थ—गरुड पर विराजमान सत्यभामा सहित भगवान् को देखा, मानो सूर्य पर बिजली के साथ बादल चढ़ आए हैं, आते ही उस दैत्य ने भगवान् पर शतघ्नी चलाई और योद्धा भी एकदम प्रहार करने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—युद्धार्थमागमनशङ्कैव निवारिता। तत्रानुरक्तश्चेत्, कृतार्थ एव भवेदिति। भगवान् न लौकिकसाधनैरलौकिको जेतुं शक्य इति अभूतोपमामाह **सूर्योपरिष्टादिति**। अद्भुतत्वाद्रागद्वेषाभ्यामिष्टानिष्टसूचकं भवति। यदि सूर्योपरि आधिदैविकः मेघः आधिदैविकविद्युल्लतया सह तिष्ठति, आदित्य एव पर्जन्य इति भवति। तस्याधिदैविकं रूपं तादृशमिति वचनोपपत्तिः। तथापि कृष्णः कालात्मा स्त्रीणां हितकारीति तस्य न सद्बुद्धिरुत्पन्ना, किन्तु विरुद्धैवेति तत्कार्यमाह **तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीमिति**। शतं हन्तीति योगोऽपि तस्य विवक्षितः। तादृशीं विशेषेणासृजत्, योधाश्च शतघ्नीभिर्बाणैर्वा युगपदेव स्मेति प्रसिद्धं विव्यधुः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—युद्ध के लिए आने की शङ्का ही मिटा दी, यदि उसमें अर्थात् भगवत्स्वरूप में आसक्त हो जावे, तो कृतार्थ हो जावे। अलौकिक भगवान् लौकिक साधनों से जीता नहीं जाता, इसलिए अभूत उपमा देते हैं। अद्भुत होने से राग और द्वेष से इष्ट तथा अनिष्ट का सूचक होता है, जब सूर्य के ऊपर आधिदैविक मेघ आधिदैविक बिजली के साथ होता है, तब आदित्य[1] ही इन्द्र बन जाता है, उसका आधिदैविक रूप वैसा है। यों वचन की उपपत्ति[2] है, तो भी कृष्ण अत्र कालात्मा है, स्त्रियों का तो हितकारी है, इसलिए उसको[3] सद्बुद्धि नहीं आई, किन्तु विरुद्ध बुद्धि ही उत्पन्न हुई,

---

१- सूर्य, २- हेतुपूर्वक सिद्धि, ३- नरकासुर को,

उस विरुद्ध बुद्धि का कारण कहते हैं कि उसने शतघ्नी[1] को भगवान् पर फेंका, ऐसे को विशेषता से रचा और योद्धों ने भी शतघ्नी तथा शरों से साथ ही प्रहार किया, 'स्म' प्रसिद्धि अर्थ में है ॥१५॥

श्लोक—तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोऽङ्घ्रिविग्रहं चकार तर्ह्येव हताश्वकुञ्जरम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उसी क्षण भगवान् ने विचित्र पङ्खों वाले तीक्ष्ण बाणों से उस भौमासुर को सेना के भुजा, उरु, सिर और चरण काट डाले, इसी तरह हाथी-घोड़ों को भी मार डाला ॥१६॥

सुबोधिनी—आदौ तेषामपराधो निरूप्यते । भगवतोऽक्लिष्टत्वाय । यावत्ते युद्धार्थं प्रवृत्ताः, ततः पूर्वं तस्मिन् वा समये भगवान् स्वमार्गणैः प्रथमतो योधांश्चिच्छेद । ततस्तत्प्रयुक्तान्यस्त्राणि। पूर्वमस्त्राणामुपस्थित्यभावात् । नात्र क्रमो दोषाय । तत्प्रसिद्धं भौमस्य सैन्यम् । भगवत्त्वात् न पुत्रादिभावस्तस्य बाधक इति भगवत्प्रवृत्तिः । सोऽपि मातुः पुत्र इति पित्रापि सह युद्धकरणं नायुक्तम् । गदाग्रज इति । भक्तोत्पादनार्थं भगवतस्तथाकरणं युक्तमेव । लौकिकेनैव प्रकारेण तान् हतवानिति ज्ञापयितुं भगवच्छरान् विशिनष्टि विचित्रवाजैरिति । दूरगमनलक्ष्यैकगमनप्रयोजकाः पक्षाः । विचित्रा वाजा येषामिति । वायुर्जायते गतिर्वा येभ्य इति । निशितानि कार्यसाधकानि । निकृत्तानि बाह्वादीनि यस्येति । प्रक्षेपकौ बाहू । आगमने जङ्घालता प्रयोजिका । कर्मजन्मनो वा पूर्ववत् । ततो ज्ञानगती । बाहूरुशिरोऽङ्घ्रयः विग्रहे यस्येति तादृशं चकार । तर्ह्येव यस्मिन् क्षणे युद्धार्थं तत्सैन्यं प्रवृत्तम्, तस्मिन्नेव क्षणे प्रथमशस्त्रविमोकानन्तरं यथा नापरं विमुञ्चति, तदर्थं पार्श्वभागान् सर्वानेव निराकृतवान् । वाहनानां निराकरणमाह । हता अश्वाः कुञ्जराश्चेति । चतुरङ्गं रथा अचेतनाः । नराणां स्वरूपमुक्तमेव, अवशिष्यन्ते वाजिनः करिणश्चेति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का अक्लिष्टत्व सिद्ध करने के लिए प्रथम उसका अपराध निरूपण किया जाता है, जब तक वे युद्ध प्रारम्भ करें, उससे पहले अथवा उसी समय में भगवान् ने अपने शस्त्रों से योद्धाओं को छेद डाला, पहले अस्त्र पास नहीं थे, अतः पीछे उन्होंने अस्त्र लगाए, यहाँ इस प्रकार का क्रम दोष के लिए नहीं है। भौमासुर का वह सैन्य प्रसिद्ध है, आप भगवान् हैं, इसलिए पुत्रादि भाव उनको बाध नहीं कर सकते हैं, इसलिए भगवान् में प्रवृत्ति की है। वह (मुर) भी माता का पुत्र है, इस वास्ते पिता के साथ भी युद्ध करना अयोग्य नहीं है। भगवान् गदाग्रज हैं, इसलिए भक्त के उत्पादन के लिए भगवान् को यों करना उचित ही है। भगवान् ने इनको लौकिक प्रकार से मारा, यह जताने के लिए शरों का वर्णन करते हैं। वे बाण विचित्र पङ्ख वाले हैं, पङ्खों की विचित्रता से यह

१- सौ को मारे

सूचित किया है कि इनके जाने का लक्ष्य दूर जाना ही है और जिनसे वायु उत्पन्न होती है अथवा जिनसे गति होती है। तीक्ष्ण कहने का भावार्थ यह है कि कार्य को सिद्ध करने वाले हैं, भगवान् ने योद्धों के शरीर के चार मुख्य अङ्ग बाहू, सिर, उरु और चरण काट डाले। इन अङ्गों के कार्य बताते हैं कि 'बाहुओं' से शस्त्रादि फैंकने का कार्य करते, आने में 'उरु' काम देते, 'सिर' ज्ञान का, 'चरण' जाने का; अतः इनके काट डालने से सर्व क्रिया लुप्त हो गई। जिस समय उसकी सेना युद्ध के लिए प्रवृत्त हुई, उसी क्षण में प्रथम शस्त्र फेंकने के बाद दूसरा न फेंक सके, इस वास्ते सब तरह के भागों का निराकरण कर दिया। अब वाहनों का निराकरण कहते हैं कि चतुरङ्ग सेना में मनुष्य, घोड़े, हस्ती तथा रथ होते हैं, जिनमें मनुष्यों का पहले नाश कहा, रथ अचेतन है, शेष बचे हुए घोड़े और हस्तियों को भी नाश कर दिया ।।१६।।

आभास—ततः शस्त्राणां छेदनमाह ।

आभासार्थ—अनन्तर शस्त्रों का काटना कहते हैं।

श्लोक—यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह ।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ।।१७।।
उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।

श्लोकार्थ—हे कुरूद्वह ! शस्त्रधारी उन योद्धों ने जो-जो शस्त्र चलाए, उनको पहुँचने से पहले ही भगवान् ने तीखे वाणों से उन शस्त्रों को काट डाला, उस समय भगवान् गरुड पर विराजमान थे और गरुड अपने पङ्खों से गजों को मार रहा था ।।१७½।।

सुबोधिनी—यानि तैरेव योधैः प्रयुक्तानि। शस्त्राणि गृहीत्वा प्रहरणसाधनानि। अस्त्राणि तु प्रक्षेप्यानि, ब्रह्मास्त्रादिरूपाणि वा। कुरूद्वहेति विपरीतत्वाद्विश्वासार्थम्। तानि स्थितानि अग्रेपि साधनत्वाल्लोकोपद्रवकारीणि भविष्यन्तीति तान्यच्छिनदित्यभिप्रायेणाह **हरिरिति**। तीक्ष्णैः शरैरिति नालौकिकत्वम्। एकैकशस्त्रिभिरिति च। ये पुनर्गजाः स्वार्थं शोभाकरा भवन्ति, तान् न हतवानिति वक्तुं तादृशेन गरुडेन उह्यमानो भगवान्निरूप्यते। येन गजाः अन्तःप्रवेशनार्थं पक्षाभ्यामेव हताः। हस्ताभ्यामन्तःप्रवेशिता इव निरूपिताः। सेनारूपाः दैत्यांशा गजा मारिताः, साधारणा देवांशाश्च रक्षिता इति विभागः।।१७।।

व्याख्यार्थ—मारने के जो साधन रूप शस्त्र थे, उनको लेकर उन योद्धों ने चलाया और ब्रह्मास्त्र आदि जो अस्त्र फेंकने जैसे थे, वे फेंके। वे यदि टूटेंगे नहीं, तो आगे भी लोकों का उपद्रव करेंगे; क्योंकि उपद्रव के साधन हैं, इसलिए भगवान् ने उनको तोड़ डाला, यदि न तोड़ डालते, तो आपका 'हरि' दुःखहर्त्ता नाम निरर्थक हो जाता। इसलिए उस नाम को सार्थक करने के लिए उनको नष्ट कर दिया, उनका नाश अलौकिक प्रकार से नहीं किया, किन्तु लौकिक की भाँति तीखे बाणों से

किया और एक-एक शस्त्रधारियों ने जो अस्त्र-शस्त्र चलाए, सबको हस्तियों में जो अपने लिए शोभा करने वाले होंगे उनको नहीं मारा। यों कहने के लिए कहते हैं कि भगवान् वैसे गरुड़ पर विराजमान हुए थे, जिस गरुड़ ने ऐसे हस्तियों का नाश न कर शेष हाथी जो सेना रूप दैत्यांश थे, उनको मारा, साधारण हस्ती जो देवांश थे, उनकी रक्षा की, यों गजों के दो भाग किए। जिस गरुड़ ने भीतर प्रवेश के लिए पक्षों से गजों को मारा, मानो हाथों से भीतर प्रवेश के लिए यों किया, यह वैसे उनका निरूपण किया ॥१७॥

आभास—ततो गरुडहतानां पुरप्रवेशमाह **गरुत्मतेति** ।

आभासार्थ– अनन्तर गरुड़ के मारे हुए हाथियों का पुर में प्रवेश 'गरुत्मता' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः ।**
पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ॥१८॥

श्लोकार्थ– गरुड़ जब हाथियों को चोंच, पांख और नखों से मारने लगा, तब वे दुःखी होकर नगर में ही प्रविष्ट हो गए, भौमासुर लड़ने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—तुण्डपक्षनखाः तामससात्विकराजसाः आर्ताः सन्तः पुरमेवाविशन् । न तु तेषु युद्धार्थं बुद्धिरुत्पन्नेत्यर्थः । ततस्तेषु निवृत्तेषु नरकः स्वयमयुध्यत । **युधीत्यावश्यकता** ॥१८॥

व्याख्यार्थ– गरुड़ ने चोंच, पाँख व नखों से प्रहार किया। वे तामस, सात्विक और राजस थे, उनसे जो हस्ति पीड़ित हुए, वे पुर में घुस गए, उनकी बुद्धि लड़ाई के लिए नहीं हुई, जब वे लड़ने से मुख फेर नगर में चले गए, तब नरकासुर स्वयं लड़ने लगा; क्योंकि उस समय 'युद्ध' प्रारम्भ हो गया था। युद्ध में लड़ना राजा के लिए आवश्यक है ॥१८॥

आभास—इदं युद्धं केवलमेव, 'अहं योत्स्यामी'ति उत्साहनिश्चयात्मकम्, शस्त्रप्रहरणात्मकं त्वाह **दृष्ट्वे**ति ।

आभासार्थ—मैं अकेला ही यह युद्ध लड़ूंगा, ऐसे उत्साह से निश्चय किया था कि शस्त्रों से प्रहार करूंगा, यह वर्णन 'दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ।**
तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ॥१९॥

श्लोकार्थ—भौमासुर ने यह देखकर कि उसकी सेना गरुड़ से दुःखी हो भाग

गई, जिस गरुड़ से वज्र रुक गया था, उस गरुड़ पर शक्ति का प्रहार किया ॥१८॥

सुबोधिनी गरुडेन विद्रावितं स्वसैन्यं दृष्ट्वा, अर्दितं च, न केवलं भयमात्रेण पलायितम्। यद्यपि स्वयं भगवता सह युद्धार्थमागतः, अन्यं च न गणयति, तथापि तादृशोऽपि स्वयमेव तं गरुडं शक्त्या प्राहरत्। ननु तथाप्यल्पे कथं स्वविक्रमं योजितवानित्याशङ्क्याह **वज्रः प्रतिहतो यत** इति। गरुडाद्वज्रोऽपि प्रतिहतः। तदमृतहरणे गरुडस्य प्रसिद्धम्। अतो महति पौरुषं कर्तव्यमिति न काप्यनुपपत्तिः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—गरुड़ से पीड़ित और भागी हुई, अपनी सेना देखकर भौमासुर समझा कि यह केवल भय से नहीं भागी है, किन्तु हार कर भागी है। यद्यपि वह भगवान् से ही लड़ने के लिए आया था, दूसरे को तो गिनता भी नहीं है, तो भी वैसा होते हुए भी स्वयं उस गरुड़ पर शक्ति का प्रहार करने लगा। अल्प (छोटे) पक्षी पर अपना पराक्रम कैसे प्रयोजित किया या दिखाया ? इसका उत्तर दिया है कि गरुड़ अल्प नहीं है; क्योंकि गरुड़ से वज्र भी रोका गया था। गरुड़ का यह चरित्र अमृतहरण समय में प्रसिद्ध हैं, अतः महान् में सामर्थ्य बताना भी युक्ति युक्त है ॥१९॥

आभास—इदं माहात्म्यमग्रेऽप्युपयुज्यते। एकमेव वाहनं भगवत इति तदुपद्रवे भगवति काचिच्छङ्का स्यात्, अतस्तन्निवारणं वक्तव्यम्, अत एव किञ्चिज्ज्ञातमित्याह **नाकम्पतेति**।

आभासार्थ—यह माहात्म्य आगे भी उपयोग में आएगा, भगवान् का ये एक ही वाहन है, उसका उपद्रव हो, तब भगवान् को कुछ शङ्का होगी ? इसलिए उस शङ्का का निवारण करना चाहिए, उसकी शक्ति ने क्या किया ? वह नाकम्पत' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः।**
शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः ॥२०॥

श्लोकार्थ—उस शक्ति के प्रहार से गरुड़ जैसे हाथी पर माला गिरे तो वह थोड़ा भी हिलता नहीं है, वैसे काँपा नहीं। जब इस प्रकार भौमासुर का उद्यम निष्फल हुआ, तब भगवान् को मारने के लिए त्रिशूल हाथ में लिया ॥२०॥

सुबोधिनी—**तया** शक्त्या विद्धः। तेनाल्पमपि शरीरभेदमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह **मालाहत इवेति**। मालया हतः। भेदेऽपि व्यथाभावायाह **द्विप इवेति**। यथा अङ्कुशेन विद्धः द्विपो जागर्ति, कार्यक्षमश्च भवति, तथा गरुडः अतिपराक्रमयुक्तो जात इत्यर्थः। ततो लज्जितो नरकासुरः महादेवात् प्राप्तं शूलं तस्मिन् जीवति अमोघमच्युते योजयितुं विचारितवानित्याह शूलमिति। यतो भौमो मातुः पुत्रः। तथा करणे हेतुमाह **वितथोद्यम** इति। वितथः गरुडे पराक्रमो व्यर्थो जात इति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—उस शक्ति से वेधे गए गरुड़ का अल्प भी शरीर में भेद अर्थात् कम्पन न हुआ, जैसे हस्ति को माला का प्रहार हो तो कुछ भी उसको नहीं होता है, वैसे ही इसको भी कुछ तो नहीं हुआ, किन्तु जैसे अंकुश लगने से हस्ति जगता है और कार्य करने में समर्थ हो जाता है, वैसे ही गरुड़ भी विशेष पराक्रम से युक्त हुआ. इससे नरकासुर लज्जित हो, महादेव से प्राप्त अमोघ त्रिशूल को अच्युत पर चलाने के लिए विचार करने लगा; क्योंकि भौम माता का पुत्र है, भगवान् पर त्रिशूल चलाने का कारण कहते है कि गरुड़ पर जो शक्ति चलाई, उसका वह उद्यम निष्फल हुआ, इस कारण से पुनः यह उद्यम करने लगा ।।२०।।

आभास—भगवान् पुनः शूलस्यापि माहात्म्यं स्थापनीयमिति, यस्मिन् क्षणे शूलं त्यक्ष्यति, तत्पूर्वक्षण एव सुदर्शनेन तस्य शिरोऽच्छिन्नदित्याह **तद्विसर्गादिति** ।

आभासार्थ—भगवान् को महादेव के त्रिशूल का माहात्म्य भी स्थापित करना था, यदि त्रिशूल भगवान् पर चलाते तो वह निष्फल जाता, जिससे त्रिशूल की अमोघता नष्ट होने से उसका माहात्म्य भी न रहता, यह भगवान् को अभीष्ट नहीं था, इसलिए भगवान् ने उसके द्वारा त्रिशूल चलाने से पहले क्षण में सुदर्शन से उसका सिर काट डाला, जिसका वर्णन 'तद्विसर्गात्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।**
अपाहरद्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ।।२१।।

श्लोकार्थ—उस त्रिशूल के चलाने से पहले ही भगवान् ने हस्ती पर बैठे हुए नरकासुर का सिर चक्र की तीक्ष्ण धार से काट गिरा दिया ।।२१।।

सुबोधिनी—पूर्वमेवोत्पन्नप्रयत्नेन छेदनसमकालमेव विसर्गोऽपि जातः । अन्यथा स्थिते शूले सोऽवध्य इति केचित् । नेदं महादेवदत्तं शूलमित्यन्ये । किञ्च । स गजस्थः । आचमनाद्यभावान्न तस्मिन् शूले महादेवः सन्निहित इत्याह **गजस्थस्येति** । चक्रस्य सामर्थ्यं व्यावर्तयितुमाह **क्षुरनेमिनेति** ।।२१।।

व्याख्यार्थ—उसके त्रिशूल चलाने के पहले ही भगवान् ने प्रयत्न से सुदर्शन की तीक्ष्ण धार से जो सिर काटा, उसके कटते ही उसके प्राण भी निकल गए. यदि यों न होता तो त्रिशूल के रहते हुए वह मारा नहीं जाता । यों कोई कहते है और दूसरे कहते हैं कि त्रिशूल महादेव का दिया हुआ नहीं हैं । किञ्च वह वास्तव में हस्ती पर बैठा था, आचमन आदि कर्म नहीं किए, जिससे उस त्रिशूल में महादेवजी का आवेश न हुआ, चक्र की सामर्थ्य का निवारण करने के लिए कहा है कि 'क्षुरनेमिना' तीक्ष्ण धार से ही काट डाला अर्थात् चक्र से नहीं काटा, किन्तु उसकी धार से ही काट डाला ।।२१।।

आभास—ततस्तस्य शिरसः पुनर्योजनाभावाय विनियोगान्तरं वदन् वर्णयति **सकुण्डलमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उसका सिर फिर जुड़ेगा नहीं, अतः उसका दूसरा विनियोग वर्णन 'सकुण्डल' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत्।
हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे ॥२२॥

श्लोकार्थ—कानों में कुण्डल, सिर पर सुन्दर मुकुट वाला, देदीप्यमान मस्तक पृथ्वी पर गिरा और वहाँ भी चमकता रहा। उस समय दैत्य हा-हाकार करने लगे, ऋषि लोग साधु-साधु कहने लगे और देवाधिपति फूल बरसाते हुए स्तुति करने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी—यथा भूमेः सकाशात् शिर एव प्रादुर्भूतमविकृतं तथा भातीति ज्ञापयितुं कुण्डलकिरीटयोर्वर्णनम्। सम्यक् उज्ज्वलत् शिरः पतितं जातमित्यर्थः। ततो बभौ। भूमिरवहेलनं न करोतीति सम्यक् स्थापनात् शोभा। यथा तदीय पुत्रः तस्यै समर्प्यते। इयं भूमिरभिमानिनी देवता, न त्विला भगवच्छक्तिः, सा आधिदैविकी। सत्यभामा त्वाधिदैविकी। तस्या आनयने पञ्च प्रयोजनानि। पूर्णो भवति शक्त्या सहितः, बलभद्रे शक्तिविभागे योन्यंशः पृथक्कृत इति। माहात्म्यं च प्रदर्शनीयम्। तद्वाक्येन नरकासुरोऽपि हन्तव्यः। सापत्न्यसहनार्थम्, अन्यथा सा स्त्र्यन्तरसद्भावं न सहेत। बलाद्धरणे तु दृष्टत्वात् मंस्यत इति। पारिजातहरणार्थं च। ततो लोकाः हाहेत्यब्रुवन्। ऋषयश्च स्वपुत्र इति स्वयमेव छिन्न इति। अन्ये च पुनः ऋषयः साध्विति। सुराश्च साध्वेव कृतमिति। अनुमोदनमेव कुर्वाणाः माल्यैः विकिरन्तः, नरकस्यापि मोक्षो दत्त इति, मुकुन्दमीडिरे। हाहेतीडिरे, साध्विति च, किमित्ययं पुत्रो मारित इति भगवतः पराक्रममुक्त्वा ईडिरे। अन्ये तु साध्वेव कृतमिति वदन्तः ईडिरे इति। पुष्पवृष्टिर्देवार्थं तद्वध इति सूचयति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जैसे भूमि से उत्पन्न सिर ही अविकारी होता है तथा चमकता रहता है, वैसे यह चमक रहा था, यों जताने के लिए कुण्डल तथा मुकुट का वर्णन है अर्थात् अच्छी तरह चमकता हुआ सिर गिर गया कहने का यही तात्पर्य है, इस कारण से ही चमकने लगा,, भूमि सिर का तिरस्कार करना नहीं चाहती है, इस कारण से भूमि ने उसे अच्छी तरह से रखा, जिससे शोभा हुई। जैसे किसी माता को पुत्र गोद में दिया जाय, तो वह माता उसे गोद में अच्छी तरह बिठाती है, जैसे वह सुशोभित होवे, उसी प्रकार भूमि ने भी किया। यह पृथ्वी अभिमानिनी देवता है, भगवान् की शक्ति 'इला' नहीं है, वह इला आधिदैविकी नरकासुर की माता है, जिसका रूप अब सत्यभामा 'आधिदैविकी' है। उसको अपने साथ ले जाने में पांच प्रयोजन हैं; भगवान् जब शक्ति सहित होते हैं, तब पूर्ण होते हैं, बलभद्र के साथ शक्ति के बँटवारे के समय 'योन्यंश' पृथक् किया, माहात्म्य तो दिखाना ही चाहिए, उसके कहने से नरकासुर भी मारने योग्य है। 'सापत्न्य' भाव को सहने के लिए, नहीं तो वह दूसरी स्त्री का होना सहन नहीं कर सकती, बल से हरण करने में भगवान् की सामर्थ्य तो देखी है और पारिजात का लाने के समय भी सामर्थ्य देख ली है। इस प्रकार उसके मरने से भौमासुर की

प्रजा के लोक हा-हाकार करने लगे। ऋषियों ने जाना अपना पुत्र आपने ही ले लिया और दूसरे ऋषि लोग साधु ! साधु ! कहने लगे, देव कहने लगे कि अच्छा हुआ, यों कहकर पुष्प वृष्टि करते हुए स्तुति करने लगे। स्तुति इसलिए की है कि नरकासुर को भी मुक्ति दी और यह नरकासुर पुत्र था, उसको भी मार डाला, भगवान् वैसे पराक्रमी है। दूसरे तो केवल अच्छा किया, यों कहकर स्तुति करने लगे। देवों ने पुष्प वृष्टि की, जिससे यह सूचित किया है कि इसका वध देवों के हितार्थ किया है ॥२२॥

आभास—यदर्थमयं हतः, तस्मिन् हते तज्जातमित्याह ततश्चेति ।

आभासार्थ—जिसके लिए इसका वध हुआ, वह कार्य उसके वध से हुआ, जिसका वर्णन 'ततश्च' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततश्च भूः **कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।**

सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—अनन्तर पृथ्वी ने श्रीकृष्ण के समीप आकर तपे हुए सुवर्ण में जड़ित रत्नों से प्रकाशित कुण्डल, वैजयन्ती माला, वरुण का छत्र और महामणि ये सब अर्पण किए ॥२३॥

सुबोधिनी—उपेत्य निकटे समागत्य । कृष्णत्वान्न तस्या भयम् । अदित्याः कुण्डले सर्वदैव प्रकर्षेण तप्तजाम्बूनदवत् रत्नवच्च भास्वरे । उभयमपि तत्र प्रकृतिभूतमिति द्वयमुक्तम् । वैजयन्तीं वनमालां च भगवद्दत्तां समर्पितवती । भगवत्पूजार्थं वा वैजयन्ती । वरुणेन निर्मितं समुद्रोद्भूतमिन्द्रस्यैव छत्रं इदमन्यद्वा भगवदर्थे दत्तम् । अथो महामणिः कौस्तुभसदृशः । अथो इत्यनेन पूर्वं भगवदीयमेव भगवते दत्तम्, इदं त्वतिरिक्तमिति पुत्रोपार्जितं दत्तवती । अथवा । वैजयन्त्या सह कुण्डले भूमिष्ठे, छत्रं स्वर्गस्थम्, मणिः पातालस्थ इति । उपलक्षणत्वेन त्रिलोक्यां यत्किञ्चिदुत्कृष्टं तत्सर्वं निवेदितवती । एतदरिक्तहस्तत्वार्थमेव । वस्तुतस्तु सर्वं भगवत एव, सा भार्या स पुत्र इति । अत एव पुत्रेण सह न भेद इति भगवदर्थमेव सङ्गृहीताः स्त्रिय इति अन्यावरोधस्थस्त्रीविवाहो न दुष्यति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी भगवान् के पास आई, पास में आने पर भी उसको भय न हुआ; क्योंकि जिनके पास आई, वह कृष्ण थे। अदिति के 'कुण्डल' सदा ही तपे हुए सुवर्ण वाले तथा रत्नों से युक्त होने से चमक रहे हैं, ये दोनों प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों को कहा। वैजयन्ती माला भगवान् की दी हुई थी, वह दे दी अथवा भगवान् की पूजा के लिए वैजयन्ती माला दी, वरुण को बताया हुआ अथवा समुद्र से उत्पन्न इन्द्र का ही छत्र या दूसरा कोई भगवान् के लिए दिया। बाद में कौस्तुभ के समान बड़ी मणि दी। 'अथो' पद का तात्पर्य बताते है कि ये सब पदार्थ प्रथम तो भगवान् के थे, फिर भगवान् को ही दिए। यह तो अतिरिक्त (दूसरे) है, जो पुत्र ने इकट्ठे किए थे,

वे दिए। वैजयन्ती के साथ कुण्डल भूमि में स्थित थे, छत्र स्वर्गस्थ था, मणि पातालस्थ थी, ये तो नमूने के तौर से कहे हैं। वस्तुतः जो कुछ त्रिलोकी में उत्कृष्ट था, वह सर्व निवेदित कर दिया। यह कहना खाली हाथपन का ही है; क्योंकि वास्तव में सब भगवान् का ही है, वह स्त्री, वह पुत्र यों। इस कारण से पुत्र के साथ भेद नहीं है, इसलिए भगवान् के वास्ते ही स्त्रियें संग्रह की है। राजाओं के रनवास में रुकी हुई स्त्रियों को छुड़ाकर उनसे विवाह करने में कोई दोष नहीं है ॥२३॥

आभास—अथापराधशान्त्यर्थं भिन्नप्रक्रमेण स्तोत्रं करोतीत्याह **अस्तौषीदिति**।

आभासार्थ—अब अपराध की क्षमा याचना के लिए अलग प्रक्रम[1] से स्तोत्र[2] करती है।

श्लोक—**अस्तौषीदथ विश्वेशं देववरार्चितम्।**
प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! पृथ्वी देवी भक्ति युक्त बुद्धि से नम्र हो, हाथ जोड़कर उत्तम देवों से पूजित विश्व के ईश की स्तुति करने लगी ॥२४॥

सुबोधिनी—ननु घातकः कथं स्तूयत इत्याशङ्क्याह **विश्वेशमिति**। **पुत्रत्वादिसम्बन्धस्य प्रयोजकत्वाभावाय विश्वपदम्**। स्तोत्रपरिज्ञानाय **देवीति**। ननु (तथापि) साम्प्रतमलौकिकं कृतमिति कथं स्तुतिरित्याशङ्क्याह। देववरैः साम्प्रतमेवार्चितमिति। प्राञ्जलिरिति नम्रता दीनता च सूचिता। **प्रणतेति** शरीरेण नम्रा। स्त्रीस्वभावात् दुःखभयव्यावृत्त्यर्थमाह **भक्तिप्रवणया धियेति**। **भक्तिप्रवणा** प्रतिबन्धकमप्यनादृत्य भक्तिगामिनी, यथा जलं निम्नगामि। बुद्धिश्चेत्तद्गता सा मनसोऽपि नियामिकेति सर्वमेव भक्तिप्रवणम्।

व्याख्यार्थ—जिसने वध का कार्य किया है, उसकी स्तुति कैसे की जा सकती है? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती है कि आप घातक नहीं हैं, किन्तु विश्व के ईश हैं, पुत्रादि सम्बन्ध इसमें कोई प्रयोजक नहीं है, पृथ्वी न कहकर देवी पद देने का भावार्थ यह है कि वह जानती है कि स्तुति किस की और कैसे की जाती है? तो भी इस समय तो जो कार्य हुआ है वह लोक से भी विरुद्ध हुआ है, इसलिए भी स्तुति कैसे की जाती है? जिसके उत्तर में कहती है कि 'देववरार्चितम्' इस लोक के विरुद्ध कार्य करने के अनन्तर भी उत्तम देवों ने आपका पूजन तथा स्तुति का कार्य किया है, अतः आप स्तुति योग्य हैं। हाथ बाँधकर स्तुति करने लगी, जिससे अपनी नम्रता एवं दीनता की सूचना की है, यों मन से दीनता नम्रता बताकर शरीर से नम्रता दिखाने के लिए 'प्रणता' पद दिया है, शरीर से दण्डवत् प्रणाम किया। स्त्रीभाव से चिन्ता तथा भय सदैव रहता है, उनकी निवृत्ति के लिए कहा कि दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि चिन्ता और भय मन से होता है, उस मन को भक्ति में लगा

१– उपक्रम—सिलसिले से, २– स्तुति

लिया है, इसलिए भक्ति में आसक्त हुई बुद्धि से स्तुति करने लगी, भक्ति में आसक्ति होने से रुकावटों को भी तोड़कर मन भी भगवद्भक्ति में यों दौड़ा जाता है, जैसे जल नीचे की तरफ जाता है ॥२४॥

कारिका—**षड्भिः स्तुत्वा प्रार्थयते पौत्रजीवितमुत्तमम् ।
चतुर्भिर्नमनं प्रोक्तं सर्वभावप्रसिद्धये ॥
माहात्म्यं च स्वरूपं च ततो द्वाभ्यामुदीरितम् ॥१॥२४॥**

कारिकार्थ—छः श्लोकों से स्तुति कर पौत्र का जीवन उत्तम हो तदर्थ प्रार्थना करती है, सर्वात्मभाव की सिद्धि के लिए चार श्लोकों से नमस्कार कहा है, अनन्तर दो श्लोकों से माहात्म्य और स्वरूप का वर्णन किया है ॥१॥

आभास—आदावाविर्भूतः कश्चिदन्यो भविष्यति, कथमन्यथा पुत्रं मारयेदित्याशङ्कां परिहरन्ती लक्षणमाह **नमस्ते** इति ।

आभासार्थ—पहले उत्पन्न हुआ, दूसरा कोई होगा, यों न हो तो पुत्र को कैसे मारे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए लक्षण 'नमस्ते' श्लोक में कहती है ।

**श्लोक—भूमिरुवाच—नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।
भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२५॥**

श्लोकार्थ—पृथ्वी ने कहा कि हे देवों के स्वामी ! हे शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाले ! हे परमात्मा ! भक्तों की इच्छा से अवतार लेने वाले प्रभु आपको नमस्कार है ॥२५॥

सुबोधिनी—ते तुभ्यं नमः । देवतायाः कथमन्यनमस्कार इत्याशङ्क्याह **देवदेवेति** । ईशत्वाच्छिक्षैव, न मारणमिति पुत्रमारणेऽपि नान्यथात्वम्, देवदेवानामपि ब्रह्मादीनामीश इति नान्योऽत्र कश्चिद्वक्तव्यः । तथात्वे हेतुमाह । शङ्खचक्रगदाः धारयतीति । अर्थात्पद्मम् । त्रयाणां कार्यमुक्तमेव 'गदया निर्बिभेदाद्री'नित्यादिना । अद्यापि भगवान् न पुरं प्रविष्टः, गरुड एव स्थितः चतुर्भुजः प्रकट इति तथोच्यते । तादृशस्य कथं नराकृतित्वमित्यत आह **भक्तेच्छोपात्तरूपायेति** । भक्तानां यादृशी इच्छा, तादृशमुपात्तं रूपं येन । ननु रूपग्रहण एव अन्यथाभावो भवतीति, तत्राप्यन्यादृशं रूपं गृहीतमिति जीवतुल्यत्वात् कथं नमस्करणीय इत्याशङ्क्याह **परमात्मन्निति** । जीवात्मन एव रूपान्तरस्वीकारे तथात्वम्, न तु परमात्मन इति । अत एव भक्ताधीनत्वात् पुनर्नमस्यति **नमोऽस्तु ते** इति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—आपको नमस्कार है, जब भूमि देवता है, तो देवता का दूसरे देवता को नमन

कैसे ? इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि आप देवों के देव तो हैं, किन्तु उनको शिक्षा देने वाले होने से उनके ईश भी है, अतः यह मारना नहीं है, पुत्र के मारने में भी अन्य प्रकारत्व नहीं है, किन्तु शिक्षा ही है, ब्रह्मादि देवों के भी जब ईश हैं, तो यहां अन्य कुछ कहना ही नहीं चाहिए अर्थात् कह कह नहीं सकते हैं, उसमें कारण देते हैं कि शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हो अर्थात् 'पद्म' तीनों का कार्य गदा से 'पर्वतों को तोड़ डालना' इत्यादि से कहा ही है। आज तक भी भगवान् ने पुर में प्रवेश नहीं किया है, गरुड़ पर ही बैठे हुए चतुर्भुज रूप से प्रकट हैं, यों इस प्रकार कहे जाते है, ऐसे चतुर्भुज रूप को मनुष्याकृति कैसे ? जिसके उत्तर में कहा है कि भक्तों की जैसी इच्छा होती है, वैसा रूप धारण करते हो। रूप धारण करने से तो विकृति हो जायगी, फिर उसमें भी अन्य जैसा रूप धारण करने से तो जीव से समानता हो गई, तो फिर उसको नमस्कार कैसे की गई है ? इसके उत्तर में कहती है कि आप परमात्मा हैं, इसलिए आप अन्य रूप धारण करने से विकृत नहीं होते है, जीव यदि अन्य रूप धारण करे, तो विकृत होता है, आप परमात्मा है, अतः विकृत नहीं होते हैं। भक्त के आधीन होने से भगवान् को फिर नमस्कार करती है। 'नमोऽस्तुते' आपको नमस्कार हैं॥२५॥

आभास—कुन्त्या चतुर्धा स्तुतो भगवान् प्रसन्न इति स्वयमपि नमस्यति नमः पङ्कजनाभायेति।

आभासार्थ—कुन्ती ने चार प्रकार से भगवान् की स्तुति की, जिससे प्रभु प्रसन्न हुए, इसलिए भूमि भी 'नमः पङ्कजनाभाय' श्लोक से नमन करती है।

श्लोक—नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये॥२६॥

श्लोकार्थ—नाभि से कमल वाले, कमलों की माला धारण करने वाले, कमल सदृश नेत्र वाले, कमल सम चरण वाले आपको नमस्कार है॥२६॥

सुबोधिनी—तया हि ब्रह्माण्डे सर्वत्वं सर्वोत्तमत्वं चोक्तम्। पङ्कजं नाभौ यस्येति नारायणत्वेन पुरुषत्वं निरूपितम्। तेन ब्रह्माण्डरूपत्वं सिध्यति। तत्रोत्कर्षस्त्रिधा, लक्ष्मीपतित्वेन सर्वोपास्यत्वेन सर्वसुसेव्यत्वेन च। सुसेव्यश्चेन्महान् भवति, स सर्वपुरुषार्थान् सुखेन प्रयच्छतीति। पङ्कजानां माला वर्तते अस्येति पङ्कजमालया लक्ष्म्या वृतः। 'तया विना क्व देवत्व'मित्यादिवाक्यैः तस्याः सर्वपुरुषार्थरूपत्वम्। पङ्कजनेत्रायेति दृष्ट्यैव सर्वतापहारकत्वं वशीकर्तृत्वं च। पङ्कजाङ्घ्रित्वेन सुसेव्यत्वम्॥२६॥

व्याख्यार्थ—उसने ब्रह्माण्ड में भगवान् का सर्वपन तथा सर्वोत्तमपन कहा, नाभि में कमल कहने से नारायणत्व कहकर पुरुष रूप बताया। उससे ब्रह्माण्ड रूपत्व सिद्ध होता है, उस स्वरूप में तीन प्रकार से उत्कर्ष है। जैसे कि १-लक्ष्मीपति होने से, २-सर्वों से उपास्य होने से और ३-सर्व से सेव्य होने से; जो अच्छे प्रकार से सेवनीय होता है, वह महान् होता है, वह ही समस्त पुरुषार्थों को सुख देता है। कमलों की माला से यह बताया है कि आप लक्ष्मी से आवृत्त हैं, उसके सिवाय देवत्व
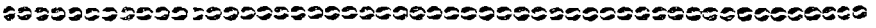
कहा हैं ? इत्यादि वाक्यों से उसका सर्व पुरुषार्थ रूपत्व है, कमल नयन कहकर बताया है कि आप दृष्टि से ही, सब ताप नाश करते हैं, तथा सर्व को वश कर लेते हैं, चरण, कमल जैसे होने से, सर्व से सुसेव्य हैं ।।२६।।

आभास—एवं ब्रह्माण्डे स्वरूपोत्कर्षौ निरूप्य तत्त्वेषु तथात्वमाह **नमो भगवते तुभ्यमिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माण्ड में स्वरूप तथा उत्कर्ष का निरूपण कर, तत्वों में भी वैसे ही हैं, जिसका निरूपण 'नमो भगवते तुभ्यं' श्लोक में करती है ।

श्लोक—नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।
पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ।।२७।।

श्लोकार्थ—भगवान्, वासुदेव और विष्णु जो आप हैं, उनको मैं नमन करती हूं । पुरुष रूप, सबका आदि बीज, पूर्ण ज्ञान स्वरूप जो आप हैं, उनको मैं नमस्कार करती हूं ।।२७।।

सुबोधिनी—सर्वतत्त्वानां मूलभूतो भगवान्, भगरूपाणि च तत्त्वानीति शास्त्रार्थदृष्ट्या स्तुति व्यावर्तयति **तुभ्यमिति** । **वासुदेवायेति** । तत्त्वानां करणप्रयोजनरूपाय मोक्षदात्रे । अनेनोपासनामार्गेण सेव्यत्वादुत्कर्ष उक्तः । **विष्णव** इति कर्ममार्गेऽपि सेव्याय । विष्णुः यज्ञः स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं यज्ञे विष्णुपदप्रयोगः । 'तत्त्वेषु पुरुषो महानिति तद्रूपत्वमाह **पुरुषायेति** । तत्र क्रियाज्ञानशक्त्युत्कर्षमाह **आदिबीजाय पूर्णबोधायेति** । बीजानां कार्योत्पादनसमर्थानामपि उत्पादकाय । पूर्णा क्रियाशक्तिरुक्ता । पूर्णो बोधो यस्येति स्पष्टा ज्ञानशक्तिः ।।२७।।

व्याख्यार्थ—सब तत्वों का मूल भूत स्वरूप भगवान् हैं उनके जो भगरूप हैं वे तत्व हैं, इसलिये शास्त्र दृष्टि से स्तुति न कर प्रत्यक्ष स्तुति करते हुए कहती है, 'तुभ्यमिति' तुमको नमस्कार है. आप कैसे हैं ? इसके लिये कहती है कि आप तत्त्वों के करण प्रयोजन रूप हैं, अर्थात् मोक्ष दाता हैं, इस कथन से, उपासना मार्ग द्वारा, सेव्य पन से उत्कर्ष कहा, फिर विष्णु होने से कर्म मार्ग में भी सेव्य है, विष्णु पद यहां यज्ञ वाचक है, यज्ञ, स्वतन्त्र हैं यह बताने के लिये यज्ञ के बदले 'विष्णु' पद दिया है, तत्वों में 'पुरुष रूप'' महान् है इसलिए उस रूप को कहने के लिये 'पुरुषाय' भी कह कर नमन किया है 'आदि बीजाय' पूर्णबोधाय' दो विशेषणों वा नामों से आपके क्रिया और ज्ञान शक्ति का उत्कर्ष बताया है, 'आदि बीजाय' कहने से यह बताया है कि वस्तुओं के पैदा करने में समर्थ बीजों के आप पैदा करने वाले हैं इससे आप में पूर्ण क्रिया शक्ति है वह बता दिया है 'पूर्ण बोधाय' पद से यह सिद्ध किया है कि आप पूर्ण ज्ञान शक्ति युक्त हैं ।।२७।।

आभास—एवं तत्त्वोत्कर्षमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह अजायेति ।

आभासार्थ--इस प्रकार तत्वों का उत्कर्ष कहकर आप पुरुषोतम हैं यह 'अजाय' श्लोक में सिद्ध कर नमन करती है।

श्लोक—अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
परावरात्मन्भूतात्मन् परमात्मन्नमोऽस्तु ते ।।२८।।

श्लोकार्थ— अजन्मा इस जगत् को उत्पन्न करने वाले, अनन्त शक्ति वाले, ब्रह्म रूप और परब्रह्म आदि तथा हमारे जैसों के आत्म रूप भूतों की आत्मा एवं आत्मा रूप जो आप हैं, वैसे तुमको नमस्कार करती हूँ। परमात्मा पद से आपका अन्तर्यामीपन बताया है, अन्त में नमन कहने से यह नमन सर्व भूतों को करती हूँ, यह कहा है ।।२८।।

सुबोधिनी—सर्वविकाररहितं परतत्त्वमिति सिद्धान्तेनाह **अजायेति**। जननाभावेन तदन्तरा भावाः तत एव निराकृताः। जगत्कर्तृत्वेन तथात्वमिति ये मन्यन्ते, तन्मतेनाह **अस्य जनयित्र** इति। स्वयमजोऽन्येषां जननं करोतीति सर्वोत्तमत्वमपि सिध्यति। आर्षज्ञानेन तथात्वमुच्यत इति नात्र प्रमाणं वक्तव्यम्। ब्रह्मैव वस्त्विति ब्रह्मवादे। तत्राप्याह **ब्रह्मण** इति। बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्म। सर्वभवनसमर्थं वस्त्वित्यपि पक्षेणाह **अनन्तशक्तय** इति। आत्मवादेनाह। **परे** ब्रह्मादयः, **अवरे अस्मदादयः**। तेषामात्मा भगवान्। भूतानि जडानि तेषामप्यात्मा। जीवजडयोरात्मत्वमुपपाद्य अन्तर्यामित्वमाह **परमात्मन्निति**। अन्ते नमनं सर्वत्रानुषञ्जनार्थम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—'अजाय' अजन्मा कहने से यह दिखाया है, कि आप सर्व विकार रहित हैं, परमतत्व हैं, जन्म न होने से ही उसमें होने वाले भावों का निराकरण किया हैं, जगत् के कर्तापन से वैसा होता है, यों जो मानते हैं उनके मत से ही यहाँ 'जनयित्रे' पद दिया है स्वयं अजन्मा होकर दूसरों को पैदा करते हैं इससे आपका सर्वोतमत्व भी सिद्ध होता है, यह आर्षज्ञान से कहा जाता है, इसलिये इस विषय में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, जो भी वस्तु है वह ब्रह्म ही है, यों ब्रह्मवाद में माना गया है, वहाँ भी इसलिये 'ब्रह्मणे' कहा है बड़े होने से, सर्वत्र व्यापक होने से, वह ब्रह्म है, यह ब्रह्म रूप वस्तु सब कुछ कर सकने में शक्तिमती है, इसलिये 'अनन्त शक्तये' कहा है, अब आत्मवाद से कहती है कि, ब्रह्मा आदि और अस्मदादि की आत्मा भगवान् हैं जड़ जो भूत है उनकी आत्मा भी भगवान् ही हैं, इस प्रकार जीव तथा जड़ की आत्मा भगवान् है यह प्रतिपादन कर, अब अन्तर्यामिपन सिद्ध करने के लिये कहती है 'परमात्मन्' परमात्मा भी आप है, इस प्रकार आपका पुरुषोत्तमत्व कह कर अन्त में प्रणाम करती है, अन्त में प्रणाम करने का भावार्थ है कि तापके सर्व स्वरूपों को प्रणाम करती हूँ ।।२८।।

आभास—माहात्म्यमाह त्वं वै सिसृक्षुरिति ।

आभासार्थ—"त्वं वै सिसृक्षुः" श्लोक में माहात्म्य कहती है।

श्लोक—त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! जब आपको जगत् के रचना करने की इच्छा होती है, तब उत्कृष्ट रजोगुण को धारण करते हो। जब प्रलय करने का विचार आता है, तब तमोगुण प्रकट करते हो और पालन के लिए सतोगुण को ग्रहण करते हो, अतः काल प्रधान पुरुष आप ही हैं। इन गुणों को स्वीकार करने पर भी उनका प्रभाव आप पर नहीं होता है; क्योंकि आप सबसे पर हैं ॥२६॥

सुबोधिनी--सिसृक्षुः उत्कटं कार्योन्मुखं रजो बिभर्षि । निरोधाय तमः । तथा सति तेनावृतः स्यादित्यत आह **अपावृत** इति । आवरणरहितः । स्थानाय सत्त्वं बिभर्षि । सर्वत्रोत्कटं विशेषणम् । अन्यो न तत्र प्रतिबन्धक इति वक्तुमाह **जगत्पत** इति । गुणानां नियामकास्त्रयः । क्षोभकः कालः । स्वरूपभूता प्रकृतिः । पुरुषः अधिष्ठाता । एतत्त्रयमपि भवानेव । नापि तावन्मात्रम्, किन्तु तेषामपि परः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—जगत् की रचना करने की इच्छा होते ही, उस रजोगुण को धारण करते हो, जो शीघ्र ही कार्य करने लगे, तथा प्रलय के लिये वैसा ही उत्कट तमोगुण रूप धारण करते हो, एवं पालन के लिये सतोगुण रूप धारण करते हो, किन्तु ये गुण आपको आच्छादित नहीं कर सकते हैं, इस कार्य में कोई भी रुकावट नहीं डाल सकता है, क्योंकि आप जगत् के पति हैं, गुणों के नियामक तीन है १-क्षोभ कराने वाला काल है २-स्वरूप भूत प्रकृति और ३-पुरुष, जो अधिष्ठाता है, ये तीन आप ही हैं आप केवल इतने ही नहीं हो किन्तु इनसे भी पर हो ॥२६॥

आभास—एवं सर्वोत्तमत्वमुक्त्वा सर्वत्वमाह **अहमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार सबसे उत्तमपन कहकर 'अहं' श्लोक से 'सर्वत्व' कहती है ।

श्लोक—अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि च ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥

श्लोकार्थ—मैं (पृथ्वी) जल, अग्नि, वायु, आकाश, इनकी मात्राएँ,[1] देवता, मन, इन्द्रियाँ, कर्त्ता,[2] महत्तत्त्व ये सर्व चराचर जगत् आप अद्वितीय में है, यह जो अन्यथा प्रतीति हो रही है, वह भ्रम है ॥३०॥

१—शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध
२—अहङ्कार

सुबोधिनी - तत्त्वानि कार्यं च भवानेवेत्यर्थः। अहं पृथिवी। अथेति त्रिवृत्करणपक्षान्यत्व बोधयति। मात्राणि रूपतन्मात्रादीनि। देवाः दिग्वातादयः दश इन्द्रियाणि तथा। चकाराद्बुद्धि-प्राणाः। कर्ता अहङ्कारः। महान् महत्तत्त्वम्। इतीति प्रकारवाची, समाप्तिवाची वा। अखिल-मित्यस्यानुवादः चराचरमिति। भिन्नतया प्रतीतिरेव भ्रान्तेति, भेदोऽवश्यं कार्ये वक्तव्य इति अखिलमित्युभयत्र संबध्यते, न्यूनाधिकदोषपरिहाराय। **अद्वितीये त्वयि** एकः सन् बहुधा विचचार' इत्यादिश्रुत्या भगवानेव सर्वरूपेण विचरतीत्युक्तत्वात् भेदो भिन्नो नान्यः सम्भवति। तत्त्वादिनिरूपकाणां स्मार्तानां विचारकाणामपि भेदो हृदये भासत इति। अयं सर्वोऽपि भ्रमः एव परिगणनात्मकः। त्वामेव यतो बहुधा गणयन्तः गणितानां परस्परं भेदं मन्यन्त इति। वस्त्वन्तरत्वमेव भेदः ॥३०॥

व्याख्यार्थ - तत्व और कार्य आप ही हैं, इस लोक का यह ही अर्थ है, मैं (पृथ्वी) 'अथ' पद से त्रिवृत्करण का जो पक्ष है, उससे अन्यत्व का बोध कराती है, मात्राएँ, दिग्वात आदि दस देवता तथा दश इन्द्रियां 'च' से बुद्धि प्राण आदि कहे हैं, कर्त्ता महत्व 'इति' शब्द प्रकार समाप्ति को कहता है, 'अखिल' शब्द 'चराचर' का अनुवाद है, अर्थात् चर और अचर कहने से सर्व पदार्थ मात्र आ जाते हैं फिर 'अखिल' पद की आवश्यकता नहीं थी तो भी दिया है, इसलिये आचार्य श्री कहते हैं कि यह अनुवाद मात्र है, 'भ्रम' पद का भावार्थ बताते हैं कि यह जो हमको प्रतीति हो रही है वह भ्रम ही है, वास्तव में यह सर्व ब्रह्म है अतः कार्यपन से भेद अवश्य है, इसलिये 'अखिल' पद दोनों से न्यून और अधिक दोष के परिहार के लिये सम्बन्धित है जैसे कि भगवान् यह अखिल आप अद्वितीय में स्थित है, तथा इस आपके जगत् रूप में जो अन्यथा प्रतीत हो रही है वह 'अखिल' सम्पूर्ण भ्रान्ति है 'एक' सत बहुधा विचचार' इस श्रुति से भगवान् ही सर्व रूप से विचरण करते हैं. इसलिये कहा है 'अद्वितीये-त्वयि' यह सब आप जो अद्वितीय हैं उनमें स्थित हैं, अर्थात् यह सब आप ही हैं कार्य रूप से भेद होने पर वह पदार्थ पृथक् दूसरा नही हो जाता है तत्वादि निरुपण करने वाले, स्मार्त विचारकों के भी हृदय में भेद भासता है, यह सब भ्रम इस प्रकार परिगणना मात्र ही है, आपको हो जो बहुत प्रकार गिनते है वे गिनती करने वालों का परस्पर भेद मानते हैं, वास्तव में भेद उसको कहा जाता है जहाँ अन्य वस्तु होवे, यहां तो आपके सिवाय अन्य वस्तु है ही नहीं, कारण रूप आप ही कार्य हुवे हो, कारण कार्य एक ही वस्तु है, इसमें जो भेद मानते हैं वे भ्रान्त हैं ॥३०॥

आभास—एवं स्तुत्वा प्रार्थयते **तस्यात्मजोऽयमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार स्तुतिकर 'तस्यात्मजोऽयं' श्लोक से प्रार्थना करती है।

श्लोक—तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिहरोपसादितः।
तत्पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

१—एक होते हुवे भी बहुत विचरण करते हैं।

श्लोकार्थ – हे शरणागतों के दुःखहर्त्ता ! उसका यह पुत्र है, जिसने भयभीत हो आपकी शरण ली है, अतः आप इसकी पालना करें । सर्व पाप नाशक अपना हस्त कमल इसके सिर पर धरें ॥३१॥

सुबोधिनी – स्तोत्रेण सर्वेषामपराधाः परिहृताः । भ्रान्ता इति सर्वो भवानेवेति च । आत्मज इति । राज्यदानार्थं तत्पुत्रत्वं निरूप्यते । तव पादपङ्कजं प्रपन्न इति तस्मिन् स्नेहकरणार्थम् । भीत इति दयार्थम् । तथापि शत्रुर्मारणीय इत्याशङ्क्याह प्रपन्नार्तिहरेति । उपसादितः पादयोरागत्य पतितोऽस्ति, न तु त्वां विरुद्धं मन्यते । अनेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति विचारेणापि तस्मिन् कृपा विधेयेति निरूपितम् । अस्मात्पालयेति प्रार्थना । एनमिति । प्रदर्शयाह । भार्यात्वात्तस्योऽपि पौत्र इति धार्ष्ट्यात् पुनर्विज्ञापनान्तरमाह कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्येति । यथा स्वस्य रक्षित इति प्रतीतिर्भवति । ननु वाक्येनापि भवति, को विशेषो हस्तस्पर्श इत्याशङ्क्याह अखिलकल्मषापहमिति । कालत्रये त्रिविधान्यपि पापानि तस्मिन्न तिष्ठन्तीति हस्तपङ्कजमखिलकल्मषापहं भवति । स्वाधिकरणमेव तथा सम्पादयतीति । यद्यपि तत्पुत्रोऽपि दुष्टो मारणीय एव, तथापि भूमिप्रार्थनया तदा न मारितः ॥३१॥

व्याख्यार्थ– स्तुति करने से सब के अपराध निवृत्त किये वे सब भूले हुवे थे । सब कुछ आप ही है यह उसका आत्मज है, यों कहने का आशय है कि राज्य इसको दीजिये, आपके चरण कमलों की इसने शरण ली है. इस लिये इस पर स्नेह वर्षा कीजिये । भयभीत अर्थात् डर गया है अतः इस पर दया कीजिये । यह सब कुछ ठीक है तो भी शत्रु है, उसको तो मारना ही चाहिये, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहती है, कि जो आपके शरण आता है उसकी पीड़ा को आप मिटाते हैं यह भी आपके चरणों में आके पड़ा है अर्थात् आपकी शरण ली है । आपको अपने विरूद्ध अर्थात् अपना शत्रु नहीं समझता है,यों कहने से यथा मां प्रपद्यन्ते'इस प्रतिज्ञानुसार,विचार करने से भी इस पर कृपा करनी चाहिये,इसलिये इसकी 'पालना करो' इस प्रकार प्रार्थना की है। मैं आपकी पत्नी हूँ इसलिये यह आपका पौत्र है इस प्रकार धृष्टता से फिर दूसरी तरह विनती करतीहै कि इसके शिर पर अपना हस्त कमल धरो, जिससे यह प्रतीति हो जाय कि आप इसके रक्षक हैं, रक्षा, वाणी से कहने से भी होती है, फिर हस्त को क्यों शिर पर धरा जाय ? इसके उत्तर में कहती है कि यदि इसके कुछ पाप भी हो तो वे भी नष्ट हो जावें, इस कारण से, कि आपका हस्त कमल तीन कालों में तीन प्रकार के जो पाप होते है उन सर्व पापों का नाश करनेवाला है अपना अधिकरण हो यों सम्पादन करता है, यद्यपि उसका पुत्र है, इसलिये उसके समान दुष्ट है अतः मारने योग्य ही था, तो भी पृथ्वी की प्रार्थना से उस समय नहीं मारा ॥३१॥

आभास—सर्वैः सर्वमेव प्रार्थ्यते, तथापि यद्यत्र उचितम्, तदेव करोति, नान्यथा अणुमात्रमपीत्याह इति भूम्येति ।

आभासार्थ– सब कोई सब की प्रार्थना करते हैं, तो भी जो उचित होता है, वह ही करते हैं, अणुमात्र भी दूसरी तरह नहीं करते हैं यह, 'इति भूम्या' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-इति भूम्यार्थितो वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया ।
दत्वाऽभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत् ।।३२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि भूमि ने भक्ति से नम्रतापूर्वक इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवान् ने भगदत्त को अभय देकर सकल सम्पदा से समृद्ध भौमासुर के घर में प्रवेश किया ।।३२।।

सुबोधिनी—वाग्भिः सह अचितः अर्चनद्रव्यैः । वाग्भिरेव वा । शिष्टं तस्यैवेति । बुद्धि तु भगवान् स्त्रियमिव सर्वेभ्यो दत्तवान् । पुरञ्जनोपाख्याने तदुपपादितम् । तत्सर्वजीवेषु भिन्नम् । अन्यथा प्रमाणानां वैयर्थ्यं स्यात् । अतो बुद्धिदोषगुणान् पुरस्कृत्य यथोचितं करोतीति सर्वमविरुद्धम् । समयविशेषे लीलार्थं तथा बुद्धीनां निर्माणम् । तदाह भगवानिति । तथापि भक्तिनम्रया स्तुत इति अभयमेव दत्वा स्वगृहमेवेति भौमगृहं प्राविशत् । तत्र हेतुः सकलर्द्धिमदिति । तत्पुत्रस्य प्राणा एव तस्मिन् समये रक्षणीया इति तथाकरणम्, अन्यथा तावतीनां कन्यानां वैयर्थ्यं स्यात् । तदुपार्जितसर्वग्रहण एव तस्यापहारदोषपरिहारो भवतीति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—भूमि ने भगवान् की पूजा, वाणी से तथा अर्चन के द्रव्य से साथ में ही की अथवा केवल वचनों से ही पूजा की, शेष तो जिन से पूजा की वे तो उसके ही दिये हुवे हैं, भगवान् ने बुद्धि तो सबसे विशेष स्त्री जाति को ही दी है व पुरञ्जन के उपाख्यान में प्रतिपादन किया हुवा है, वह भगवान् की दी हुई बुद्धि आदि सर्व जीवों में भिन्न २ हैं यदि बुद्धि एक सी होवे तो पृथक् पृथक् फल कहने वाले प्रमाण व्यर्थ हो जावें, अतः बुद्धि के दोष और गुणों के अनुसार जैसा योग्य होता है वैसा ही करते हैं,इस प्रकार सब में समानता हो जाती है,अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं आता है विशेष विशेष समय में लीला के लिये बुद्धियों का वैसा निर्माण होता है, अर्थात् बुद्धियां लीला के अनुकूल बन जाती है इसलिये कहा है भगवान् की भी भक्ति से नम्र हो कर पृथ्वी ने स्तुति की, इसलिये अभयदान देकर पश्चात् भौमासुर के घर में भीतर पधारे, पधारने का कारण कि वह गृह सकल सिद्धियों से समृद्ध था, उस समय उसके प्राण ही उसके रक्षा के योग्य थे, इसलिये यों किया, यदि यों नहीं करते तो इतनी कन्याओं की व्यर्थता हो जाती, उसका इकट्ठा किया हुआ सर्व पदार्थ ग्रहण करने से, उसके चोरी किए हुए सर्व दोषों की निवृत्ती होती है ।।३२।।

आभास—तथापि कन्यानां स्वत एव वरणमाह तत्रेति ।

आभासार्थ—तो भी कन्याओं ने स्वतः ही वरण किया यह 'तत्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।
समाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ।।३३।।

श्लोकार्थ—वहाँ सोलह हजार पराक्रम कर लाई हुई राजाओं की कन्याएँ थीं, उनको भगवान् ने देखा ।।३३।।

सुबोधिनी- यतो राजन्यकन्याः सजातीयं रूपं वीर्यं चापेक्षन्ते । अयुतं षट् सहस्राणि च षोडशकलानां सहस्रधा तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः भूमौ प्रतिष्ठिता इति भूमिजेनाहृताः भगवत्प्रेरणया भ्रमात् । तदैव च तावत्यः सम्पन्नाः । एता द्विस्वभावा इति ज्ञापयितुं सङ्ख्याद्वयेन निर्दिष्टाः। षट्सहस्राण्ययुतं चेति । तत्राधिकपदं षट्सहस्राणामुत्तमत्वाय । ता ह्यप्सरसः । देवतात्वात्तद्रूपेण क्रीडार्थं जाताः । ता आदावष्टावक्रं स्तुत्वा पश्चादुपहसितवत्य इति ज्ञापयितुं द्विस्वभावत्वं निरूपितम् । अत एवाद्यावन्ते च ऋषिकोपात् दुःखप्राप्तिः, प्रसादाद्वरणे बुद्धिः । **राजभ्यो विक्रम्य समाहृतानामिति** बलादानयनमुक्तम् । 'सर्वान् बलकृतानर्थान् न कृतान् मनुरब्रवी'दिति ज्ञापयितुम् । हरिस्तासां दुःखहर्ता तथात्वाय ददृशे॥३३॥

व्याख्यार्थ– भगवान् उनको ले आये, क्योंकि राजाओं की कन्या अपनी जाति के समान रूप और वीर्य को चाहती हैं, ये सोलह सहस्र कन्याएँ षोड़श कलाओं के सहस्र प्रकार हो,उनकी अधिष्ठात्री देवता रूप से पृथ्वी में प्रतिष्ठत थी, इसलिये भूमि से उत्पन्न भौमासुर से वे लाई गई थी, भगवान् की प्रेरणा से ऐसा उनको भ्रम था, तब ही वे सम्पन्न थीं, वे दो प्रकार की थी यह बताने के लिये उनकी गणना पृथक्-२ संख्या से की है, जैसे दश सहस्र और छ सहस्र उसमें अधिक पद का आशय, छ हजारकन्याओं की उत्तमत्ता दीखाने का है,वे अप्सरायें थीं देवता रूप होने से क्रीडार्थ उनका जन्म हुवा हैं, उन्होंने पहले अष्टावक्र की स्तुति की थी, फिर उसका उपहास किया, जिससे वे दोष भाव वाली हो गई, इस लिये ही आदि और अन्त में ऋषि के कोप से दुःख की प्राप्ति हुई, ऋषि के प्रसाद से अर्थात् वर मिलनेसे उनकी बुद्धि भगवान् के वरण की हुई,भौमासुर पराक्रम कर इन कन्याओं को राजाओं से ले आयाथा अर्थात् बल से ले आया था'सर्वान् बल कृतानर्थान् न कृतान् मनुरब्रवीत्'इस मनु की उक्ति को जताने के लिये इस प्रकार किया, भगवान् उनके दुःख को हरण कर्ता हैं, इस लिये इस प्रकार से उनको देखा ॥३३॥

आभास—वरणमाह तं **प्रविष्टमिति** ।

आभासार्थ—'तं प्रविष्ट' श्लोक से वरण करते हैं।

श्लोक—**तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः ।**
मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—उस नर श्रेष्ठ को प्रविष्ट हुआ देखकर ही वे स्त्रियाँ मोहित हो गई, देव से प्राप्त इच्छित पति का मन से वरण कर लिया ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण स्वनिकटे समागच्छन्तम् । यतः स्त्रियः स्त्रीभिरवश्यं पतिर्वरणीय इति । तथापि भगवान् पुरुषोत्तमः कथं वृत इत्याशङ्क्याह **नरवर्यमिति** । नराकृतित्वं स्त्रीणां प्रियाकृतिं च गृहीतवानिति । यतो विमोहिताः । निरुद्धत्वान्मनसा न कायेन वरणम् । **अभीष्टमिति** । पूर्वमपि तथैव भावनया स्थिताः । पतित्वेनैव वरणम् । **दैवोपसादितमिति** समये प्राप्ते

एतादृशे वरणमावश्यकमिति ज्ञापयति । तेन युक्तमेव । यथा पित्रा निकटे वरणार्थं वर आनीयते, एवं दैवेनानीत: ॥३४॥

व्याख्यार्थ—अच्छे प्रकार अपने समीप आते हुवे को स्त्रियों ने देखा, स्त्रियों को तो अवश्य पति का वरण करना चाहिये, किन्तु भगवान् पुरुषोत्तम को कैसे वरा ? इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि वे वरों में श्रेष्ठ है. स्त्रियों को पुरुषाकृति ही प्रिय है. इसलिये भगवान् अत्र पुरुषाकृतियों में भी उत्तम नर रूप में थे अतः उनको देख मोहित हो गई जिससे उनमें निरुद्ध हो गई. अतः भय से नहीं किन्तु प्रेम पूर्वक काया से वरण कर लिया, पहले से ही मन में यह ही भावना थी अब वह इच्छित प्राप्त हो गया है अतः पतिपन से वरण किया, जैसे पिता कन्या के पास वरण के लिये 'वर' को ले जाता है, वैसे अब देव ने वर को पास भेजा है, इसलिये अवसर प्राप्त हुआ है इनका वरण करना आवश्यक है यों देव ज्ञापन कराती है इससे वरण करना योग्य ही है ॥३४॥

आभास—तासां मनोरथवाक्यमाह भूयात् पतिरिति ।

आभासार्थ—'भूयात् पति' श्लोक में उनका मनोरथ कहते हैं ।

श्लोक—भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।
इति सर्वा: पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—ये हमारे पति होवें, जिसका विधाता अनुमोदन करें । इस प्रकार सब स्त्रियों ने प्रेम से श्रीकृष्णचन्द्र में पृथक्-पृथक् मन लगाया ॥३५॥

सुबोधिनी—मह्यमिति प्रत्येकम् । ब्रह्माण्डे संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेरधिकारो दत्त इति तदनङ्गीकारे पितुराज्ञाभाव इव वरणं न सम्भवतीति तदनुज्ञां प्रार्थयन्ति धाता तदनुमोदतामिति । सर्वासामेक एव भाव: । स तु पृथक्, न तु प्रत्येकपर्यवसायी । कृष्ण इति तासां प्रिय: । भावेन आकाङ्क्षया पतिरयं भवत्विति । श्रद्धया वा रसाधारभूतभावेन वा । हृदयं दधुरिति । तत्रैव स्थिरीकृतवत्य: ॥३५॥

व्याख्यार्थ—'मह्यं' एक वचन कहने का आशय है कि हर एकने अपना हृदय भगवान् में लगाया । ब्रह्माण्ड में संवत्सरात्मक प्रजा पति को अधिकार दिया गया है, इसलिये उसकी स्वीकृति के सिवाय, पिता की आज्ञा न होने के समान वरण नहीं हो सकता है, इसलिये उसकी आज्ञा प्राप्ति के लिये प्रार्थना करती है कि विधाता इस वरण का अनुमोदन करे। सब स्त्रियों का एक ही भाव है वह तो भिन्न है, नहीं कि हर एक में होने वाला है, 'कृष्ण' नाम से बताया कि उन सब का प्यारा है भाव से तथा आकांक्षा से यह ही पति हो, अथवा श्रद्धा से या इसके आधारभूत भाव से यही पति हो, इस प्रकार अपना मन हर एक ने भगवान् में धरा अर्थात् स्थिर किया ॥३५॥

आभास—शरीरमतःपरं भावाधिष्ठानं भगवदीयं कर्तुं तासामशक्तिरिति भगवांस्तत्सम्पादितवानित्याह ताः प्राहिणोदिति ।

आभासार्थ – इससे विशेष अपने शरीर को भगवान् के भाव का अधिष्ठान तथा भगवदीय करने की शक्ति उनमें नहीं थी, इसलिये वह कार्य भगवान् करने लगे यह वर्णन 'ताः प्राहिणोत्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ताः प्राहिणोद्द्वारवतीं सुमृष्टविरजोम्बरैः ।
नरयानैर्महाकोशं रथाश्वद्रविणं महत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने उन सबको स्वच्छ सुन्दर वस्त्र पहनाकर, पालकी में बैठाकर द्वारकापुरी को भेजा और, भारी खजाने, रथ, घोड़े, बहुत द्रव्य भी भेजा ॥३६॥

सुबोधिनी—द्वारवतीमिति । तासामभिलषितार्थस्थानम् । द्वारं हि तद्भगवत्स्थानगमने । सुमृष्टविरजोम्बरैः कृत्वा नरयानैर्दोलाभिः । न केवलं स्त्रीरत्नान्येव प्रेषितवान्, किन्त्वन्यान्यपि रत्नानीति वक्तुमाह महाकोशमिति । महान्तं रत्नादिकोशम् । रथाश्वद्रविणमिति । त्रिविधमुत्तमं धनं प्रेषयामासेति सम्बन्धः । तेषामपि प्रेषणे हेतुः महदिति । महदन्यत्र स्थापितमल्पस्यानिष्टं करोतीति ॥३६॥

व्याख्यार्थ—'द्वारका' उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने वाला स्थान है इसलिये वहां भेजा, वह स्थान भगवत्प्राप्ति का द्वार है, सुन्दर एवं स्वच्छ वस्त्र पहना कर, पालकी में बिठा कर भेजा, केवल ये स्त्रीरत्न रवाने नहीं किये, किन्तु अन्य रत्न भी भेजे जैसे कि बड़ा रत्नों का खाजाना जिसमें रथ, अश्व और धन सोना आदि था,इस प्रकार तीन प्रकार का उत्तम धन भी रवाना किया इनके भेज देने का कारण कहते है कि यह 'महत्' यहां बहुत था अल्प के यहां बहुत द्रव्य होता है, उसका अनिष्ट करता है अतः उसका थोड़ा अनिष्ट होवे, इसलिये भेज दिया ॥३६॥

आभास—विशेषतः स्वार्थमेव गजान् प्रेषितवानित्याह ऐरावतकुलेभांश्चेति ।

आभासार्थ—विशेष में गजों को अपने लिये ही भेजा यह वर्णन 'ऐरावत कुलेभांश्च' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।
पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥३७॥

श्लोकार्थ—ऐरावत कुल के चार-चार दाँतों वाले, वेग वाले तथा पाण्डु[1] रंग

१- श्वेत पीला रंग

वाले चौसठ हाथी भी केशव ने भेजे ॥३७॥

सुबोधिनी—यस्मिन् कुले ऐरावत उत्पन्न. तत्कुलोत्पन्नाः। तेषामितरवैलक्षण्यमाह। चतुर्दन्तानिति रूपवैलक्षण्यम्। तरस्विन इति स्वभाववैलक्षण्य च। चकारादुच्चैःश्रवसः कुलप्रसूतान् अश्वानपि प्रेषयामासेति। पाण्डुरानन्यांश्च। चतुर्दन्तत्वं वेगवत्त्वं च मृगादिजातिष्वपि वर्तत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं पाण्डुरत्वम्। अन्येऽप्येतादृशा एव, तैः सह निर्दिष्टत्वात्परमं वैजात्यं भेदकम्। तत्र दन्तादिषु वैलक्षण्यं कल्प्यम्। चतुःषष्टिमिति कलारूपत्वं तेषां बोधितम्। केशव इति। महादेवभक्तत्वात्तद्वरेणैतावत्त्वं तस्य जातमिति कदाचिन्महादेवोऽतुष्टो भवेदित्याशङ्क्याह केशव इति। केशयोरपि सेव्यः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—जिस कुल में ऐरावत हस्ती उत्पन्न हुआ है, उसमें ये भी उत्पन्न हुवे हैं उनको दूसरों से विलक्षणता दिखाते हैं; दूसरों के रूपों से इनमें यह विलक्षणता है कि इनके चार दान्त हैं तेजस्वी हैं अर्थात् तेज चलने वाले हैं इसमें स्वभाव का वैलक्षण्य बताया है 'च'शब्द से यह प्रकट किया है कि जो घोड़े भेजे हैं वे भी 'उच्चैः श्रवा' घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुवे हैं, और अन्य पाण्डु रंग वालों को, पाण्डु रंग कहने का कारण यह है कि तेज दौड़ना और चार दान्त, मृग जाति में भी होता है, इसलिये उनसे इनकी भिन्नता दिखाने के लिये 'पांण्डुर' कहा हैं, पाण्डुरंग वालों से दूसरे श्यामवर्ण वाले भी तेज चलने वाले हैं उनको भी साथ में कहा है, अतः 'पाण्डुर' कह कर इनसे भेद बताया है, वहां दन्तादि में भी विलक्षणता समझ लेनी, चौंसठ संख्या से उनका कला रूपत्व सूचित किया है, इतनी सम्पदा महादेवजी के वर से इसको प्राप्त हुई है वह सम्पदा ले जाने पर कदाचित् महादेव अप्रसन्न हो जावे ? इस शङ्का के समाधान के लिये 'केशव' नाम दिया है जिसका भावार्थ है कि श्रीकृष्ण, महादेव तथा ब्रह्मा के भी पूज्य है, अतः महादेव रुष्ट न होकर प्रसन्न ही होंगे कि मेरी दी हुई वस्तु मेरे स्वामी ने अंगीकार की है ॥३७।

आभास—ततस्तत्रत्यं कार्यं कृत्वा यदर्थमागत इन्द्रप्रेरणया तत्कृतवानित्याह गत्वेति।

आभासार्थ—वहाँ का कार्य पूर्ण कर, जिसके लिये आये थे इन्द्र की प्रेरणा से वह कार्य करने लगे जिसका वर्णन 'गत्वा' श्लोक में कहती हैं।

श्लोक—गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्वादित्यै च कुण्डले।
पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥३८॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा को साथ ले, आप इन्द्र भवन में पधारे। अदिति को कुण्डल दिए, वहाँ इन्द्र और इन्द्राणी ने सत्यभामा सहित भगवान् की पूजा की ॥३८॥

सुबोधिनी—सुरेन्द्रभवनं स्वर्गस्थानम्, तत्रैव स्थितायै अदित्यै कुण्डले दत्वा। अदित्या भोगरूपं तत्रास्ते। क्रियारूपा त्वंशेन देवकी जाता। चकारादिन्द्रायापि छत्रादिकं दत्तवान्। ततस्त्रिदशेन्द्रेण पूजितः। त्रिदशपदं तेषां जरामृत्युरहितानामिन्द्रेण तेभ्योपि परमैश्वर्यदानसमर्थेन स्वामित्वेन पूजित इति भगवदुत्कर्षः सत्यभामायै प्रदर्शितः। सभार्यो भगवान् गत इति सभार्येणैव पूजितः। अन्यथा लोके विरुद्धमिव भवेत्। पूजाया सत्यभामाया वा न प्रवेशः स्यात्। चकाराद्दैवैः देवपत्नीभिश्च। ननु भगवान् सर्वेश्वर इतीन्द्रादिभिः पूज्यते, सत्यभामा कथं पूजितेत्याशङ्क्याह सप्रिय इति। प्रियया सहितः। भगवत्प्रियत्वात् सापि पूजिता। अन्यथा भगवान् प्रीतो न भवतीति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—सुरेन्द्र भवन का तात्पर्य है, 'स्वर्गस्थान' वहां ही स्थित अदिति को कुण्डल दिये, अदिति का भोग रूप वहां है क्रिया रूप अदिति तो अंश से देवकी हुई है 'च' शब्द देने का आशय यह है, कि इन्द्र को भी छत्र आदि दिये. अनन्तर इन्द्र ने आपकी पूजा की 'त्रिदशेन्द्र' पद का भाव स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि, जरा मृत्यु आदि से रहित देव हैं उनको भी जो परमैश्वर्य दान दे सकता है उस इन्द्र ने भगवान् को अपना स्वामी मान कर उनका पूजन किया, इस प्रकार की पूजा होने से भगवान् ने सत्यभाषा को अपना उत्कर्ष दिखाया, भगवान् भार्या सहित पधारे थे इस लिये पत्नि सहित ही पूजित हुवे, यदि इन्द्र अकेले की पूजा करते तो लोक में विरुद्ध जैसा दीखने में आता, और पूजा में सत्यभामा का प्रवेश न होता 'च' पद से देव तथा देवों की स्त्रियों ने भी पूजा की, भगवान् तो सर्व के ईश्वर हैं इस कारण से इन्द्रादिकों से पूजे जा सकते हैं सत्यभामा कैसे पूजी गई ? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि 'सप्रियः' भगवान् प्रिया सत्याभामा के साथ पधारे थे, सत्यभामा भगवान् की प्रिया है, इसलिये वह भी पूजी गई, यदि इसकी पूजा न होती तो भगवान् प्रसन्न न होते ॥३८।

आभास—ततः स्त्रीगोष्ठ्यां शच्या सह वार्तायां पारिजातपुष्पाकाङ्क्षायां मनुष्यत्वेन शच्या अपकर्षे निरूपिते बहिर्मुखाया वचनमसहमानया प्रार्थितो भगवान् पारिजातमानीतवानित्याह **नोदित** इति।

आभासार्थ—पश्चात् स्त्रियों की गोष्ठी में इन्द्राणी के साथ वार्ता होने पर सत्यभामा ने जब पारिजात पुष्प की आकांक्षा दीखाई तब इन्द्राणी ने मनुष्य जान कर आकांक्षा पूर्ति से मना किया, उस बहिर्मुखा के इन वचनों को वह न सह सकी, अतः भगवान् को प्रार्थना की जिससे ही भगवान् 'पारिजात वृक्ष' लाये जिसका वर्णन 'नोदितो' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**नोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति ।**
आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान्निर्जित्योपानयत्पुरम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा के कहने से पारिजात वृक्ष को उखाड़ कर गरुड़ पर धर, इन्द्रादि देवों को जीत कर उसको द्वारकापुरी ले आए ॥३९॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् पारिजातसमीपे गत्वा सभार्यो गरुडारूढः तं पारिजातमुत्पाट्य नरकगृहवत्तत्रापि भगवति विद्यमाने सर्वोत्कृष्टं स्थातुमयुक्तमिति तत्पुनर्गरुडे समारोप्य सोम इव भूमावानीतवान् । तदिन्द्रादीनामनभिप्रेतमिति सेवका लीलानुसारेणैव स्वामिनः स्वकार्यं कर्तुं युक्ता इति सिद्धान्तमज्ञात्वा अस्मभ्यं दत्तं कथं हरतीति समागता युद्धं कर्तुम् । तदा सेन्द्रान् विबुधान् जित्वा तेषां प्रतिबन्धं निराकृत्य पुरं द्वारकामुपानयत् । न तु मध्ये त्यक्त्वा समागतो, दत्वा वा प्रार्थनायां कदाचिन्नानयेत् । मतान्तरभाषेयमिति पूर्वमेवावोचाम ॥३९॥

व्याख्यार्थ—सत्यभामा की प्रार्थना के अनन्तर भगवान् भार्या सहित गरुड़ पर विराजमान हो, पारिजात वृक्ष के समीप गये, उसको उखाड़ कर गरुड़ पर धर लिया, क्योंकि जैसे नरकासुर के घर में इतने समृद्धि होना उचित न समझा वैसे हो यहां इन्द्र भवन में पारिजात का होना योग्य न जाना इसलिये उखाड़ ले आने के लिये गरुड़ पर धरा, भगवान् के विराजते हुए यह सर्वोत्कृष्ट वृक्ष वहाँ रहे, यह अयोग्य जाना, अतः सोम की भांति पृथ्वी पर इसको भी लाए यह कार्य इन्द्र आदि देवों को पसद नहीं आया. वास्तव में तो इन्द्रादि भगवान् के सेवक हैं उनको लीला के अनुसार ही स्वामी का कार्य करना चाहिये था, अर्थात् स्वामी के आने पर उनकी इच्छानुकूल अपने पास जो सुन्दर वस्तु हो वह उनको भेंट करनी चाहिये, इस सत्य सिद्धान्त को न जान इससे विपरीत विचार करने लगे, कि दी हुई वस्तु फिर ले कैसे जाते हैं, यह हमारी है, यों निश्चय कर लड़ने के लिये आये, तब इन्द्र सहित सब देवताओं को जीत कर, इस रुकावट को नष्ट कर निर्विघ्न द्वारका ले आये, बीच में कहीं छोड़ा नहीं, यदि देव लड़ाई न कर प्रार्थना करते तो कदाचित् लौटा भी देते, यह भाषा मतान्तर भाषा है यों आगे ही कहा हैं ॥३९॥

आभास—ततः स्त्रीवाक्यात् स्त्र्यर्थमेव तत्समानीतमिति ज्ञापयितुं सत्यभामाया गृहे स्थापितवानित्याह **स्थापित इति** ।

आभासार्थ- पत्नी के कहने से उस के लिये ही लाये थे, अतः सत्यभामा के गृह में हो स्थापित किया ।

श्लोक—स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।
अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात्तद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा के गृह और बगीचे की शोभा बढ़ाने के लिए मध्य में स्थापित किया, उसकी सुगन्ध के मद के लोभी भौंरे स्वर्ग से यहाँ तक पीछे-पीछे चल आए ॥४०॥

सुबोधिनी—गृहमुद्यानं च उप समीपे शोभयतीति । उभयोः शोभनं वा यस्मादिति गृहोद्यानोपशोभनः । गृहोद्यानयोर्मध्ये स्थापितः । तस्य पारिजातस्य सर्वोत्कर्षमाह **अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गादिति** । स्वर्गमपि परित्यज्य तस्य यो गन्धः आसवः, रसश्च गन्ध एव वा, आसवो मादकः,

तस्मिन् लम्पटाः विवेकेनापि तत्त्यागासमर्थाः। किञ्च। नाम्ना ते भ्रममरणयुक्ताः, स्वर्गे तु तदभावः। तथापि समागता इति विषयोत्कर्ष उक्तः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—पारिजात के समीप होने से गृह और उद्यान् दोनो की शोभा बढ़ती है, अतः गृह और उद्यान के बीच में स्थापित किया. उस पारिजात वृक्ष का. सर्व वृक्षों से उत्कर्ष बताते हैं, कि भ्रमर स्वर्ग को भी त्याग कर पीछे पीछे चले आये, क्योंकि इसका रस और गन्ध दोनों मादक हैं, उसमें ये आसक्त हैं, जिससे विवेक होने पर भी छोड़ने में समर्थ नहीं थे, इसलिये पृथ्वी पर आ गये, और वे नाम से भी ये भ्रम और मरण युक्त हैं, स्वर्ग में तो इन दोनों का अभाव है, तो भी यहां आये, क्योंकि पारिजात के रस तथा गन्ध में जो मादक है वह अन्यत्र नहीं है यों विषय की उत्कर्षता देख स्वर्ग को भी त्याग दिया इस प्रकार विषय का उत्कर्ष कहा ॥४०॥

आभास—अस्मिन्नपि मते भगवत्कृतमेव युक्तम्, नत्विन्द्रकृतमिति तत् कृतं निन्दति **ययाच** इति।

आभासार्थ—इस मत से भी भगवान् का किया हुवा ही उचित है, न कि इन्द्र का इसलिये इन्द्र के कार्य की 'ययाच' श्लोक में निन्दा करते हैं।

श्लोक—**ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।**
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने प्रथम अपने मुकुट के अग्र भाग से चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम कर अपनी कार्य सिद्धि के लिए भगवान् से प्रार्थना की। कार्य की सिद्धि हो जाने के अनन्तर भगवान् के साथ विरोध करने लगा, अहो! देवताओं के अज्ञान को देखो, जिस अज्ञान से कृतघ्नी हो रहे हैं, ऐसे समृद्धिपन को धिक्कार है ॥४१॥

सुबोधिनी—य इन्द्रः अच्युतमर्थसाधनं ययाचे, पश्चात् सिद्धार्थः सन् अर्थसाधकेनैव विगृह्यते। प्रसङ्गाद्याचनं वारयति **आनम्येति**। प्रार्थनारूपम्। ननु मान्यः नमस्कृत्य याच्यते प्रसङ्ग इति तत्राह **किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्निति**। स्वापकर्षं भावयन्नपि ययाचे। किञ्च। स्वयमसमर्थः भगवान् समर्थः नरकं हन्तुमिति जानन् तथा प्रार्थितवानिति अभिप्रायं द्योतयति **अच्युतमिति**। अर्थस्य साधनं यस्मादिति। तस्मादेव कार्यसिद्धिः। समर्थोऽपि नान्यः कार्यं करोति। एवं महत्त्वेन भगवन्तं ज्ञात्वापि, पराक्रमं दृष्ट्वापि,स्वयं महानपि विगृह्यते। ननु कथं कारणविरुद्धं कार्यम्, तत्राह **अहो** इति। तथाप्युपपत्तिर्वक्तव्येति चेत्, तत्राह **सुराणां च तम इति**। सात्त्विकानां ज्ञानप्रधानानां केवलतमोरूपज्ञानमिति। विरुद्धमनूद्य अर्थादाढ्यताहेतुत्वेन निरुच्यते। अत एव तां निन्दति धिगाढ्यतामिति। श्रीसम्पत्तिरेवाज्ञानमूलमप्रतिहतम्, नत्वन्यत्. तत्र सुरत्वादिकं बाधकमित्यर्थः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—जिस इन्द्र ने भगवान् से अर्थ का साधन मांगा, वही इन्द्र बाद में अर्थ सिद्ध हो जाने पर अर्थ के सिद्ध करने वाले से ही लड़ता है, आपदा आने पर मान्य से अर्थात् बड़े से नमस्कार कर मांगना चाहिये ? इस पर कहते हैं कि इन्द्र ने भी इस प्रकार याचना की, जैसे मुकुट के अग्रभागों से चरणस्पर्श कर प्रणाम करते हुए, अपना अपकर्ष बता याचना की थी, अर्थात् यों करने से यह बता दिया कि मैं नरकासुर के मारने में असमर्थ हूँ भगवान् समर्थ हैं अतः प्रार्थना की है। भगवान् की समर्थता प्रकट दिखाने के लिये ही 'अच्युत' नाम दिया है।

नरकासुर का वध ही अर्थ का साधन है, इसलिये नरकासुर के वध की प्रार्थना की, भगवान् के सिवाय अन्य यदि समर्थ होवे तो भी दूसरे का कार्य न करे, किन्तु भगवान् महापुरुष हैं, इसलिये शरणागत की प्रार्थना स्वीकार कर उसका कार्य पूर्ण करते हैं, भगवान् के इस महत्व को जानकर भी तथा पराक्रम भी देख कर स्वयं भी महान् है, तो भी भगवान् से लड़ा। कारण से विरुद्ध कार्य कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अहो'[1] के कारण हुआ ईर्ष्या के कारण हुआ तो भी उसकी उपपत्ति[2] बतानी चाहिये ज्ञान जिन में मुख्य है ऐसे सात्त्विकों में, केवल तमोरूप अज्ञान होता है, धन की समृद्धि का अभिमान ही कारण है, जिससे इन्द्रादिकों के ऐसे विरुद्ध विचार हो गये, इसलिये ऐसी समृद्धि को ही धिक्कार है, लक्ष्मी की सम्पदा ही अज्ञान का न रुकने वाला मूल कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है, वहां सुरत्व[3] आदि बांधक हैं ॥४१॥

आभास—शौर्यावेशं परित्यज्य कामावेशेन, अनन्तरूपत्वात्कामस्य, तत्तत्पूरकरूपेण तासु विवाहरतिमानानि सम्पादितवानित्याह त्रिभिः।

आभासार्थ—भगवान् ने कामावेश प्रकट करने से शौर्य का आवेश त्याग दिया, अनन्त रूप हैं, अतः प्रत्येक की कामना के पूरक रूप धारण कर उनमें विवाह के रति समय की क्रीड़ा सम्पादित करने लगे इसका तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः।**
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥४२॥

श्लोकार्थ—अव्यय भगवान् ने जितनी स्त्रियाँ थीं, उतने ही रूप धारण कर, सब स्त्रियों से पृथक्-पृथक् गृहों में एक ही समय शास्त्र विधि के अनुसार विवाह किया ॥४२॥

सुबोधिनी—अथो इति। एकस्मिन्नेव मुहूर्ते सर्वतः समानफलत्वाय। कामनायास्तथात्वात्। नानागारेषु ताः स्थापयित्वा यथावदुपयेमे। दृष्टि-भ्रमादिपक्षान् वारयितुमाह तावद्रूपधर इति। तत्र सामर्थ्यं भगवानिति। रूपाणामप्यविकृतत्वाय अव्यय इति। यथा गृह्योक्तप्रकारेण॥४२॥

———

१—असूया-अर्थात् अज्ञान् से ईर्ष्या होने से, २-हेतु पूर्वक कारण
३—तत्वादिकं बाधकं पाठ माना जाय तो तत्वादिक बाधक हैं, यों अर्थ होगा।

व्याख्यार्थ—सब स्त्रियों की कामना समान थी अतः समान फल देने के लिये, सब को अनेक गृहों में पृथक् पृथक् स्थापन कर एक ही मुहूर्त में शास्त्रविधि के अनुसार सब का पाणि-ग्रहण किया, एक ने एक ही मुहूर्त में पाणि-ग्रहण कैसे किया होगा ? क्या दृष्टि भ्रम हुवा, जिससे यों समझा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि दृष्टि भ्रम नहीं हुआ, किन्तु जितनी स्त्रियाँ थीं, आपने उतने ही रूप धारण किये थे, इतने रूप कैसे धारण किये होगे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि 'भगवान्' हैं जिससे आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य हैं अनेक रूप धारण करने से तो आप विकारी हुवे होंगे, इस भ्रम को मिटाने के लिये कहते है कि 'अव्यय' होने से आप में कुछ विकार नहीं होता हैं ।।४२।।

आभास—विवाहमुक्त्वा रमणमाह गृहेष्विति ।

आभासार्थ—विवाह का वर्णन कर 'गृहेषु' श्लोक में रमण कहते हैं।

श्लोक—**गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृन्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।**
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्ह(ह)मेधिकांश्चरन् ।।४३।।

श्लोकार्थ—इन स्त्रियों के गृह के समान वा अधिक उत्तम गृह किसी के भी नहीं है, उनके ऐसे घरों में आप सदा विराज रहे थे, अपने स्वरूपानन्द से पूर्ण होते हुए भी विवाह करने के अनन्तर उनमें नित्य रमण करते थे। वह रमण ऐसे करते थे, जो कोई भी उसमें किसी प्रकार का तर्क न कर सके। इस प्रकार गृहस्थ के श्रोत स्मार्त धर्म पालन करते हुए उनका मनोरथ भी इस प्रकार सिद्ध करते थे, जैसे उसमें केवल प्राकृतपन न आ जावे ।।४३।।

सुबोधिनी—तासां गृहेषु अनपायी नित्यं तिष्ठति। ता हि प्रमाणस्थकामानुसारेण न विवाहिताः, किन्तु प्रमेयस्थानुसारेण। स हि पुष्टः निरन्तरश्च नित्यरमणात्मकः। अतो विवाहक्षणमारभ्य यावत्स्थिति नित्यरमणमेव तासु कृतवान्। विधिपरिपालनार्थमेव दश पुत्रोत्पादनम्, तदत्र न वक्तव्यम्, कामप्राधान्यात्। उत्पादने हि कामः क्षीयत इति। ननु निरन्तररमणे बहूनि दूषणानि, कार्यान्तरे व्याघातः, लोकानां सन्देहोत्पत्तिः, परस्परं तासामन्योन्यगोष्ठ्यां सन्देहः, तत्राह **अतर्क्यकृदिति**। यथा न कोऽपि तर्क उत्पद्यते कस्यापि, तथा करोति। लोकप्रतीतिमेव विरोधेऽन्यथा जनयति। बहून्येव रूपाणीति केनचिद्रूपेणान्यत्रापि गच्छति। परमत्र विशेषकार्यं न करोति। अतः शाल्वादिषु विद्यमानोऽपि न युद्धं कृतवान्। कामार्थमेव स्थित इति कामसम्पत्त्यर्थं गृहान् वर्णयति **निरस्तसाम्यातिशयेष्विति**। स्वर्गादिष्वपि (न) महिषीगृहाणां साम्यमतिशयो वा क्वचिदप्यस्ति। स्वयं **चावस्थितः** स्थिरः। वैयग्र्ये अस्थैर्ये च संततः कामः बाधितः स्यात्। एवं सर्वोपपत्तौ ताभिः सह रेमे। ननु भगवान् निरिन्द्रियः, ब्रह्मानन्दरूपायां लक्ष्म्यामेव रमते, नत्वन्यत्रेति कथं रमणमित्याशङ्क्याह **रमाभिरिति**। यावन्ति भगवद्रूपाणि तावन्त्येव लक्ष्मीः करोतीति तासु लक्ष्म्यास्तावतां रूपाणामावेशः। एवं करणे हेतुः। निजकामेन संप्लुत

इति । सेनायामागतायां कामोऽप्याविर्भूतः । जीवकामव्युदासार्थं निजपदम् । एवं सति तासां सङ्कल्पो न सिध्येदित्याशङ्क्याह यथेतर इति । केवलप्राकृतत्वं वारयति गार्हमेधिकांश्चरन्निति । गृहमेधिधर्मानाचरन् श्रौतान् स्मार्तांश्च ॥४३॥

व्याख्यार्थ – उनके घरों में आप नित्य विराजने लगे, उनसे जो विवाह किया, वह प्रमाण-मार्गीय काम के अनुसार नहीं किया, किन्तु प्रमेयस्थ कामानुसारी किया। वह काम पुष्ट एवं निरन्तर रहने से नित्यरमणात्मक होता है, अतः विवाह के समय से लेकर जब तक स्थिति, तब तक उनमें नित्यरमण करने लगे। विधि के पालन के लिए दस पुत्र उत्पन्न किए, वह यहाँ नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उसमें काम की प्रधानता है। उत्पादन[1] में काम क्षीण होता है, निरन्तर रमण करने में बहुत दूषण होता हैं, दूसरे कार्य करने में रुकावट, मनुष्यों को सन्देह होता है, परस्पर इनकी एक-दूसरे से गोष्ठी करने में सन्देह इत्यादि दूषण पैदा होते हैं। जिनका उत्तर देते हैं कि 'अतर्क्यकृत' भगवान् जो कुछ कर रहे हैं, वह इस प्रकार करते हैं जैसे उसमें किसी से कोई भी तर्क उत्पन्न न हो सके, लोक प्रतीति के ही विरोध में दूसरी भांति कर देते हैं, भगवान् के बहुत रूप हैं, अतः किसी रूप से बाहर भी पधार जाते हैं, जिससे किसी कार्य में रुकावट भी नहीं पड़ती है, किन्तु यहाँ प्रभु विशेष कार्य नहीं करते हैं, अतः जैसे शाल्वादिकों में रहते हुए भी युद्ध नहीं किया है। काम के लिए ही उनके घरों में विराज रहे थे, अतः काम की सम्पत्ति के लिए गृहों का वर्णन करते हैं। स्वर्गादि में भी रानियों के गृह के समान या अधिक उत्तम कोई घर कहीं भी नहीं है, इसलिए आप यहाँ स्थिर होकर रहे थे, यदि व्यग्रता वा अस्थिरता होवे तो जो काम निरन्तर रहता है, उसमें बाधा हो जाय। इस प्रकार सब तरह की उपपत्ति होने पर उनमें रमण करने लगे। भगवान् की तो इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर रमण कैसे करते है? प्रभु ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी में ही रमण करते हैं, न कि दूसरे स्थान पर वा दूसरे से; तब यहाँ रमण कैसे? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'रमाभिः' जितने भगवान् के रूप हैं, उतनी ही ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मियों को प्रकट करते हैं। यहाँ उन लक्ष्मियों के उतने रूपों का इन स्त्रियों में आवेश कर, पश्चात् उनसे रमण करते हैं। इस प्रकार करने का कारण क्या है? निज काम से पूर्ण है, सेना के आने पर काम भी प्रकट होता है, यह काम जीवों के काम के समान नहीं हैं। यह बताने के लिए 'निज' पद दिया है, यदि यों है तो उन स्त्रियों का सङ्कल्प[2] तो सिद्ध न हुआ होगा? इसके उत्तर में कहते हैं 'यथेतरः' जैसे दूसरे करते हैं, वैसे ही किया। किन्तु उसमें केवल प्राकृतत्व नहीं है, इसलिए कहते हैं कि गृहस्थ के श्रौत तथा स्मार्त धर्मों को भी करते थे ॥४३॥

आभास—तासां मानसम्पत्तिं कृतवानित्याह इत्थमिति ।

आभासार्थ—उनकी मान एवं सम्पत्ति का वर्णन 'इत्थं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।

१– पुत्रों को पैदा करने में, २– मनोरथ

भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवी को नहीं जानते हैं, वे स्त्रियाँ इस प्रकार लक्ष्मी के पति को अपना पति बनाकर प्रसन्नता से बढ़ी हुई प्रीतिपूर्वक अनुराग हास्य देखना, नवीन सङ्गम जिससे परस्पर अनेक प्रकार की कथाओं से लज्जित होने लगी ॥४४॥

सुबोधिनी—अथवा द्वाभ्यां भगवच्चरित्रमुक्तम्। तथाकरणानन्तरं ताभिरप्येकं कामरसेन कृतम्, एकं तु भक्त्येत्याह द्वाभ्याम्, इत्थमिति। रमाया एव भगवान् पतिः,नत्वन्यासाम्। तद्दासाः जीवा एवान्यासाम्। तं पतिं स्वयमवाप्य। पूर्वं बन्द्या गृहीतास्ताः। बन्दिग्रहणं तासामुपकारायैव जातमिति। अविरतमेधितया मुदा भगवन्तं भेजुरिति सम्बन्धः। निरन्तरं सेवितवत्यः। ननु किमाश्चर्यं स्त्रियो हि भर्तृसेवां कुर्वन्त्येवेति चेत्, तत्राह ब्रह्मादयोऽपि न विदु पदवीं यदीयामिति। मार्गमेव भगवतो न जानन्ति, कुतः सेवां करिष्यन्ति। अभिप्रेता हि सेवा कर्तव्या। अभिप्रायस्तु दुर्गमः। तदपि ज्ञात्वा सेवां कृतवत्य इत्यलौकिकं बोध्यते। तत्रापि न विधिकिङ्करतया, किन्तु मुदा। औत्सुक्यान्मुदः प्रवृत्तिं वारयति अविरतमेधितयेति। भगवति तासां षड्भावानाह अनुरागेति। अन्यथा भक्तिरस एव स्यात्, न कामरसः। प्रथमतोऽनुरागः चित्ते। ततो हासः भावप्राकट्यम्। ततोऽवलोकनं दृष्ट्या सङ्गः। ततो नवसङ्गमो नित्यम्। नित्यनूतनत्वाद्भगवतः। ततो जल्पाः नानाविधाः कथाः। तत उत्थितानां लज्जा कुलवधूभावप्राकट्यम्। अन्यथा अगुप्तो रसः रसाभासः स्यात्। जातलज्जा इति पाठः सुगमश्चिन्त्यः ॥४४॥

व्याख्यार्थ— अथवा दो श्लोकों से भगवान् का चरित्र कहा, वैसा करने के पश्चात् उन्होंने भी एक श्लोक कामरस से कहा और एक भक्ति से कहा। इस प्रकार इन्होंने भी दो किए, 'इत्थमिति' यों इस प्रकार भगवान् रमा के सिवाय अन्य किसी के पति नहीं हैं। उनके दास जो जीव हैं, वे दूसरों के पति हैं, रमा के पति को आप प्राप्त कर निरन्तर बढ़ते हुए हर्ष से उनको भजने लगी, जब भगवान् ने ग्रहण की, तब वे बन्दी[1] थी। बन्दी की अवस्था में ग्रहण इनके उपकार का कारण हो गया, निरन्तर भगवान् की सेवा करने लगी, उनकी सेवा करनें में क्या आश्चर्य है ? स्त्रियाँ ही पति की सेवा करती हैं, यदि यों कहो तो कहते हैं कि जिनकी पदवी को ब्रह्मादि भी नहीं पा सकते हैं, वे तो भगवान् की प्राप्ति का मार्ग ही नहीं जानते हैं तो सेवा कहाँ से करेंगे ? प्रभु का अभिप्राय जानकर ही सेवा करनी चाहिए। वैसी सेवा उनको पसन्द होवे, वैसी करनी चाहिए, भगवान् का अभिप्राय जानना तो दुर्लभ है। वह भी जानकर सेवा करने लगी, जिससे अलौकिक में जानने में आता है, वह सेवा जैसे नौकर विधि से सेवा करते हैं, वैसी नहीं, किन्तु प्रसन्नतापूर्वक प्रेम से करती थी। उत्सुकता से मोद की प्रवृत्ति को निवारण करता हैं, निरन्तर बढ़ने से यों भगवान् में उनके अनुराग आदि छः भाव हैं, वे

१- कैदी अवस्था

कहते हैं। यदि वे छः भाव न होवे तो भक्तिरस ही हो जाय, कामरस न होवे, प्रथम तो चित्त में अनुराग, पश्चात् हास से अपना भाव प्रकट करना, बाद में दृष्टि से सङ्ग, अनन्तर नित्य नूतन सङ्गम, नित्य नूतन सङ्गम कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् नित्य नवीन है; क्योंकि रस रूप हैं। इस क्षण-क्षण में नवीन होता है, उसके बाद अनेक प्रकार की रसमय कथाएँ, उनसे लज्जा का उत्पन्न होना, यह लज्जा कुल वधूत्व का भाव प्रकट करती है अर्थात् ये बड़े कुल की स्त्रियाँ है, नहीं तो प्रकट रस रसाभास हो जावे 'जात लज्जाः' यह पाठ सुगम विचारणीय है ॥४४॥

आभास—कामकृतमुक्त्वा भक्तिकृतमाह प्रत्युद्गमेति ।

आभासार्थ—काम कृत कहकर 'प्रत्युद्गम' श्लोक में भक्तिकृत कहते हैं।

श्लोक—प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि प्रत्येक के पास सैंकड़ों दासियाँ थीं, तो भी सामने जाना, बीड़ा देना, पाँव चाँपना (दबाना), पङ्खा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना, केश सुलझाना, सेज सँवारना, बाद में स्नान कराना एवं भोजन कराना; ऐसे-ऐसे उपचारों से वे स्त्रियाँ दास्य भाव प्रकट करती थीं ॥४५॥

सुबोधिनी—दूरादागच्छन्तं दृष्ट्वा यथाकथञ्चिदपि स्थिताः प्रत्युद्गता भवन्ति। अग्रे गच्छन्ति। तत आसनं भगवते प्रयच्छन्ति। ततो वरार्हणमभीष्टं कुर्वन्ति, यदाज्ञापयति। वरस्य वा विवाहसमये समागतस्य यथोपचाराः क्रियन्ते, मधुपर्कादिः पाणिग्रहणादिर्वा। ततः पादप्रक्षालनम्, ततस्ताम्बूलदानम्, ततो विश्रमणं पादसंवाहनम्, ततो वीजनं व्यजनादिभिः, ततो गन्धमाल्यादिदानम्, ततः स्वेच्छयोपविष्टस्य माल्यादिग्रथनार्थं केशप्रसारः, ततः शयनम्, ततः कामे तृप्ते स्नपनम्, तत उपहारः भक्ष्यभोज्यादिदानम्। कामार्थमेव हि स्त्रीगृहे गमनम्, न तु भोजनार्थम्। अतः कामानन्तरमेव भोजनं युक्तम्, अन्यथोभयमपि विरसं स्यात्। एवं द्वादशधोपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः, द्वादशधा मनसो वृत्तिपूरणार्थम्। एवं करणे तासां क्लेशात् रसोत्पादकता न स्यादित्याशङ्क्याह दासीशता अपीति। अतस्ताभिः सुसंस्कृताः भगवतो दास्यं विदधुः। क्लिष्टो भगवानेताभिरेवं सेवित इति सापेक्षसेवां कश्चिद्ब्रूयात्, तद्व्यावृत्यर्थमाह विभोरिति। सर्वतः समर्थस्य। एवं सर्वासां विवाहावधिसेवान्ताः क्रिया निरूपिताः। मानापनोदनादिकं तु वक्तव्यम्, तदुत्तराध्याये रुक्मिण्यामुक्त्वा सर्वत्रातिदेशं वक्ष्यति। यदैव भगवान् यस्मिन्नंशे तिरोहित इव भवति, तत्रैव भगवत्कृतसमाननात् मान उत्पद्यत इति स्थितिः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—दूर से भगवान् को पधारते हुए देख जिस किसी अवस्था में होते हुए भी शीघ्र सामने लाने के लिए जाती थी, पश्चात् भगवान् को आसन देती थी, बाद में जैसी आज्ञा करते थे, वैसा वर के योग्य पूजन करती थी। जैसे विवाह के समय मधुपर्क, पाणिग्रहण आदि, अनन्तर पादो

को प्रक्षालित करना, ताम्बूल देना, चरण चाँपना, पङ्खा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना; उसके बाद अपनी इच्छा से बैठे हुए के पुष्पादि के ग्रथन के लिए केशों को सुलझाना, बाद में शयन, उससे काम की तृप्ति हो जाने पर स्नान, स्नान के पश्चात् भक्ष्य भोज्यादि का देना, पति स्त्री गृह में कामतृप्ति के लिए ही जाता है न कि भोजन के लिए जाता है, अतः काम की पूर्ति के बाद ही भोजन आदि दिए, यह योग्य ही है, नहीं तो दोनों में रस नहीं होता। इस तरह बारह प्रकार के उपचार नित्य किए जाते थे, बारह क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि मन की बारह वृत्तियाँ उन सबकी पूर्ति करने के लिए, यों करने से उनको कष्ट हुआ होगा, जिससे रस उत्पन्न न हुआ होगा। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं कि उनके पास जो सैकड़ों दासियाँ थीं, उनसे थकावट दूर करा लेती थी, बाद में भगवान् की सेवा (चाकरी) करती थीं। इनकी इस प्रकार की सेवा से भगवान् तो क्लिष्ट हो गए होंगे, यों सापेक्ष सेवा कोई कहे तो उसके निवारण के लिए कहते हैं कि भगवान् विभु हैं अर्थात् सर्व समर्थ होने से उनको क्लेश नहीं होता है। इस प्रकार विवाह से लेकर सेवाओं तक जो क्रियाएँ हुई, उनका निरूपण किया. मान और अपनोदन आदि कहने चाहिए। वह आगे के अध्याय में रुक्मिणीजी को कहने से सबका उसमें समावेश हो जाएगा, जब ही भगवान् जिस अंश से तिरोहितसा होंगे, वहाँ भगवान् के मनाने से 'मान' उत्पन्न होता है, यह स्थिति है ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धदशमोध्यायः ॥१०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
अवान्तर प्रकरण का तीसरा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

"भौमासुर वध कल्पवृक्ष आनयन"

राग आसावरी

रटति कृष्न गोविन्द हरि-हरि मुरारी, भक्त भय-हरन असुरंऽतकारी।
षष्ठ दस सहस कन्या असुर बन्दि में, नींद अरु भूख अहनिसि बिसारी॥
प्रीति तिनकी सुमिरि भए अनुकूल हरि, सत्यभामा हृदय यह उपाई।
कल्पतरु देखिबे की भई साध मोहिं, कृपा करि नाथ ल्यावहु दिखाई॥
सत्यभामा सहित बैठि हरि गरुड़ पर, भौमासुर नगर कौ तुरत धाए।
एक ही बान पाषान कौ कोट सब, हुतौ चहुँ ओर सो दियौ ढाए॥
गरुड़ चहुँ पास के नाग लीन्हे निगलि, जल बरषि अगिनि ज्वाला बुझाई।
स्वास के तेज सौं जल सकल सोषि लियौ, देखि यह लोग सब गए डराई॥
करी हरि संख धुनि जग्यौ तब असुर सुनि, कोप करि भवन सौं निकसि धायौ।
देखि कै गरुड़ कौ लगी ता हृदय दव, कठिन तिरसूल सो गहि चलायौ॥
सचिव सिर टेकि तब कह्यौ निज नृपति सौं, नहीं तिहुँ भुवन कोउ सम तुम्हारे।
जुद्ध कौ करत छाजत नहीं है तुम्हें, सुनि महाराज अच्छत हमारे॥

कियो तब जुद्ध उन क्रुद्ध ह्वै स्याम सौं, हरि कह्यौ गरुड़ इहिं हति प्रचारी।
गरुड़ मुनि धाइ गह्यौ जाइ ताकौं तुरत, तीनहूँ सीस डारे प्रहारी॥
तासु पुत्रनि बहुरि जुद्ध हरि सौं कियो, मार तैं सोउ कायर दुराने।
कोउ कटि, कटि परे, कोउ उठि, उठि लरे, कोउ डरि डरि बिदिसि दिसि पराने॥
तब असुर अगिनि जल बान डारन लाग्यौ, तासु माया सकल हरि निवारी।
असुर के भटनि कौ गरुड़ लाग्यौ गिलन, तुरग गज उड़ि चले लगि बयारी॥
असुर गज रूढ़ ह्वै गदा मारे फटकि, स्याम अङ्ग लागि सो गिरे ऐसैं।
बाल के हाथ तैं कमल दल नाल जुत, लागि गजराज तन गिरत जैसैं॥
आपु जगदीस सब सीस ता असुर के, मारि तिरसूल सौं काटि डारे।
छाँडि सो प्रान निरवान पद कौं गयौ, सूर पुहुप बरषि जै जै उचारे॥
प्रथी गहि पाइ, माल कुण्डल छत्र ले, जोरि कर बहुरि अस्तुति सुनाई।
नाथ मम पुत्र कौ दीजिए परमगति, हरि कह्यौ पुत्र तुव मुक्ति पाई॥
बहुरि गए तहाँ कन्या हुतीं सब जहाँ, निरखि हरि रूप सो सब लुभाईं।
चरन रहिं लागि बड़ भाग लखि आपने, कृपा करि हरि सु निज पुर पठाईं॥
बहुरि गए इन्द्रपुर इन्द्र रह्यौ पाइँ परि, कल्पतरु बृच्छ तासौं मँगाए।
त्रदसपति मान कौ रतन कुण्डल दिए, बृच्छ लै आपु निज पुरी आए॥
बहुरि बहु रूप धरि हरि गए सबनि घर, ब्याह करि सबनि की आस पूरी।
सबनि कैं भवन हरि रहत सब रैनि दिन, सबनि सौं नैंकु नहिं होत दूरी॥
सबनि कौ पुत्र दस दस कुँवर एक इक, दै सकल धर्म के गृह सिखाए।
कोटि ब्रह्माण्ड नायक सु बसुदेव सुत, सूर सोइ नन्द-नन्दन कहाए॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६०वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५७वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का ११वां अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"चतुर्थ अध्याय"

श्रीकृष्ण रुक्मिणी-संवाद

कारिका—**वाचिकस्तु तिरोभावो रुक्मिण्यामुच्यते स्फुटः ।**
एकादशे निरोधार्थमन्यथा लौकिकं भवेत् ॥१॥

कारिकार्थ— रुक्मिणी से जो भगवान् ने अपना तिरोधान किया, वह केवल वाचिक तिरोधान किया अर्थात् वाणी से ही कहा, कायिक तिरोधान नहीं किया। काया से तो वहाँ ही विराजमान थे, यह वाचिक तिरोधान जो उत्तरार्ध के ११वें अध्याय में किया है, वह निरोध के लिए किया है, नहीं तो वह लौकिक हो जाय ॥१॥

कारिका—**सर्वथा कृतसेवायाः परीक्षापि निरूप्यते ।**
यथा प्राणे शरीरस्य स्थितिस्तद्वद्यथा भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—यों वाचिक तिरोधान से, सर्व प्रकार से की हुई सेवा की परीक्षा भी की गई है, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यदि रुक्मिणी को भगवत्सेवा न मिलेगी, तो उसके शरीर की स्थिति भी न रहेगी, जैसे प्राणों के चले जाने पर शरीर की स्थिति नहीं रहती है। प्राण है तो शरीर की स्थिति है, वैसे ही रुक्मिणी के लिए यदि भगवान् हैं तो उनको सेवा प्राप्त होने से उसके शरीर की स्थिति रह सकती है, अन्यथा नहीं ॥२॥

कारिका—**सान्त्वनं कायिकं त्वत्र निःसम्बन्धाद्यतो भयम् ।**
दोषाभावाय वाक्यं तु ईर्ष्यामात्सर्यदोषनुत् ॥३॥

कारिकार्थ— वाचिक तिरोधान से रुक्मिणी को भगवान् से सम्बन्ध न रहने का ज्ञान होने से भय उत्पन्न हो गया, भगवान् ने रुक्मिणी को भयभीत देख झट पलङ्ग से नीचे पधार कर उसका कायिक सान्त्वन किया। यदि कायिक सान्त्वन न करते तो सम्बन्ध न होता, जिससे रुक्मिणी भयग्रस्त ही रहती और दशमी[1] अवस्था रूप दोष भी नष्ट न होता, पहले देवराज पुत्री इत्यादि वाचिक किया हुआ सान्त्वन तो केवल ईर्ष्या मात्सर्य आदि दोषों को नाश करने वाला है ॥३॥

कारिका—**निर्दुष्टायाः परिज्ञानमविरोधस्य वर्णनात् ।**
निरूप्यते यतः सा हि न कुतश्चिद्भ्रमं भजेत् ॥४॥

कारिकार्थ—उसके सर्व दोष नष्ट हो गए, यह ज्ञान कैसे हुआ ? अविरोध के वर्णन से यह ज्ञान हुआ कि इसके दोष नष्ट हो गए हैं। यह अब निर्दोष है, अतः भगवान् के वचनों में उसको किसी प्रकार का अब भ्रम न रहा, जैसा पहले था कि मेरा त्याग कर देंगे ॥४॥

कारिका—**शब्दार्थयोर्विरोधः स्यात् प्रामाण्ये सर्वथैव हि ।**
लक्षणायामपि तथा मुख्यार्थो बाधितो यतः ॥५॥

कारिकार्थ—शब्द और अर्थ का परस्पर विरोध तो प्रामाण्य में हो सकता है, प्रमेय में नहीं। लक्षणा में भी मुख्यार्थ का बाध होता है ॥५॥

———

१- मृत्यु

कारिका—अतो हि भगवद्वाक्यं दुर्ज्ञेयं सर्वथा मतम् ।
यस्त्वेतस्य परिज्ञाता स न मुह्यति कर्हिचित् ॥६॥

कारिकार्थ—इस कारण से भगवान् का वाक्य सर्व प्रकार दुर्ज्ञेय[1] माना गया है, जो निर्दोष होने से इसको जाना जाता है, वह कभी भी भूला नहीं जाता है ॥६॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वाध्यायान्ते सर्वभावेन स्त्रीणां सेवा निरूपिता । तस्याः परोक्षार्थमिदमारभ्यते । तत्र प्रथमं पूर्वषट्के निष्पन्ने, उत्तरादिरूपं वीजनमाह **कर्हिचिदिति ।**

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में स्त्रियों ने जो सर्वभाव से सेवा की, उसका वर्णन किया। अब उसकी परीक्षा के लिए यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, पूर्व अध्याय में पधारने के समय स्वागत आदि छः प्रकार से किया, जिसका वर्णन वहाँ हुआ। अब 'कर्हिचित्' श्लोक में बीजन[2] से पूर्वकृत स्वागतवत् छः ही प्रकार कह दिए हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ।**
पतिं पर्यचरद्भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि एक समय जगत् के गुरु अपने पलङ्ग पर सुख से विराज रहे थे, उस समय रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ आकर पङ्खे से पति की सेवा करने लगी ॥१॥

सुबोधिनी—**सुखमासीनमिति** विश्रमान्ता सेवा निरूपिता। **स्वतल्पस्थमिति** अग्रिमावश्यकत्वं निरूपितम्। कदाचिद्भगवान् रुक्मिण्या गृहे सभात उत्थाय रात्रौ समागतः। ततः प्रत्युद्गमनादिप्रकारेण स्वशय्यायामेवोपवेशितः। कामकलापूर्णं च तद्गृहम्, तत्पित्रादिभिः प्रायेण तत्सुखार्थं सामग्री प्रेषितेति लक्ष्यते। **अन्यथा** भगवान् स्वदत्तायां सामग्र्यां नैव ददेत्। सापि भावज्ञा। नैवमभिमानेन सेवां कर्तुं प्रवर्तेत। अतोनभिप्रेतमेव स्वशय्यायां दीनभावमकृत्वा उपवेशितवती। भगवांश्च कथं तथा वदतीत्याशङ्कायामाह **जगद्गुरुमिति** । स हि सर्वोपदेष्टा। भ्रमादन्यथा बुद्धौ जातायां तन्निवारणीयमिति जगद्गुरोः कार्यमेव तत्। पतित्वान्निःशङ्कं पर्यचरत्। भैष्मीत्वात् साभिमाना। **व्यजनेनेति** स्वयं व्यजनं गृहीत्वा। सखीजनैः सहिता स्वोत्कर्षबुद्धया ता अपि स्थापितवती॥१॥

१- सरल रीति से समझ में न आने वाला, २-. पङ्खा करना

व्याख्यार्थ—भगवान् सुख पूर्वक विराजमान हो गये थकावट दूर हो गई, तब रुक्मिणी सेवा करने लगी क्योंकि थकावट के समय सेवा रुचिकर नहीं होती है इसलिये कहा है कि "विश्रमान्ता सेवा निरूपिता।" थकावट मिट जाने के बाद सेवा करने का शास्त्रों में निरूपण है अपने पलङ्ग पर विराजमान हुए, यों विराजना अग्रिम कार्य की आवश्यकता निरूपण करता है, अथवा भगवान् कदाचित् सभा से उठकर रात्रि के समय रुक्मिणी के घर पधारे, पधारने पर रुक्मिणी ने छ प्रकार से स्वागत आदि सर्व विधि की, पश्चात् अपने पलङ्ग पर बिठाया, वह घर काम की कलाओं से पूर्ण था इससे यों जाना जाता हैं, कि इस प्रकार के गृह के सजाने के लिये पिता आदि ने सुख निवासार्थ सब सामग्री भेजी है यदि पिता आदि ने नहीं भेजी हो, भगवान् की दी हुई होती तो भगवान् इस प्रकार के वचन नहीं कहते, वह भी भाव को समझने वाली है, यदि भावज्ञ न होती तो इस प्रकार साभिमान सेवा करने में प्रवृत्त न होती, अतः भगवान् की न दी हुई किन्तु अपनी ही शय्या पर दीन भाव का त्याग कर अर्थात् साभिमान शय्या पर बैठे, भगवान् वैसे वाक्य जिनसे रुक्मिणी अप्रसन्न हो, चिन्तित हुई, कैसे बोले ? इस पर कहते हैं कि, भगवान् जगद्गुरु के नाते सब के शिक्षादाता हैं भ्रम से किसी की बुद्धि विपरीत हो जावे तो शिक्षा द्वारा उसकी बुद्धि को सुधारना, जगद्गुरु का यह ही कार्य है, भगवान् पति होने के कारण निःशङ्क होकर यों करने लगे, उसको अभिमान भीष्म की कन्या होने से हुआ था, रुक्मिणी के साथ अन्य सखियां भी थीं, तो भी अपने हाथ से पंखा करने का कारण सब से अपनी उत्कृष्टता दिखाना था ॥१॥

आभास—ननु तथापि संतोषे दुःखजननमयुक्तमिति चेत्, तत्राह **यस्त्वेतदिति** ।

आभासार्थ—संतोष हो जाने पर, दुःख होना योग्य नहीं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर 'यस्त्वेतत्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः ।
स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो ईश्वर इस जगत् को लीला से ही रचता, पालता और नाश करता है, वह ही अजन्मा अपनी मर्यादा के पालन के लिए यादवों में प्रकट हुआ है ॥२॥

सुबोधिनी—उभयथापि भगवतो नैवंकरणे दोषः। आदावुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता, यथोत्पत्ति हर्षादेः करोति, स्थितिं वा, तथा प्रलयमपि करोतीति हर्षादेर्नाशनं भगवत्कार्यमेव । किञ्च । भगवान् **स्वसेतूनां** स्वकृतमर्यादानां धर्मादीनां **गोपीथाय** रक्षणार्थमेवावतीर्णः । अन्यथा अजस्य यादवेष्ववतारो नोपपद्येत । ननु प्रलये कश्चन भगवत उद्योगो दृश्यते, समयश्च तादृश इति चेत्, तत्राह **लीलयेति** । न तस्य उत्पत्त्यादिकरणे किञ्चित्साधनं मृग्यते, किन्तु लीलयैव करोति । नापि यदोः पुष्टिपथस्य विहितकालाद्यपेक्षा । नापि स्वभावमप्यन्यथा कृत्वा समागतस्य यदर्थमागतस्तत्करणमयुक्तं भवति ॥२॥

व्याख्यार्थ—दोनों तरह करने में भी भगवान् को दोष नहीं है, भगवान् आदि में जैसे उत्पत्ति हर्ष से करते हैं, वैसे स्थिति तथा प्रलय भी करते हैं, हर्ष आदि का नाश भी भगवान् का कार्य ही है। और विशेष में, भगवान् अपनी धर्म आदि की मर्यादा की रक्षा के लिये ही अवतीर्ण हुवे हैं, यदि यों न होवे तो अजन्मा का यादवों में प्राकट्य न होवे, भगवान् का प्रलय में कुछ उद्योग दीखता है, वह समय वैसा होता है. यदि यों कहो, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'लीलया' भगवान् का सर्व कार्य लीलामात्र है, आपको किसी कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है उनको किसी साधन की भी आवश्यकता नही है, अनुग्रहस्थ यदु को विहित काल आदि की भी अपेक्षा नहीं है, प्रभु स्वभाव भी अन्य प्रकार का करके पधारे हैं तो भी वे जिस कार्य के लिये आये हैं, उस कार्य का करना अयोग्य नहीं होता है अर्थात् युक्त ही होता है ॥२॥

आभास—तर्हि देशवशात्कालवशाद्वा भगवांस्तथोक्तवानित्याशङ्क्य गृहं वर्णयति **तस्मिन्नन्तर्गृह** इति।

आभासार्थ—तो देश वा[1] काल वश होकर भगवान् ने यों कहा होगा ? यह शङ्का मिटाने के लिये घर की शोभा को 'तस्मिन्नन्तर्गृहे' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना।
विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥३॥
मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते।
जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥४॥
पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना।
धूपैरगरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥५॥

श्लोकार्थ—घर के भीतर सुन्दर चन्दोआ बाँधा हुआ था, जिसमें देदीप्यमान मोतियों की मालाएँ लटक रही थी; चारों तरफ मणियों से बने दीपक जगमगाते थे, मधुमल्लिका के पुष्पों की मालाओं पर भ्रमरों के झुण्ड गुञ्जार कर रहे थे, जालियों में से चन्द्रमा की निर्मल किरणें भीतर प्रविष्ट हो रही थी। वायु पारिजात वृक्ष के वन की सुगन्धी को लेकर वहाँ गृह में आ रही थी। हे राजन् ! जालियों में से अगर के धूप की सुगन्ध सहित धूम्र बाहर निकल रहा था ॥३-४-५॥

१—गृह सुन्दर नहीं होगा, अथवा उसकी आयु स्वल्प होगी, इन कारणों से भगवान् से रुक्मिणी को ऐसे वाक्य कहे होंगे, जिसके उत्तर में दिखाते हैं गृह भी सुन्दर था तथा आयु भी स्वल्प नहीं है।

सुबोधिनी—तां च रसाधिकरणभूतां षड्भिश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च । गृहमध्य इत्येकान्तता । तत्रापि तस्मिन्निति प्रसिद्धिः । तेन तत्कामस्थानमेव, न तु क्रोधादिस्थानम् । आदौ तस्योपरि शोभां वर्णयति । भ्राजन्मुक्तादाम्नां विलम्बनयुक्तेन वितानेन चन्द्रातपेन विराजिते । परितो विलम्बीनि मुक्तादामानि यस्मिंश्चन्द्रातपे । तेन विराजितं कामस्थानमेव भवति । मणिमयैरपि दीपैः परितो विराजिते । मल्लिकादामभिः केवलपुष्पैश्च सर्वतः । शृङ्गाररसानुभावकमाह । द्विरेफकुलानां नादितं —येश्चेति । द्विरेफ[illegible] चन्द्रोद्बो- ध्यत्यन्तमुद्वोधक इति त[illegible]णानामन्तःप्रवेशमाह जालरन्ध्रप्रविष्टैश्चेति चन्द्रमसः अरुणैरुदयकालीनैः किरणै रागयुक्तैः गवाक्षमार्गेणान्तःप्रविष्टैः विराजिते । अलौकिकोद्बोधकमाह । पारिजातकवृक्षाणां पूर्वप्रेषितपारिजातकल्पवृक्षस्य पोताः सर्वत्र स्थापिता वनप्राया जाताः । ते तस्य गृहस्य परितो वर्तन्त इति गवाक्षादिमार्गेण तदामोदयुक्तो वायुरपि तत्र प्रविष्टः, तेनापि विराजिते । तस्य शैत्यं मान्द्यं च वर्णयितुमाह उद्यानशालिनेति । उद्याने वाप्यः निर्झराश्च सन्ति । तत्रापि उद्यानं शाला यस्य । तेन मन्दतापि समायाति । सहजान्युद्बोधकान्युक्त्वा कृत्रिमान्याह धूपैरिति । अगरुजैः अगरुयुक्तनानाविधद्रव्योद्[illegible] । [illegible] अन्तः स्थापितः स धूमः, न तु बहिष्ठोऽन्तःप्रविष्ट इति ज्ञापयितुं विशेषणमाह जालरन्ध्रविनिर्गतैरिति ॥५॥

व्याख्यार्थ—रस की अधिकरण भूत उसका छः, चार और दो लोकों से वर्णन करते हैं, गृह के मध्य में कहने का भाव यह है कि वहां एकान्तता थी, उसमें भी 'तस्मिन्' शब्द कह कर बताया कि वह प्रसिद्ध था, इसलिये वह स्थान काम स्थान अर्थात् आनन्द का था न कि क्रोध आदि करने का स्थान है, अतः प्रथम उसकी शोभा का वर्णन करते हैं, जिस चदोआ में देदीप्यमान मोतियों की मालाएँ लटक रही थी उससे सुशोभित ग्रह था, वैसे मोतियों की मालाओं से युक्त चंदोआ जहां होता है, वह काम क्रीड़ा का स्थान ही होता है, वैसा गृह मणि से बने हुए दीपों से भी चारों तरफ सुशोभित हो रहा था, और चारों तरफ केवल मल्लिका के पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित था, शृङ्गार रस के भावों को प्रकट कराने वाले, अनुभावकों को कहते हैं, जहां भ्रमरों का कुल गुञ्जार कर रहा है, अथवा भ्रमरों का मधुर गान हो रहा है, चन्द्रमा भी रस को जगाने वाला है, अतः उसकी किरणों जालियों के छेदों से भीतर प्रविष्ट हो रही थी, वे किरणें भी उदयकालीन लाल किरणें थीं, जिससे राग का उद्भव शीघ्र होता है. काम रस को जगाने वाले अलौकिक पदार्थ का निरूपण करते हैं, प्रथम भेजे हुए पारिजात कल्प वृक्ष के पौधे सर्वत्र स्थापित किये थे वे अब बन रूप हो गये हैं, वे उसके घर के चारों तरफ थे, झरोखों के रास्ते उनकी गन्ध वायु के द्वारा गृह में प्रविष्ट हो रही थी, ये पूर्वोक्त सर्व पदार्थों से सुशोभित गृह था, अब उसकी शीतलता और मन्दता के वर्णन करने के लिये कहते हैं कि, 'उद्यान शालिना' उद्यान में बावड़ियां तथा झरणें भी थे, वहां भी उद्यान ही शाला थी, जिससे मन्दता भी आती है ।

सहज उद्‌बोधकों को कहकर अब कृत्रिम उद्‌बोधकों को कहते हैं,अगरु से युक्त अनेक प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न धूपों से वह गृह सुगन्धित था, जिनसे भी रस का उद्‌बोधन होता था, हे राजन् ! विश्वास के लिये कहा है, वह धूप का धूम्र तो भीतर ही हो रहा था अन्य गन्ध की भांति वायु द्वारा भीतर नहीं जाता था, क्योंकि धूप भीतर जलाया गया था, इस लिये जालियों के छेदों से बाहर आ रहा था ॥३-४-५॥

आभास—अथ: शोभामाह **पय:फेननिभ** इति ।

आभासार्थ—निम्न 'पय: फेन' श्लोक में शोभा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—पय:फेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे ।
उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ।।६।।

श्लोकार्थ—दूध के फेन के समान स्वच्छ व कोमल बिछौने वाले पलङ्ग पर, सुख से विराजमान अपने पति श्रीकृष्ण, जो जगत् के ईश्वर हैं, उनके पास आई ।।६।।

सुबोधिनी - पय:फेनस्य निरन्तरमुच्छूनता विचित्रता अभ्रता च । सत्रोपनिबद्धं मध्ये परितो | भगवन्तं तत्र स्थितं वर्णयति । तत्र सुखं यथा भवति तथा आसीनम् । लोकवेदशङ्काभावार्थं

...शीश्वरं पतिमिति ।।६।।

दन्तैर्हीरकैश्च निर्मितम्, तेन शुभ्रम्, कशिपुना सुतरामुत्तमम् । एवं सामग्रीं वर्णयित्वा रसदातारं | विशेषणद्वयम् : जगता...

...है, वैसे ही पलङ्ग पर भी ...र बिछौना बिछा हुआ था ..., आप जगतों के ईश्वर हैं ...ी निवृत्त हो जाती है।।६।।

व्याख्यार्थ—दूध का झाग निरन्तर फूला, विचित्र तथा स्वच्छ रहता ... सूत्र में बान्धे हुए दान्त एवं हीरों से निर्मित होने से शुभ्र कोमल तथा सुन्द... जिस पर रस देने वाले प्रभु इस प्रकार विराज रहे थे जैसे आनन्द प्राप्त होवे... अत: वैदिक शङ्का भी नहीं हो सकती है, एवं 'पति' होने से लौकिक शङ्का ...

...टे स्वयं स्थितेत्याह

आभास—कुलवधूत्वादीश्वरत्वाच्च स्वत:प्रवृत्तिरयुक्तेति नि... **वालव्यजनमादायेति** ।

...ान् स्वत: प्रवृत्ति करें तो ...ी, जिसका वर्णन 'बाल'

आभासार्थ—आप ईश्वर हैं एवं रुक्मिणी कुल वधू है इसलिये भग... अयोग्य देखने में आवे अत: रुक्मिणी स्वयं समीप आकर पंखा करने ल... श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।
तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम् ।।७।।

... में से लेकर, उससे ...७।।

श्लोकार्थ—रत्नों की डाँडी वाली छोटी पङ्खी, सखी के हाथ... भगवान् की हवा द्वारा सेवा करती हुई समीप आकर खड़ी रही ।...

...हस्ते तत् स्थितम्, तदपि ... वर्णनम् । भगवति विल- ...यं गृहीतवती, तेन वीज-

सुबोधिनी—चमरो वालस्य व्यजनम् । रत्नानि दण्डे यस्य । अनेन दासीत्वं स्वस्य प्रकाशितम्, न तु नायिकात्वम् । तथा सति धार्ष्ट्यं | भविष्यतीति पूर्वं सख्या... नापकर्षजनकमिति तस्य... म्बमाने सखीहस्तात् स्व...

यती जाता। तदप्युद्बोधकम्। सेवया ईश्वरः परितुष्यतीति तदपि कृतवतीत्याह उपासांचक्र इति। सेवनरूपं निकटेऽवस्थानमुपासनम् ॥७॥

व्याख्यार्थ छोटी चवरी[1] जिसके डन्डे रत्न के थे वह सखी के हस्त में थी किन्तु रुक्मिणी को अपनी दासीपन प्रकाशित करना है, न कि नायिकापन, इसलिये वह चवरी सखी के हाथ से ले ली, यदि न लेती तो धृष्टता देखने में आती, उसके हाथ से लेने से किसी प्रकार बिगाड़ की सम्भावना नहीं थी, कारण कि भगवान् की वायु सेवा करने में विलम्ब न हो जावे, इसलिये उसके हाथ से ले ली और वायु से सेवा करने लगी वह सेवा भी रस को जगाने वाली है, सेवा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं इसलिये वह भी करने लगी, अर्थात् समीप स्थिति का तात्पर्य ही है, सेवा करनी॥७॥

आभास—मुख्य आलम्बनविभाव इति तां वर्णयति सोपाच्युतमिति।

आभासार्थ—रस जगाने में मुख्य आलम्बन विभाव है जिसका वर्णन 'सोपाच्युतं' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—सोपाच्युतं क्वणयती कलनूपुराभ्यां
रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रयहस्ता।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा
नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या ॥८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र के समीप मणि जड़ित नूपुरों के झन्कार शब्द को करती हुइ शोभा देती थी और अङ्गुलियों में मुन्दरी, पहुँचे में कङ्कण तथा हस्त में चमरी धारण की थी, साड़ी के छोर से ढके हुए स्तनों की केसर से लाल हुए हार की शोभा युक्त कमर में धारण की हुई मेखला, जिनसे शोभित हो रही है ॥८॥

सुबोधिनी—अल्पचलनेन कलनूपुराभ्यां क्वणयती भवति। जघनादिभारात् स्थिरतया स्थातुमशक्ता किञ्चिच्चलनान्नूपुरशब्दं करोति। एतादृशी निर्बन्धेन सेवां कुर्वाणापि रेजे। भगवन्निकटे समागच्छन्तं हस्तं वर्णयति अङ्गुलीयेति। अङ्गुलीयानि वलयानि व्यजनाग्र्य च हस्ते यस्याः। वस्त्रान्तेन गूढयोः कुचयोः कुङ्कुमेन शोणो यो हारः तस्य भासा रेजे। नितम्बधृतया बहुमूल्यकाञ्च्या च। रसोत्पादकस्थाननिरूपणार्थं स्थानद्वयवर्णनम्। हस्तपादौ तु वर्णितौ पूर्वार्धेन। एवं रसस्थानमादिमध्यावसानेषु वर्णितम्। भगवतः सुमुखत्वाभावात् न सापि सुमुखीति मुखमान्तरो भावश्च न वर्णितः ॥८॥

१–एक प्रकार के हरिण के पूंछ से बनी हुई छोटी चंवरी–चंवर

व्याख्यार्थ -- धीरे धीरे चलने से नूपुरों की अव्यक्त मीठी झनकार करती थी, कमर के भार से स्थिर थी अतः खड़ी रहने में अशक्त थी, जिससे धीमे धीमे चलती थी, इस कारण से नूपुर स्वतः शब्द करते थे, वैसी रुक्मिणी आग्रह से सेवा करती हुई भी सुशोभित होती थी, भगवान् के समीप रुक्मिणी का जो हस्त आता था उसका वर्णन करते है, उस हस्त में अंगूठियां, कङ्कण और चमरी की डांडी थी, वस्त्र के कोने से आच्छादित स्तनों की केसर से लाल बने हुए हार की शोभा से तथा कटि तट पर धारण की हुई कीमती मेखला[1] से सुशोभित हो रही थी, रस के उत्पन्न करने वाले दो स्थान, हस्त और पाद दोनों का वर्णन पूर्वार्ध से ही किया, इस प्रकार रस के स्थान, आदि मध्य और अन्त में वर्णन किया, भगवान् का और रुक्मणी का मुख भी सुन्दर न होने से, उनका तथा आन्तर भाव का वर्णन नहीं किया ।८॥

आभास— एवं रसार्थी देशकालादीनामानुगुण्येऽपि भगवति स रसो नोत्पन्नः । न हि भगवान् रसानुभवार्थं समागतः, किन्तु धर्मरक्षार्थं निरोधार्थं च । तदत्र रसानुभवे क्रियमाणे बाधितं भविष्यतीति तद्दोषनिराकरणार्थं किञ्चिदुक्तवानित्याह तां रुक्मिणीमिति ।

आभासार्थ —यद्यपि देश और काल रसोत्पादक गुण वाले हैं तो भी भगवान् में वे रस उत्पादन नही कर सके, भगवान् भी रस के अनुभव के लिये नही आये हैं, वे तो धर्म रक्षा और निरोध करने के लिये ही आये हैं, इसलिये यहां यदि रसानुभव करेंगे तो बाधित होगा, उस दोष का निराकरण करने के लिये कुछ 'तां रुपिणी' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं च दृष्ट्वा
या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-
वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥९॥

श्लोकार्थ— लीला से धारण किए हुए आपके रूप के समान जिसने रूप धारण किया है और आपके सिवाय अन्य कोई जिसका आश्रय नहीं है, ऐसी यह साक्षात् लक्ष्मी रूपिणी रुक्मिणी है । अलकें, कुण्डल ग्रीवाभरणयुक्त कण्ठ से जिसकी शोभा बढ़ रही है, जिसके मुख में मन्द मुस्कान रूप अमृत देदीप्यमान हो रहा है, उसको देख, प्रसन्न हो, मुस्कराते हुए हरि कहने लगे ॥९॥

१--तडागी (करधनी)

सुबोधिनी—भगवतो लक्ष्मीर्नियता अपरिहार्या च। तादृशीमपि न मन्यत इति वक्तुं तां वर्णयति। तां गुणतः प्रसिद्धाम्। रूपिणीं श्रियमिति स्वरूपत उत्कृष्टाम्। अनन्यगतिमिति भक्ताम्। अनेन भगवद्योग्यता निरूपिता। तस्या गुणत्रयमपि ज्ञात्वा तथोक्तवानिति वक्तुमाह दृष्ट्वेति। आकृतिरसमाना भविष्यतीति तन्निराकरोति। या लीलया धृततनोरनुरूपं रूपं यस्याः सा। तस्या गुणादिभिः प्रीतः, अन्यथा गुणानां कार्यासाधकत्वेन अगुणत्वमेव स्यात्। अतस्तैर्गुणैः प्रीतोऽपि भगवान् स्मयन् जातः। नह्येतादृशगुणवत्त्वे गर्व उचित इति, गर्व एवोपक्षीणा गुणा इति वा। अत एव प्रीतोऽपि स्मयन् जातः। यदा भगवान् सम्मुखः हास्यवदनोऽपि जातः, तदा रुक्मिणी सुमुखं ज्ञात्वा स्वयमपि तथा जातेत्याह अलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत्स्मितसुधामिति। शरीरमिव मुखं सर्वतो वर्णयति। उपर्यलकाः, उभयतः कुण्डले, अधः पदकयुक्तः कण्ठः त्रिवल्यात्मकः स्वरूपतोऽपि सुन्दरः, अन्यथा कण्ठपदं व्यर्थं स्यात्। एवं त्रिभिः कृत्वा सुन्दरं यद्वक्त्रं तत्र उल्लसत् स्मितमत्यन्तं प्रफुल्लरसमिव स्मितमेव सुधा। महादेवेन दग्धमपि कामं जीवयतीति। तादृशीमाबभाषे। तत्र हेतुर्हरिरिति। स हि तस्या अपि दोषं दूरीकर्तुं यतते ॥९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की जो लक्ष्मी है, वह नियत तथा छोड़ने योग्य नहीं है, वैसी को मान नहीं देते हैं इस पर उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं वह गुणों से प्रसिद्ध है, लक्ष्मी रूप हैं, जिससे स्वरूप से उत्कृष्ट है, और इसको दूसरी कोई गति[1] नहीं है, क्योंकि भक्त है, यों कहने से यह सिद्ध किया है कि यह भगवान् के योग्य है, उसके तीन गुणों को भी जानकर यों कहा है, उसकी स्पष्टता करते हैं 'दृष्ट्वा' यों ही नहीं कह दिया कि यह योग्य है किन्तु देखकर फिर निर्णय दिया, जैसे कि उसकी आकृति भगवान् के अनुरूप न होगी, यदि यों कहा जावे तो कहते हैं कि नहीं, आपने जो लीला से आकृति धारण की है,वैसी ही इसकी आकृति है,अर्थात् आपके समान रूप वाली है,उसकेगुण आदि से भगवान् प्रसन्न हुए यदि भगवान् गुणों से प्रसन्न न होते तो वे गुण अगुण हो जाते, अत उन गुणोंसे प्रसन्न हुए भी भगवान् आश्चर्य युक्त हो गये-वैसे गुण वाले में गर्व उचित नहीं,गर्व होने से गुण नष्ट हो जाते हैं, अतः एव प्रसन्न होते हुए भी आश्चर्य वाले होने लगे, जब भगवान् संमुख हो हँस मुख हुवे तब सुन्दर[2] मुख देख, वह स्वयं भी वैसी हुई, इसका वर्णन शरीर की भांति मुख का चारों तरह वर्णन करते हैं, ऊपर अलकें हैं, दोनों तरफ कुण्डल हैं, नीचे पदक से युक्त त्रिवली रूप कण्ठ, स्वरूप से भी सुन्दर है, नहीं तो कण्ठ पद व्यर्थ हो जावे, इस प्रकार तीनों से जो सुन्दर मुख, उसमें देदीप्यमान जो मुसकराहट, अत्यन्त प्रफुल्लित रस की तरह थी, यह मुसक्यान ही 'सुधा' है यह सुधा महादेव के जलाये हुए काम को सजीव कर रही हैं, ऐसी रुक्मिणी को कहने लगे, कहने में कारण यह है कि आप 'हरि' हैं दोषों को नाश करने वाले हैं, अतः उसके भी दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं ॥९॥

आभास—भगवद्वाक्यान्याह राजपुत्रीत्येकादशभिः।

आभासार्थ—'राजपुत्री' श्लोक से ११ श्लोकों में भगवान् ने जो वचन कहे उनका वर्णन करते है।

१—आश्रय २—भगवान् को अपने संमुख जान कर

श्लोक—श्रीभगवानुवाच- राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः ।
महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा, हे राजपुत्री ! लोकपालों के समान विभूतिवाले, महानुभाव, श्रीमन्त और रूप उदारता तथा बल संयुक्त राजा लोग तुम्हारी अभिलाषा करते थे ॥१०॥

सुबोधिनी—सप्तभिः स्वोत्कर्षः विपरीततया स्वस्य धर्माणां च निरूपितः। येन भगवान् सिध्यन्ति तन्निराकृत्य । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं विपरीततया श्लोकचतुष्टयमाह । तत्र प्रथमं तस्या. कृतमनभिनन्दन् श्रियं कीर्तिं च विपरीततया निरूपयति । तत्रापि प्रथमं श्रियम् । राजपुत्रीति सम्बोधनं जातिकुलोत्कर्षसूचकम्। भूपैरीप्सितेति सौन्दर्यम् । लोकपालविभूतिभिरिति माहात्म्यम् । गुणाश्च । तेषामुत्कर्षं तदपेक्षयाप्यस्या उत्कर्षं वक्तुमाह महानुभावैरित्यादिपदत्रयेण । उत्कर्षो द्विविधः, बाह्य आभ्यन्तरश्च । बाह्यो द्विविधः, अलौकिको लौकिकश्च । तद्द्वयमाह । महाननुभावो येषाम् । श्रीयुक्ताश्चेति । आन्तरमाह रूपेति । रूपं शरीरसौन्दर्यम् । औदार्यमपेक्षितो गुणः सर्वदोषनिवारकश्च । बलं क्षत्रियाणामपेक्षितम् । तैरूर्जिता अतिपुष्टाः । एवमेतेन सा स्तुता ॥१०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने इस प्रथम श्लोक में सात विशेषणों से उसका उत्कर्ष कहा है, और अपने धर्मों की विपरीतता इस तरह दिखाई जैसे आप भगवान् हैं, ऐसा देखने में न आवे, चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये, विपरीत पने से चार श्लोक निरूपण किये हैं, उनमें उन (रुक्मणि) का किया हुआ कार्य योग्य नहीं है, श्री और कीर्ति से विपरीत है, यह प्रथम श्लोक में निरूपण करते हैं, इसमें भी प्रथम श्री के विपरीत कार्य किया, यह दिखाने के लिये कहा कि आप जाति तथा कुल से उत्तम हैं, क्योंकि राजपुत्री हैं, अतः ग्वाले से सम्बन्ध अपनी जाति और कुलकी श्री के विपरीत किया है, दूसरा आप रूप से सुन्दरी होने से राजाओं के योग्य हैं, और राजा आपको चाह रहे हैं, उनसे सम्बन्ध न कर एक ग्वाले से कर लेना यह भी उचित नहीं किया है, वे चाहने वाले राजा साधारण नहीं थे किन्तु लोकपाल सदृश विभूति वाले थे, यों कहने से माहात्म्य प्रकट किया और गुण प्रकट किये, उन राजाओं की तुलना में भी आपका उत्कर्ष विशेष है, क्योंकि वे महानुभाव श्रीमन्त और रूप उदारता तथा बल, इनसे पूर्ण थे तो भी आपने उनका त्याग कर दिया, उत्कर्ष दो तरह के होते हैं १-बाह्य २-आन्तर, उनमें फिर बाह्य लौकिक, अलौकिक प्रकार से दो तरह के हैं, वे दो बताते हैं, एक महान् अनुभाव, दूसरा श्री से युक्त, आन्तर का रूप कहते हैं, रूप से शरीर की सुन्दरता, उदारता सर्व दोषों को निवारण करने वाला, गुण, और बल, जो क्षत्रियों को चाहिये ही, उन तीनों से अतिशय पुष्ट किये हुवे राजा थे इन गुणों वालों को त्याग दिया, जिससे तुम्हारा वह कार्य अभिनन्दन के योग्य नहीं है इस प्रकार एक श्लोक से कहा है ॥१०॥

आभास—अगत्या तथा कृतमिति पक्षं वारयति तान् प्राप्तानिति ।

आभासार्थ – दूसरी गति न होने से यों करना पड़ा, यों कहना ठीक नहीं है, 'तान् प्राप्तान्' श्लोक में यह सिद्ध करते हैं।

श्लोक – तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन्स्मरदुर्मदान्।
दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो ववृषेऽसमान् ॥११॥

श्लोकार्थ—कामदेव के मद से मत्त तथा प्रार्थना करने वाले चैद्य आदि राजा लोग जिनको तुम्हारे भ्राता और पिता ने देने को कहा था, उनको छोड़, हम जो तुम्हारे समान नहीं हैं, उन्हें क्यों वर लिया ? ॥११॥

सुबोधिनी—बहूनां निर्देशो विचार्य ग्रहणाय। सर्वेषामर्थित्वात् । त्वदर्थित्वमेवापेक्षितमिति भावः। **प्राप्तानिति** शरीरेण सम्बद्धान्। एवं बहिरन्तःसम्बद्धान् परित्यज्य। तत्रापि तव समानत्वमप्यन्तर्बहिश्च । कामादिना शरीरेण च सम्बद्धाः। विवाहश्च समयोरेवेत्यग्रे वक्ष्यते। न च तेषामप्रसिद्धिरित्याह **चैद्यादीनिति**। जनपदशब्दत्वादतिप्रसिद्धिः। **स्मरदुर्मदानिति**। देशकालाद्यपेक्षामपि परित्यज्य स्त्रीहितं कुर्वन्तीत्यर्थः। तद्विवाहे लोकशास्त्रविरोधाभावमाह **दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रेति**। वाग्दत्ता। मुख्यतो भ्रात्रैव दत्तेति प्रथमं तन्निर्देशः। **स्वपित्रेति**। तस्यैव सा कन्येति न स्वातन्त्र्यं स्वतो दाने। ऐहिकार्थं तु विवाहः। तदैहिकं तेष्वेव युक्त्या शास्त्रेण लोकेन च सिद्धमिति तत्परित्यज्य कस्मादेव हेतोः नोऽस्मान् ववृषे वृतवती। अविशेषादिति चेत्, तत्राह **असमानिति**। बहुवचनं सम्बन्धिकुलाभिप्रायम्, यथा राजानः त्वत्समाः, तथा नाहम्, नाप्यहं राजसमः, नाप्यस्मदीयाः। तेन लौकिकार्थे वरणपक्षे लौकिकोत्कर्षाभावात् आसक्त्यभावेन सुखाभावाच्च अलौकिकस्य प्रकृतेऽप्रभवात् कस्माद्वृषे। हेतुश्चेदस्ति, वक्तव्य इति भावः ॥११॥

व्याख्यार्थ—जहां बहुतों का निर्देश हो वहां विचार कर ग्रहण करने के लिये होता है, कारण कि सब प्रार्थी हैं, सब तेरी ही अपेक्षा करने वाले हैं, तुम्हें लेने के लिये पहुँच भी गये थे जिससे शरीर के साथ भी सम्बन्धित थे, इस प्रकार बाहर भीतर जिन्होंने सम्बन्ध जोड़ा है, उनका पूर्ण रीति से त्याग कर, उस पर भी अन्दर बाहर तेरे समान ही थे, कामादि से शरीर के साथ सम्बन्ध थे, विवाह के लिये तो समय हुवा ही था, वह आगे कहेंगे वे अप्रसिद्ध भी नहीं, इसलिये 'चैद्यादि' पद दिया है, जन[1] पद शब्द देने से विशेष प्रसिद्धि प्रकट की हैं फिर वे काम के मद से मस्त हैं, अतः देश काल आदि की परवाह न कर पहले स्त्री का ही हित करते हैं, यों भी तुम नहीं कह सकती हो, कि उनसे विवाह करने में लोक तथा शास्त्र का विरोध था, क्योंकि तुम्हारे भ्राता तथा पिता ने उससे सगाई कर दी थी, भ्राता पहले इसलिये कहा कि मुख्यरूप से भ्राता ने ही देने को कहा था, फिर पिता ने भी दी, पिता ही अपनी कन्या किसी को दे सकता है, कन्या अपने आप किसी को अर्पण नहीं कर

---

१ चैद्य पद से देश विशेष कहा जिससे प्रसिद्धी ही है।

सकती है इस लोक के सुखार्थ, विवाह किया जाता है, वह विवाह, युक्ति और शास्त्र तथा लोकानुसार उससे ही करना चाहिये, यों सिद्ध होते हुए भी उसको त्याग किस कारण से हमको वरा है, उसमें कुछ विशेषता न देखी, यदि यों कहो, तो कहते हैं, 'असमान्' हम तुम से सम्बन्ध कुल आदि मे समान नहीं हैं जैसे वह है क्योंकि तुम राजपुत्री हो, वह भी राजा होने से तेरे समान है, मैं या मेरा कुटुम्ब राजा समान नहीं है, यदि लौकिक के लिए वरण किया है, तो हम में लौकिक उत्कर्ष नहीं है, आसक्ति के अभाव में सुख का भी अभाव होता है इस समय अलौकिक का भी सम्भव नहीं, अत: क्यों वरा ? यदि कोई कारण होवे, तो कहना चाहिये, कहने का यह ही भाव है ॥११॥

आभास—नन्वीक्षैव हेतुः, सर्वोऽपि स्वेष्टमेव वृणुते, अतो वस्तुविचारो व्यर्थ इत्याशङ्क्य वस्तुनि दोषानाह राजभ्य इति ।

आभासार्थ— यदि रुक्मिणी कहे कि इच्छा ही कारण है, सब कोई श्रेष्ठ का ही वरण करता है, इसलिये वस्तु का विचार करना ही व्यर्थ है, जिसका उत्तर भगवान् 'राजभ्यो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रू: समुद्रं शरणं गतान् ।**
बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहवाली ! राजाओं से डरकर जो समुद्र के शरण गए, और जिन्होंने बलवानों से शत्रुता कर रखी है और राजगद्दी छोड़ दी है ॥१२॥

कारिका—**रूपतः फलतश्चैव सम्मत्या युक्तिभिस्तथा ।**
चतुर्भिर्दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् यहाँ स्वरूप, फल, सम्मति और युक्ति इन चारों से चार प्रकार के दूषण कहते हैं ॥१॥

सुबोधिनी— तत्र प्रथमं स्वरूपदोषमाह । **राजानो** जरासन्धादयः, तेभ्यो **बिभ्यत** इति । न हि भयानकरसेनाविष्टानां सुखजनकत्वमस्ति । किञ्च । **समुद्रं शरणं गतानिति** । नह्यन्यं शरणं गतस्य स्वातन्त्र्यमस्ति । नह्यस्वतन्त्रस्य सुखसाधकत्वम् । **सर्वान्** यादवानालक्ष्य बहुवचनम् । कपटमानुषलीलेव यादवलीलाप्याश्रितेति तैः समानधर्मवचनं लीलायां युक्तमेव । लौकिकदृष्ट्यैव स्वीकृत इति तदुपयोगिप्रकारेण पदार्थनिरूपणेनापि शास्त्रीयो दोषः । तृतीयं दूषणं **बलवद्भिः कृतद्वेषानिति** । द्वेषमात्रस्य करणमयुक्तम् । फलपर्यवसाने तु न दूषणम् । बलवत्पदात्फलपर्यवसानाभावोऽपि सूच्यते । बहुभिश्च सह कलहः न युक्तः । सर्वतः शङ्काया विद्यमानत्वान्न स्वास्थ्यं लोकप्रतीत्या निरूपयति । सर्वबलवद्विरोधे फलमपि जातं सूचयति **प्रायस्त्यक्तनृपासनानिति** । ययातिशापात्त्यक्तं नृपासनं यैः यादवैः । अर्जुनादिव्युदासार्थं प्राय इति । अतो राजकन्यया

राजैव विवाह्यो मुख्यः। अथवा राजमित्रम्, राजतुल्यो भवतीति। अथवा। स्वदेशस्थितः खण्डमण्डलाधिपतिर्वा। अथवा। निकृष्टपक्षे निर्भयः। न तु चतुर्विधदोषयुक्तः कश्चिदपि विवाह्यो भवति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—चारों में से प्रथम स्वरूप का दोष बताते हैं, जरासन्ध आदि राजाओं से डरे हुए हैं, भयानक रस से जो युक्त हैं, वे सुख देने वाले नहीं होते हैं, विशेष में डर के कारण समुद्र की शरण ली है, दूसरे के शरण जाने पर स्वतन्त्रता नहीं होती है, उसके आधीन रहना पड़ता है, आधीनों को सुख प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि पराधीनता के कारण वे कोई साधन स्वतन्त्रता से नहीं कर सकते है, बहुवचन देने का कारण सब यादवों का लक्ष्य कराना है, भगवान् जैसे कपट से मानुष लीला कर रहे हैं, वैसे ही कपट से, यादव लीला भी ग्रहण की है. इसलिये लीला में उनके समान धर्म कहना योग्य ही है। लौकिक दृष्टि से ही स्वीकृत किया हैं, यों उसके उपयोगी ढंग से पदार्थों का निरूपण करना भी शास्त्रीय दोष है, तीसरा दूषण कहते हैं बलवानों से शत्रुता की है, केवल द्वेष करना भी उचित नहीं है, फल प्राप्त होने के बाद तो दूषण नहीं हैं, 'बलवान' पद से यह भी सूचित किया है कि उसका फल, विपरीत भी हो सकता है, बहुतों के साथ कलह करना योग्य नहीं है. चारों तरफ शङ्का बनी रहती है, जिससे स्वास्थ्य नहीं रहता है, यह लोक प्रतीति से निरूपण करते हैं, सब बलवानों से विरोध करने का फल भी बताते हैं, बहुत कर राज्यासन छोड़ने पड़े है, ययाति का शाप तो था ही, यादव राज्य न करेंगे, अर्जुन आदि को पृथक् दिखाने के लिये 'प्रायः' पद दिया है, अतः राजा की कन्या को राजा से विवाह करना ही मुख्य कर्त्तव्य है, अथवा राजा का मित्र भी राजा के समान होता है, अथवा अपने देश में स्थित छोटे राजा से ही विवाह करना चाहिये, अथवा इसी तरह निकृष्ट पक्ष में भी निर्भय रहा जा सकता है, चार प्रकार के दोष वाले से तो विवाह करना ही नहीं चाहिये ॥१२॥

आभास—अविचार्य मोहात् नीतिं परित्यज्य विवाहे बाधकमाह अस्पष्टवर्त्मनामिति।

आभासार्थ—नीति का त्याग कर, बिना विचार, मोह से यदि विवाह किया जाता है तो उसमें रुकावटें आती हैं, जिनका वर्णन 'अस्पष्टवर्त्मनां' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम्।
आश्रिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहे वाली, जिनकी नीति का परिज्ञान नहीं है, जिनका मार्ग लोक से पृथक् है, ऐसे पुरुषों का जो स्त्रियां आश्रय लेती हैं वे बहुत करके दुःखी होती हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—अथ यद्यलौकिकदृष्ट्या दूषणानि परिहृत्य विवाहं कुर्यात्, तदा अलौकिकव्यवहारतया ज्ञातुमशक्य इति लौकिकपक्षाश्रयणे उभयभ्रष्टाः स्त्रियः सीदन्ति। अलौकिकानां लक्षणमाह। न स्पष्टं वर्त्म येषाम्। यस्य हि रीतिर्ज्ञायते, तदनुसारेण व्यवहर्तुं शक्यते। कदाचित्ते लोका-

नुसारेणापि व्यवहरन्तीति तेषां नियतमार्गज्ञाना-भावेऽपि तदाश्रितो लौकिकमार्गो ज्ञायत इति कथमवसाद इति चेत्। तत्राह **अलोकवयमोयुषा-**मिति। **अलोका** लोकातिरिक्ताः, लोके स्थित्वापि अलौकिकानामेव मार्गमाश्रयन्ति। तेषां लौकिक-व्यवहारोऽप्यलौकिक इत्यर्थः। अत एव अगतिका-नामव्यवस्थितगतीनां पदवीमाश्रिताः सीदन्ति। **प्राय** इति। ता अपि चेतत्प्रवणास्तादृश्य एव भवेयुः, तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रायग्रहणम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ – यदि दूषणों पर ध्यान न देकर अलौकिक दृष्टि से विवाह कर लेती है तो भी वे स्त्रियां अलौकिक व्यवहार न जानने से लौकिक प्रकार से चलेंगी, जिसमे दोनो तरफ से भ्रष्ट होकर दुःखी होती है, अलौकिकों के लक्षण कहते हैं, जिनका मार्ग स्पष्ट नही है, अर्थात् समझने में नहीं आता है, जिसकी रीति जानी जाती है उसके साथ अनुकूल व्यवहार किया जा सकता है, कभी वे लोकानुसार भी व्यवहार करते है किन्तु उनका मार्ग स्थिर नहीं है तो भी उनके ग्रहण किये हुए लौकिक मार्ग को जाना जा सकता है, तो फिर दुःख क्यों ? यदि यों कहो तो, इस पर भगवान् कहते है कि, वे लोक में रहते हुए भी अलौकिक मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् उनका लौकिक व्यवहार भी अलौकिक है अतः जिनकी गति स्थिर नहीं है, ऐसों को आश्रय करने वाली दुःखी ही होती हैं 'प्रायः' पद देने का आशय है कि दुःखी होकर भी यदि उनमें ही अपने को प्रवण कर देती है तो वे भी उनके समान हो जाती है ॥१३॥

आभास—किञ्च। यं न कोऽपि भजते, तं यो भजते, स सीदतीति वक्तुं मां न कोऽपि भजत इत्याह भगवान् **निष्किञ्चना** इति।

आभासार्थ जिसको कोई भी नहीं भजता है, उसको यदि कोई भजे तो दुःखी होता है, यह कहने के लिये 'निष्किञ्चना' श्लोक में कहते है कि मुझे कोई नहीं भजता है।

श्लोक—निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः।
तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर कटिवाली हम निर्धन होने से निर्धनजनों के प्रिय हैं, इस कारण से धनाढ्य, बड़े लोग बहुत करके हमको नहीं भजते हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—धनिन एव स्त्रीणां प्रियाः, वयं तु निष्किञ्चनाः। नाप्यस्मदीयाः सकिञ्चना इत्य ह **निष्किञ्चनजनप्रिया** इति। निष्किञ्चना एव जनाः प्रिया येषाम्, निष्किञ्चनजनानां च स्वयं प्रियाः। अतः साक्षात्परम्परयापि धनाभाव उक्तः। एत-त्प्रायिकं भविष्यतीत्याशङ्क्य सर्वजनीनं नियत-मेतदित्याह **तस्मादि**ति। **आढ्या** धनेन सम्पन्नाः प्रायेण न मां भजन्ति, धननाशस्योभयथापि सम्भवात्। यद्यप्यस्मासु स्नेहं कुर्यात्, तदा सर्व-स्वमस्मदर्थं विनियुञ्ज्यात् तदापि निर्धनो भवेत्। यदि वास्मन्माहात्म्यं बुद्ध्वा आन्तरमेव भजनं कुर्यात्, तदापि अस्माकं प्रियः स इति अस्माभि-रेव स्वप्रियत्वसिद्ध्यर्थं स निर्धनः क्रियते। अत उभयथापि लोके प्रतिष्ठाकरमाढ्यत्वं नश्यतीति न भजन्ति। तत्र तु आढ्यत्वमेव स्वरूपमिति स्वरूप-नाश एव सम्भावित इति भावः। **प्रायेणे**ति अम्बरीषादिव्युदासार्थम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—धनवाले ही स्त्रियों को प्रिय हैं, हम तो निर्धन हैं, हमारे वे होते हैं, जो भी निर्धन हैं उनको ही मैं प्रिय हूं और वे ही मुझे प्रिय लगते हैं, यों कह कर साक्षात् तथा परम्परा से भी अपने पास धन का अभाव दिखाया, यह प्रायः[1] होगा इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह सर्व मनुष्यों के लिए निश्चित् है, इस कारण से धनिक बहुत कर मुझे नहीं भजते है, मेरे भजन करने वालों के धन का दोनों तरह नाश होता है, यद्यपि मुझ मे स्नेह करें तो सर्वस्व मुझे अर्पण करना पड़ेगा, जिससे भी धन समाप्त होगा, यदि हमारा माहात्म्य सुन कर आन्तर भजन भी करेंगे तो भी वह हमारे प्रिय होंगे, तब भी उसको अपना प्यारा बनाने के लिये उसके धन का नाश कर उसे निर्धन करूंगा इस तरह दोनों प्रकार लोक में प्रतिष्ठा करने वाली साहुकारी नाश हो जाती है, जिससे वे मुझे नहीं भजते है तेरी आढ्यता[2] तो स्वरूप ही है तो तुम्हारे स्वरूप का ही नाश हो जाने की सम्भावना है, यों भाव है, 'प्रायेण' पद कहने का आशय यह है कि कोई-कोई अम्बरीष आदि जैसे आढ्य[3] भी भक्त होते हैं ॥१४॥

आभास—नीतिविरोधमाह **ययोरात्मसममिति** ।

आभासार्थ—आपने जो इस प्रकार कार्य किया है वह नीति से भी विरुद्ध है यह 'ययो' श्लोक में बताते है ।

श्लोक—**ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।**
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जिन दोनों[4] का धन, जन्म, ऐश्वर्य, रूप आदि समान हो, उन दोनों का परस्पर विवाह एवं मैत्री होनी चाहिए । एक उत्तम हो और दूसरा अधम हो, उनका विवाह और मैत्री कभी भी न होनी चाहिए ॥१५॥

सुबोधिनी—**सुमध्यमे** इति सम्बोधनं निर्धनगृहे स्थातुमशक्तिं बोधयति । कार्यकरणासामर्थ्यात् भोगाभावाच्च । अत एव समान एव विवाह्यः, नासमान इति । लौकिकं समानत्वं यैः सिध्यति, तान् धर्मानाह । **ययोः** स्त्रीपुरुषयोर्मित्रयोर्वा समानं वित्तं भवति, समानं च कुले जन्म, वयो वा, ऐश्वर्यं च समानम्, आकृतिश्च, वयस्तारुण्यं च, भव उत्पत्तिर्वा । जन्मभवयोः कालदेशकृतो भेदोऽनुसन्धेयः । सर्वथा साम्यं न युक्तमनुपपन्नं चेति **आत्म**पदम् । स्वयोग्यानुसारि साम्यमित्यर्थः । यथा चतुर्विंशतिवार्षिकः पतिः, षोडशवार्षिकी कन्येति । पञ्च धर्माः समाः । ऐश्वर्येण सहिता आकृतिः । 'कन्या वरयते रूप'मितिश्लोकेऽपि पञ्चापेक्षिता धर्मा उक्ताः । रूपमत्राकृतिः । वित्तं स्पष्टम् । श्रुतमैश्वर्यस्थानीयम् । कुलं जन्म । भवः समृद्धिः पक्वान्नस्थानीया । तदेवात्रापि ग्राह्यम् । तत्र लौकिकदृष्ट्या राजसमानं धनं नान्यस्य भवतीति

१—बहुत करके, २-धनाढ्यता ३-धनवान ४—स्त्री, पुरुष और मैत्री

साम्याभाव: सिद्ध:। जन्म। यादवानां तथा न कुलीनत्वमिति लोकप्रसिद्धि:। आकृतिरपि न गौरेति। राज्याभावादेव नैश्वर्यम्, उद्भवोऽपि तत एव निवर्तते। दैवाज्जातेऽपि विवाहे मैत्री न तिष्ठतीति प्रकृते मैत्र्या अप्युपयोगात् ग्रहणम्। उत्तमाधमयोस्तु न क्वचिदिति। क्वचिदपि नेत्यर्थः। क्वचिज्जातं वा न सुखकरं भवतीति वैलक्षण्यम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ – सुमध्यमे:- यह संबोधन बताया है कि तुम निर्धन के घर न रह सकोगी, कार्य करने की असमर्थता से तथा वहां भोगों का अभाव होने से, इस कारण से ही समान में ही विवाह करना चाहिये. न कि असमान से, जिनसे लौकिक समानता सिद्ध होती है, वे धर्म कहते है, जिन स्त्री पुरुष अथवा मित्रों का धन समान हो, अर्थात् दोनों समान धनिक हो, समान कुल में जन्म हुआ हो, आयु समान हो, ऐश्वर्य समान हो, और आकृति समान हो. वय, युवावस्था, भव, उत्पत्ति, जन्म और भव दो शब्दों का काल और देश कृत भेद समझना चाहिये, अन्त पद से यह भाव बताया है कि सर्वथा समानता न योग्य है और न उचित है, अपनी योग्यता के अनुसार ही समता कहलाती है [illegible] का वर हो तो १६ वर्ष की कन्या होनी चाहिये, पांच धर्म समान चाहिये ऐश्वर्य वाली आकृति हो क्योंकि 'कन्या वरयते रूपं' कन्या रूप को वरण करती है इस श्लोक में भी पांच धर्म कहे हैं, रूप का तात्पर्य है 'आकृति' वित्त तो स्पष्ट है, ऐश्वर्य के स्थान पर यहां शास्त्र का ज्ञान कहा है, कुल अर्थात् जन्म, भवः का अर्थ समृद्धि. यह पद पक्वान्नों के स्थान पर समझना चाहिये अर्थात् समृद्धि पद से वर के घर अच्छे-२ पकान्न बनते हों,वह ही यहां भी ग्रहण करने चाहिये,लौकिक दृष्टि से राजा के समान किसी अन्य के पास धन नहीं होता है, जिससे समानता का अभाव सिद्ध है। यादव कुलीन नहीं है यह प्रसिद्ध ही है, जिससे जन्म से भी समानता नहीं, (मेरी) आकृति भी गौर वर्ण वाली नहीं है, राज्य न होने से ऐश्वर्य भी नहीं है, उत्पत्ति भी वहां से निवृत्त हो जाती है, दैव योग से विवाह हो जावे तो भी मैत्री न रहेगी, प्रकृत[1] में मैत्री का भी उपयोग होने से ग्रहण है, उत्तम और मध्यम का तो कभी भी नहीं होना चाहिये, यदि कदाचित् हो भी जावे तो वह सुख देने वाला नहीं होगा यह विलक्षणता है ॥१५॥

आभास—तर्हि किमतः परं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह वैदर्भीति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ – इसके अनन्तर क्या करना चाहिये ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'वैदर्भी' इन दो श्लोकों से देते है।

श्लोक— वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया।
वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥१६॥

श्लोकार्थ— हे रुक्मिणी ! तुमने इस बात को न समझकर और दूर का विचार भी न कर, केवल भिक्षुओं के सराहने पर विश्वास कर, गुणों से हीन हमको भूल से वर लिया है ॥१६॥

१—चालू प्रसंग में

सुबोधिनी - एकेनाज्ञानं समर्थ्यते । 'अज्ञानात्कृतमकृतमेवे'ति हविर्विपर्यास इव पुनर्यथाकरणमित्युपाय इति प्रथममज्ञानमाह । **वैदर्भि विदर्भ**राजदुहितः । अनेन सत्कुलप्रसूतत्वमुक्तम् । **अविज्ञाय वयं वृता** इति । एतत्तस्या अज्ञानसमर्थनं कार्यान्तरविधानार्थम् न तु दोषारोपार्थम् । ननु स्तोत्रद्वारा विज्ञापनया च तया पदार्था ज्ञायन्त एव, तत्कथमज्ञानमित्याशङ्क्याह **अदीर्घसमोक्षयेति** । न दीर्घा समीक्षा यस्याः । आपातत उत्कर्षं दृष्ट्वा अलौकिकमज्ञात्वा लौकिकं सुखं भविष्यतीति वरणादर्दीर्घदर्शित्वम् । वस्तुतस्तु भगवान् सर्वसंसारनिवारकः, न तु संसारप्रद इति वस्तुतोऽप्यदीर्घदर्शित्वम् । तत्र हेतुमाह **गुणैर्हीना** इति । सगुणादेव संसारो भवति । ननु पूर्णं नारदादिभिः त्वदीयैः अनन्तगुणपूर्णत्वेन भवान् स्तुतः, तत्कथं गुणैर्हीना इति चेत्,तत्राह **भिक्षुभिः श्लाघिता** इति । भिक्षवो हि न वस्तुस्वरूपं जानन्ति, परस्य कथमिष्टमनिष्टं वा भवतीति स्वकार्यमात्रं पश्यन्ति । अन्यथा न याचेरन् । तदुक्तं पूर्वम् । 'नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् । यदि वेद न याचेते'ति सामान्यतो याचकदूषणम् । अतः स्वयं गुणातीता इति केवलमोक्षार्थिनः संसारापेक्षिणोपि स्थाने स्तुवन्तीति भिक्षुभिः श्लाघिता इति दूषणम् । तत्रापि मुधा । तेषां स्वाचरणादेव पुरुषार्थोऽपि सिध्यतीति मोक्षेऽपि न मद्दानापेक्षा, परमभक्तानां तु सुतरामेव न मदपेक्षा । अतो मुधैव स्वरसात्ते स्तुवन्ति । ये पुनः संसारापेक्षिणः, तैर्न तद्ग्राह्यम् । अतः स्वतः परतश्च अभिप्रायापरिज्ञानात् भ्रमस्तवोत्पन्न इति अज्ञानादेव वरणमित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—एक श्लोक से तुम्हारा किया हुआ यह कार्य भूल वाला है अर्थात् अज्ञान से किया गया है, यदि अज्ञान से भी हो गया तो अब क्या होगा ? हुआ सो तो हुआ, जिसके लिये कहते हैं, कि यों नही है, इस भूल को मिटाने का भी उपाय है, नीति शास्त्र कहता है कि 'अज्ञानात्कृतमकृतमेव' जो कार्य अज्ञान से किया है, वह नहीं किये हुए के समान है, इसलिये हवि के उलटने की तरह उस कार्य को भी बदला जा सकता है, अब यह ही उपाय है, यों प्रथम अज्ञान बताया, वैदर्भी नाम देने से बताया है कि तू विदर्भ के राजा की बेटी होने से सत्कुलवती है, हमारे कुल आदि का ज्ञान न होने से हमको वरा है, यह उसके अज्ञान का समर्थन, दूसरे कार्य के विधान के लिये किया गया है, न कि दोषारोपण करने के लिये, आप यों कैसे कहते है ? जब स्तोत्र द्वारा और प्रार्थना से जाना जाता है कि वह पदार्थों को जानती है तब आप अज्ञान कैसे कहते हैं ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि अदीर्घसंमीक्षया' इस कार्य करने का अन्तिम परिणाम क्या होगा यह विचार नही किया, ऊपर ऊपर से उत्कर्ष देख अलौकिक न जानकर लौकिक सुख होगा, इतना ही विचार वरण किया, यह ही तुम्हारी अदूरदर्शिता है, वास्तविक विचार किया जाय तो भी भगवान् संसार को मिटाने वाले हैं, न कि ससार देने वाले हैं, इसलिये भी तुमने सचमुच दीर्घ दृष्टि से कार्य नहीं किया, जिसमें हेतु बताते हैं कि हम गुणों से हीन है, गुणों वाले से ही संसार सुख प्राप्त होता है, यदि कहो कि नारद आदि भक्तों ने प्रथम ही आप अनन्त गुण वाले हैं यों स्तुति की है, फिर आप कैसे कहते हैं कि हम गुण हीन है, इस पर कहते है कि हमारे गुणगान भिखारियों ने किये है, भिक्षुक वस्तु के स्वरूप को नहीं जानते हैं, सामने वाले का लाभ वा हानि किस में है, इस पर ध्यान न देकर केवल अपना स्वार्थ जिससे सिद्ध होवे वह कार्य करते हैं, यदि यों न होवे तो स्तुति के अनन्तर याचना न करें, यह आगे कहा ही है

कि 'नूनं स्वार्थ[1] परो लोको न वेद पर सङ्कटम् यदि वेद न याचेत' इस प्रकार सामान्य रूप से याचक के दूषण कहे है, अतः आप तो गुणातीत हैं केवल मोक्षार्थी हैं, जो संसार चाहते हैं वे भी अवसर पर स्तुति करते है, इसलिये भिखारियों से हम स्तुत हैं यह तो एक प्रकार दूषण ही है, वहां भी सीमा रहित झूठी बड़ाई करते हैं, उन भक्तों का तो अपने आचरण से ही पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाता है मोक्ष प्राप्ति में भी मेरे देने की अपेक्षा नहीं है इसमें भी जो परम भगवदीय हैं उनको तो बिल्कुल ही मेरी वांछना (गरज) नहीं है अतः व्यर्थ ही स्तुति करते है, किन्तु स्तुति करने से उनको आनन्द आता है केवल इसलिये इतनी बड़ी २ प्रशंसा करते हैं, जो फिर संसार सुख चाहने वाले हैं वे तो इसको ग्रहण करना नहीं चाहते हैं अतः स्वतः व परतः अभिप्राय न जानने पर तुझे भ्रम उत्पन्न हो गया, इस कारण से तू ने अज्ञान से मुझे वर लिया है ॥१६॥

आभास—तर्ह्यतःपरं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह ।

आभासार्थ—यों है तो, इसके बाद क्या करना चाहिये वह बता दो यह इस 'अथात्मनो' श्लोक में पूछती है ।

श्लोक—अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् ।
येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥१७॥

श्लोकार्थ—अब भी अपने योग्य उत्तम क्षत्रिय को तूँ वर ले, जिससे इस लोक व परलोक की कामनाएँ तूँ पूर्ण कर सकेगी ॥१७॥

सुबोधिनी—अथेति भिन्नप्रक्रमेण । पितृगृहे गत्वा पूर्ववत् कृत्वा आत्मनोऽनुरूपं संसारैकप्रवणम् । स्त्रियः संसारैकस्वभावा इति स्त्रीणां न मुक्तिरिति मर्यादा । स्त्री च भर्तृसायुज्यं प्राप्नोति । अतः समाने भर्तरि सर्वमेतदुपपद्यते, न विपन्न इति, अन्यथा स्त्रीनाशो भर्तृनाशो वा स्यात् । स को वा वरणीय इत्याकाङ्क्षायां बहिर्मुखं निर्दिशति क्षत्रियर्षभमिति । ते हि बहिर्मुखा एव । अन्यथा निर्दयाः परघातं न कुर्युः । क्षत्रियश्रेष्ठत्वात् न कोऽपि वाच्यतां मन्यते । तेषां जये अन्यसम्बन्धिन्योऽप्याह्रियन्त इति न दूषणमपि । आकाङ्क्षा तु तेषां वर्तत इत्युक्तमेव । ततः किं स्यादित्याशङ्क्याह येनेति । सत्या आशिषः, प्रवाहनित्या विषयाः, तैरेव सिध्यन्ति, न त्वन्यैः । ऐहिकामुष्मिकफलरागरहितस्तु भक्त्परायण इति न मत्सेवया सर्वजन्मस्वैहिकामुष्मिकफलसिद्धिः । अतः संसार्येकस्वभावक्षत्रियर्षभवरणेनैव फलप्राप्तिरिति युक्तम् । त्वमिति मायारूपत्वमुक्तम् । कापट्यं तत्रैव सफलं भवति न तु ब्रह्मणीत्यर्थः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—अथ शब्द कह कर यह बताया है, कि अब भिन्न क्रम (सिल सिला) प्रारंभ होता है, पिता के घर जाकर पहले की तरह रह कर अपने अनुरूप संसार में आसक्त किसी क्षत्रिय श्रेष्ठ

१-निश्चय लोक स्वार्थी होते हैं दूसरे के सङ्कट को नहीं देखते हैं,यदि देखते तो याचना न करते ।

को वरले, स्त्रियों का स्वभाव संसार ही चाहता है, इस लिये उनको मुक्ति नहीं होती है, यह मर्यादा है, स्त्री भर्ता से सायुज्य पाती है, अतः यह सर्व तब होता है, जब भर्ता समान होवे, विषम हो तो नहीं होता है, अन्य प्रकार होने पर, स्त्री वा पति का नाश होवे, तब मैं किसको वरु ? यदि यह आकांक्षा है, तो बहिर्मुख को वरने के लिये कहते हैं कि 'क्षत्रियर्षभम्' क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ हो, क्योंकि वे बहिर्मुख ही होते है यदि बहिर्मुख न होवे तो निर्दयी तथा दूसरों का घात करने वाले न होवें, यदि श्रेष्ठ क्षत्रिय को वरोगी तो कोई भी निन्दा न करेगा, उनके जय में दूसरी सम्बन्धिनियां भी ले जा सकती है, इसमें कोई दूषण नहीं है, उनको भी आकाङ्क्षा तो है ही यह कहा गया ही है, उससे क्या होगा। जिससे आपकी कामनाएँ पूर्ण होगी, प्रवाहवत् नित्य विषय उनसे ही सिद्ध होगे, न कि अन्यों से, इस लोक और परलोक की कामना रहित हो, वह मेरे परायण हो अर्थात् मुझे वरे कारण कि मेरी सेवा से सब जन्मों में इस लोक तथा परलोक की कामनाएँ सिद्ध नहीं होती हैं, अतः जिसका स्वभाव संसारी हो, ऐसे क्षत्रिय श्रेष्ठ का वरण करने से ही तुझे फल की प्राप्ति होगी ये ही योग्य है 'त्व' शब्द से बताया कि तेरा माया रूप है, कापट्य माया रूप से ही सफल होता है, न कि ब्रह्म में ।१७।

आभास—नन्वेवं कर्तव्ये, सर्वज्ञेन त्वया किमित्यहमाहृतेति चेत्, तत्राह चैद्येति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यदि मैं इस प्रकार करूं, तो आप सर्वज्ञ मुझे इस प्रकार हरण कर क्यों लाये ? जो यों कहती हो तो इसका उत्तर 'चैद्यशाल्व' दो श्लोकों से कहते है।

श्लोक—चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः ।
मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥१८॥
तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।
आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहृतयेऽसताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे वामोरु ! शिशुपाल, शाल, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि राजा और तेरा भाई रुक्मी भी मुझ से वैर करते हैं ॥१८॥

हे भद्रे ! उन पराक्रम के मद से अन्धे और अभिमानी राजाओं का मद दूर करने के लिए तथा तेज हरण करने के लिए ही तुझे ले आया हूं ॥१९॥

सुबोधिनी—तान् तेषां दोषं च निरूपयति । आद्यन्तौ शापवशात् द्वेषिणौ । मध्यमौ देवतान्तरोपासकौ बहिर्मुखाविति चत्वार उक्ताः । तेन शापात् वा स्वभावाद्वा ये अन्यपराः, ते द्विषन्तीति । येऽप्यन्ये तानप्येतादृशधर्मवतः आदिशब्देन परिगृह्णाति । **नृपा** इति तेषां सर्वथा अमारणे हेतुः । मम सम्बन्धिनोऽपि मां द्विषन्ति । किञ्च । त्वत्सम्बन्धिनोऽपीत्याह **रुक्मी चापीति** । तव

मुख्यः सम्बन्धी ज्येष्ठभ्राता। चकारात्तत्सम्बन्धिनः। सम्बन्धविशेषस्योक्तत्वात् ते तवापरिहार्या इत्यपि सूचितम्। अतस्तेऽस्मदीयास्त्वदीयाश्चेति तेषां गर्वलक्षणसन्निपातनिवृत्त्यर्थं त्वमानीतेत्याह। वामोर्विति सम्बोधनाददुष्टत्वं च द्योतितम्। निवार्यं दोषमनुवदति तेषां वीर्यमदान्धानामिति। वीर्यमदेन अन्धानाम्। यथा अन्धः निकटे स्थितमपि गर्तं न जानाति, अपि तु पतत्येव, तथा ते वैष्णवानलेषु पतन्तः मया निवारिता इति भावः। किञ्च। हृताः हृदयशून्या अपि। न वा प्रमाणम्, न वा विचारस्तेषामित्यर्थः। ताभ्यां जातो यः स्मयः तस्य नुत्तये आनीतेति समानयने हेत्वन्तरमिति. दोषाभावश्च पूर्वं प्रतिपादित इतीतरभजनं समर्थितं भवति। ननु तेषां गर्वाभावस्तत्पराजयेनैव सिद्धो भवतीति किं मदाहरणेनेत्याशङ्क्याह तेजोऽपहृतय इति। तेषां तेजोऽप्युपहर्तव्यम्। उपहृतये नाशाय वा। जयपराजयात्रव्यवस्थिताविति शास्त्रेण कदाचिज्जातेऽपि पराजये न यावज्जीवं ग्लानिं मन्यन्ते। सत्प्रतिभाः सन्तः पुनरायान्ति च। एवं कृते तु गततेजसो भवन्तीति न तेषां पुनरुद्गमः। तेजोहरणं दोषाय भविष्यतीत्याशङ्क्याह असतामिति। असतां तेजोनाशः युक्त एव ॥१८-१९॥

व्याख्यार्थ—उनके दोषों को कहते हैं, शिशुपाल और दन्तवक्र ये दो तो शाप के कारण शत्रु बने हैं, शाल्व तथा जरासन्ध अन्य देव के उपासक होने से बहिर्मुख है, इसलिये विरोधी है, सारांश यह है कि शाप से वा स्वभाव से जो दूसरे के परायण हैं वे मुझ से द्वेष करते हैं, इन ४ के सिवाय जो दूसरे है, वे भी इस प्रकार के धर्म वाले ही है अतः वे भी शत्रुता करते है, यदि वे शत्रु ही है तो उनको मारा क्यों नहीं ? जिसके उत्तर मे कहा है कि 'नृपा' राजा हैं, राजाओं को मारा नहीं जाता है, मेरे तेरे सम्बन्धी भी मुझ से वैर करते हैं. जिनमें तेरा भ्राता रुक्मी मुख्य है, 'च' से यह बताया है कि उसके सम्बन्धी भी शत्रु बने हुवे हैं, उनको तू समझा नहीं सकती है अतः तेरे और मेरे सम्बन्धियों को अभिमान रूप सन्निपात रोग हुवा था उसको मिटाने के लिये तुझे लाये हैं. 'वामोरु' सम्बोधन से रुक्मिणी को दोष रहित कहा है, उनके जो दोष मिटाये वे वर्णन करते हैं. वीर्य के मद से वे अन्धे हो गये थे, जिस प्रकार अन्धा समीपस्थित खड्डे को न देख उसमें गिरता है वैसे ये अन्धे भी वैष्णवानल रूप गर्त में गिरते थे. जिनको उसमें गिरने से हमने बचाया है, यह भाव है, ये ऐसे हृदय शून्य हैं. जो इनको न कोई प्रमाण है और न कोई विचार है इन कारणों से जो इनको अहङ्कार हुवा था इसको मिटाने के लिये तुझे लाया हूँ. यह दूसरा कारण है. दोषाभाव तो प्रथम प्रतिपादन किया ही है, जिससे अन्य के भजन का समर्थन हुवा है, यदि तू कहे कि उनको पराजय से ही उनका गर्व नष्ट हो गया, फिर मुझे लाने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तेजोऽपहृतये' उनके तेज को भी नाश करने के लिये तुझे लाया गया है, जय और पराजय निश्चित नहीं रहती है, इसलिये यदि कदाचित् कभी पराजय हो भी जाय, तो भी उससे जीने तक हृदय की ग्लानि नहीं मिटनी है, यदि उनमें फिर शौर्य आजाय तो पुनः लड़ने आ जाते हैं इस प्रकार[1] करने से उनका तेज निकल जाता है, जिससे वे फिर उठ नहीं सकते हैं अर्थात् उनमे फिर लड़ने का बल आता ही नहीं है, किन्तु तेज का हरण तो दोष उत्पन्न करनेवाला होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'असताम्' वे दुष्ट हैं. दुष्टों का तेज हरण करना योग्य ही है ॥१८-१९॥

१—उनकी स्त्री को ले आने से।

आभास—एवं रुक्मिण्या उपयोगमुक्त्वा स्वार्थं सा स्थापनोयेति पक्षं वारयति **उदासीना** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी के लाने का कारण बताया, यदि कहो कि अपने अर्थ के लिये रखलो, तो इस पक्ष का समाधान 'उदासीना' श्लोक से करते है ।

श्लोक—उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हम तो निश्चयपूर्वक उदासीन है, अतः स्त्री, पुत्र और धन नहीं चाहते हैं, कारण कि आत्मानन्द से पूर्ण हैं, इसलिए घर तथा देह की परवाह नहीं है, ज्योति की तरह क्रिया रहित हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—नूनमिति नात्र सन्देहः युक्त्या कर्तव्यः । ईषणात्रयं पर्यवसितं स्त्रीपुत्रधनरूपम् । तदपेक्षायामन्तस्तन्निवार्यरोगे तदपेक्षा भवति । पूर्णानन्दस्य स्वस्मिन् दोषाभावात् औदासीन्यमेव । द्वेषाभावात् नापि त्याज्यम् । अतः स्वस्योपचयापचयाभावात् न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः । अत्र भगवत्सम्बन्धः नोभयेच्छाकृतः, किन्त्वन्यतरेच्छाकृत एव । कार्यमुभयेच्छाधीनमिति तदनुरोधे भगवतः सकाशात्तत्कार्यमुत्पद्यते । अननुरोधे तु नेति नावश्यकत्व कार्यस्य । अनुरोधस्तु न नित्यः भिक्षुकेष्विव । अतोऽन्यत्र नित्यापेक्षिणो गमनमुचितम् । 'धर्मार्थकाममोक्षार्थं य इच्छेदि'त्यादिवाक्यमपि पृथगेव दानं बोधयति, न तु क्रियायां भगवत्सम्बन्धम्, अन्यथा भगवांस्तद्दाता न भवेदेव, स्वस्य निर्बन्धसम्भवात् । अकामुकत्वे हेतुमाह **आत्मलब्ध्येति** । यद्यपि भगवति नायं हेतुः, आत्मत्वात् अज्ञानादिव्यवधानाभावाच्च । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतिरपि न फलस्य फलसम्बन्धं बोधयति । तथापि लौकिकोक्त्या सम्मतिप्रदर्शनार्थं तथोच्यते । यथा लब्धात्मानः न स्त्र्यादिकामुकाः, एव वयमिति । वाच्य त्वेतावत्पूर्णा आस्महे इति । सर्वदैव वयं पूर्णाःस्तिष्ठाम इत्यर्थः । नित्यप्राप्त एवात्मा हेतुत्वेनानूद्यत इति । ननु तथापि क्रीडार्थं समागतस्य क्रीडानिर्वाहार्थं कामना भवत्येवेति चेत् तत्राह **गेहयोर्ज्योतिरक्रिया** इति । आविर्भूतमनाविर्भूतं वा तेजः स्वयं कार्ये न व्यापृतं भवति किन्त्वाविर्भूतं केनचिन्निमित्तेन स्वसम्बन्धिन प्रकाशयति । सम्बन्धिन एव च दोष नाशयति, न तु स्वस्य काचिदपेक्षा । आविर्भूतमिति गेहयोर्देहगेहयोः । उभयमपि तुल्यमिति स्थापयितुं समानशब्देन निर्देशः । ज्योतिरिव क्रियारहिताः ज्योतिरक्रियाः । अनेन तेजोवद्भगवदाविर्भाव इत्युक्तम् । अतः क्रिया विकारात्मिका नास्तीति नास्माकं काप्यपेक्षा । फलं च न नियतमिति फलापेक्षायामन्यानुसरणं कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—मैंने जो कहा है, उसमें किसी प्रकार संशय नहीं करना चाहिये युक्ति से कार्य करना चाहिये लोक मे तीन ईषणाएं हैं, १-स्त्री, २-पुत्र, ३-धन उनकी अपेक्षा तब होती है जब अन्तःकरण का रोग नष्ट न हुवा हो, उस रोग के नाश हो जाने पर उनकी अपेक्षा नहीं रहती है, जो पूर्णानन्द है, उसमें दोषों के अभाव से उदासीनता रहती है, उनसे द्वेष भी नहीं है, जिससे उनका

त्याग करना भी उचित नहीं है, अतः भगवान् में उपचय और अपचय न होने से हम स्त्री अपत्य तथा धन की कामना वाले नहीं है, जिससे हममे उदासीनता ही है यहां जो भगवत्सम्बन्ध हुआ है वह दोनों की इच्छा से नहीं हुआ है, किन्तु एक की इच्छा से ही हुआ है। कार्य दोनों के इच्छाधीन होता है, यों उसके अनुरोध होने पर भगवान् की तरफ से वह कार्य हुआ है, यदि अनुरोध न होवे तो न होवे, इसलिये जो कार्य हुआ है वह आवश्यक नही है. भिक्षुकों की तरह अनुरोध तो नित्य नहीं होता है, अतः जहां नित्य अपेक्षा वाले हो वहां जाकर कार्य करना उचित है 'धर्मार्थकाम मोक्षार्थ य इच्छेत्' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये जो इच्छा करे, यह वाक्य भी दान पृथक ही बताता है, उस क्रिया में भगवत्सम्बन्ध नहीं होता है, नहीं तो भगवान् उनके दाता बने ही नहीं। अपने आग्रह के सम्भव होने से अपनी अकामुकता में हेतु कहते हैं कि 'आत्मलब्ध्य' आत्मानन्द की प्राप्ति से, यद्यपि भगवान् की अकामुकता में यह हेतु उचित नहीं है कारण कि आप स्वयं आत्मरूप हैं तथा आप में अज्ञान आदि व्यवधान है ही नहीं, 'आत्मलाभान्नपरं विद्यते' यह श्रुति कहती है कि आत्मलाभ से विशेष कोई फल नहीं है, अतः फलरूप आत्मा को फल का सम्बन्ध नहीं होता है श्रुति भी यह ही भाव बताता है तो भी जो अकामुकपन में यह आत्म लब्धि हेतु कहा है वह केवल लौकिक उक्ति में सम्मति दिखाने के लिये ही कहा है जैसे लोक में जिनको आत्मलाभ हुवा है उनको स्त्री आदि की कामना नहीं रहती है इस प्रकार हमें भी, कहना तो इतना ही है कि हम नित्य पूर्ण हैं, अर्थात् हम को तो आत्मा नित्य ही प्राप्त है जिससे नित्य ही पूर्ण हैं. यदि तुम कहो, कि सत्य है कि आप नित्य पूर्ण है तो भी आप क्रीड़ा के लिये पधारे हैं, तो क्रीड़ा के निर्वाह के लिये कामना करनी पड़ती ही है, तो इसके लिये मेरा उत्तर यह है कि गेहयोर्ज्योतिरक्रिया' तेज प्रकट हो अथवा अप्रकट हो तो भी स्वयं कार्य में व्यापार वाला नहीं होता है, किन्तु प्रकट होकर किसी निमित्त द्वारा अपने सम्बन्धी को प्रकाशित कर देता है सम्बन्धी के दोष को नाश करता है. अपने को किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं। आविर्भाव देह वा गेह में हो, दोनों समान हैं यह जताने के लिये सदृश शब्द से निर्देश किया है. जैसे ज्योति क्रिया रहती है वैसे वे भी इससे यह बताया, कि भगवान् का प्राकट्य तेज की भांति है अतः हमारी क्रिया विकाररूप नहीं है, इसलिये हमको कुछ भी अपेक्षा नहीं है, और फल निश्चित नहीं है इसलिये फल की अपेक्षा में दूसरों का अनुसरण करना चाहिये न कि हम उदासीनों का अनुकरण करना चाहिये ।२०॥

आभास—निःसम्बन्धं निरूप्य भगवान् निवृत्त इत्याह एतावदुक्त्वेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने अपना सम्बन्ध राहित्य बताकर मौन करली, यह एतावदुक्त्वा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि रुक्मिणी समझती थी कि भगवान् मुझ से कभी भी पृथक् नहीं होते हैं, अतः अपने को ही सबसे अधिक भगवान् की प्यारी

मानती थी, इस कारण से उसका गर्व भङ्ग करने के लिए ही भगवान् ने यह वचन कहकर मौन धारण करली ॥२१॥

सुबोधिनी—इदमेव वाचा तिरोधानम् निमित्तमाह आत्मानं वल्लभामिवेति तत्रापि हेतुः अविश्लेषात् । यथा चैद्यादीनां दर्पहननार्थ एषा समानीता, एवमेतस्या अपि दर्पनिराकरणार्थं सम्बन्धनिराकरणं दर्पहेतुना सह सम्बन्धे विद्यमाने रमयाभावो न भवतीति अनेनैव ज्ञात्वा कृतवानिति ज्ञापयति । वल्लभा भगवतोऽत्यन्तं प्रिया । प्रीतिविषयत्वादपेक्षिता इवेति । बहुस्त्रीकत्वात्कार्यस्यान्यथापि सिद्धेः । एकभार्यस्य यथा सा वल्लभा भवति, तथा सा मन्यते, अन्यथा अविश्लेषो हेतुर्न स्यात् अथवा । अज्ञानेन भगवन्तं भजतीति प्रबोधार्थं भगवानेवं वदतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह आत्मानं वल्लभामिवेति । भगवन्तं स्त्रियमिव मन्यते, यथा स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं कञ्चनवेदे'ति सुषुप्त्युपाख्याने 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इति निरूपितम् । 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने' त्यत्र विवृतम् तस्य यथा प्रबोधः कार्यते, एवमस्या अपीति । अर्धवल्लभां वा आत्मानं मन्यत इति वेति उपारमत् वाक्यात् कायिकमानसव्यापाराच्च ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् का तिरोधान वाणी रूप से है,यों तिरोधान होने का कारण 'आत्मानं वल्लभामिव' रुक्मिणी अपने को सब से विशेष भगवान् की प्यारी समझने लग गई थी, क्योंकि भगवान् मुझ से कभी पृथक् नहीं होते हैं. जिससे इसको गर्व हो गया था, अतः जैसे चैद्य आदि के दर्प का नाश करने के लिये इसको ले आये वैसे ही अभिमान को तोड़ने के लिये सम्बन्ध विच्छेद ही योग्य समझा, सम्बन्ध रहेगा तो अहङ्कार उतरेगा नहीं यों विचार कर ही, यह लीला की है 'वल्लभा' पदका भावार्थ है कि अत्यन्त प्यारी, जो वस्तु अतिशय प्रिय होती है, उसकी अपेक्षा रहती है क्योंकि वह वस्तु प्रीति का विषय होता है, भगवान् को बहुत स्त्रियां हैं, उन स्त्रियों से भी कार्य पूर्ण कर सकते हैं, वह यों मानती है, कि मै ही एक भार्या हूँ जिससे मैं ही प्रिया हूँ; यदि प्रिया न होती, तो सदैव मेरे पास कैसे रहते है? अथवा भगवान् को जानकर भी नहीं भजती है इसका ज्ञान कराने के लिये भगवान् यों कहते हैं, 'आत्मानं वल्लभामिव' भगवान् को स्त्री की तरह मानती है, जैसे स्त्री से युक्त होकर बैठा हुआ पुरुष बाहर का ज्ञान नहीं रखता है, इस प्रकार सुषुप्ति उपाख्यान में शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' कहा है, जिसका सारांश यह है कि जीवात्मा प्राज्ञआत्मा के साथ मिल कर रहा है, यों निरूपण है, सुषुप्ति और उत्क्रान्ति भेद से यहां इस प्रकार वर्णन है उसका ज्यों प्रबोध कराया जा सकता है, इस प्रकार इसका भी अथवा अपने को अर्ध वल्लभ यानि अपने को अर्द्धाङ्गिनी मानती है इसी तरह भगवान् ने कायिक और मानस व्यापार से शान्ति ले ली ॥२१॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह इतीति त्रिभिः ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'इति' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥२२॥

श्लोकार्थ—त्रिलोक पतियों के ईश, अपने प्यारे पति के कभी भी नहीं सुने हुए ऐसे अप्रिय वचन सुन, रुक्मिणीजी हृदय में भयभीत हो काम्पने लगी और रोती हुई अपार चिन्ता में पड़ गई ॥२२॥

श्लोक—पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥२३॥

श्लोकार्थ—नख की अरुण कान्ति से शोभायमान कमोल चरण से पृथ्वी को कुचरती हुई, अञ्जन युक्त होने से, श्याम बने आँसूओं से, केसर से रंगे हुए स्तनों को सींचती हुई और अति दुःख से जिसकी वाणी रुक गई है, ऐसी वह नीचे मुख कर बैठ गई ॥२३॥

श्लोक—तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेर्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन् रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ।२४।

श्लोकार्थ—अप्रिय वचन सुनने से अत्यन्त दुःख एवं त्याग के भय से तथा पश्चाताप से जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसी उस रुक्मिणी के हाथ में से पखा गिर गया और कंकण भी गिरने लगे, परवश बुद्धि वाली रुक्मिणी का शरीर भी मूर्छा खाकर, वायु से गिरी कदली के समान तुरन्त भूमि पर गिर गया ॥२४॥

सुबोधिनी—सम्यक् ज्ञानवत्याः किञ्चिज्ज्ञानवत्याः मूर्छितायाश्च अवस्थाः क्रमेणोच्यन्ते । यतस्त्रिगुणा हि सा । अतः सत्त्वादितमोन्ता अवस्था वर्णिताः। प्रत्येकं गुणानां त्रैविध्यमिति त्रितयं त्रितयं निरूप्यते । तत्र प्रथमं सत्त्वे कार्यत्रयमाह । इति पूर्वोक्तप्रकारेण निःसम्बन्धप्रतिपादकं वाक्यमाश्रुत्य प्रथमं भीता जाता, त्यक्ष्यतीति । ततो हृदये वेपथुः कम्पोऽपि जातः । दुरन्ता चिन्तापि । चिन्ता सात्त्विकी. भयं तामसम् । त्रिलोक्याः ईशः, पतिश्च स्वस्यापि. लौकिकवैदिकोत्कृष्टसम्बन्धौ निरूपितौ । तदेति । तस्यामवस्थायाम् । तदिति वा प्रसिद्धं सर्वजनीनम् । अतः सत्यमपि कुर्यात् । केवलं लोकतो वेदतश्चैव सम्बन्ध इति न, किन्तु स्वस्यापि रोचत इत्याह प्रियस्येति । ननु परिहासवचनमेतद्भविष्यतीति कथं भयमिति चेत्, तत्राह देवीति । देवतारूपा सा सत्यमेव भगवान् वदतीति ज्ञातवती । तद्ध्यभिप्रायं ज्ञात्वा दर्पं परित्यज्य कथं न प्रपन्नेत्याशङ्क्याह अश्रुतपूर्वमिति । दर्पः सर्वदैव जायते, वाक्यं तु न कदाचिदप्येवं श्रुतम् । तदप्यासमन्तात् श्रुत्वा अभिप्रायतोऽर्थतश्च । अतः प्रथमतो भयं मनसि जातम् । हृदयस्थाने कम्पोऽपि जातः. इदं कायिकमिव बुद्धेः । अहङ्कारस्तु निवर्तनीय एव । चिन्ता चेतसः । रुदतीति रोदनमिन्द्रियाणाम्, अहङ्कारः तद्रूपेण निर्गत इति ज्ञापनार्थः । हेत्याश्चर्यम् । कथं वाक्यमात्रेणैतामवस्थां प्रपन्नवतीति । आन्तरमेतन्निरूपितम् । बाह्यं निरूपयति पदा सुजातेनेति । सुजातेनातिकोमलेन लक्षणयुक्तेन वा । तेन लक्ष-

णानामुत्पादकस्य वा दोषमापादयन्ती तथा कृतवती। अथवा। उत्कृष्टत्वाच्चरणस्य नैवमनिष्टं भविष्यतीति ज्ञापनार्थं तयोच्यते। नखारुणश्रियेति। नखेषु नखैः कृत्वा वा अरुणा श्रीर्यस्येति। अनेन नखानां मणिरूपत्वमुक्तम्। अयं सात्त्विक उत्कर्षः। सहजागन्तुकोत्कर्षयुक्तेन पदा भुवं लिखन्ती। चिन्ताकुलितायास्तथैव व्यापार इति भूमिं लिखन्तीति। भूम्यां किञ्चिल्लेखनं निषिद्धम्. भूमिं भित्त्वान्तःप्रवेक्ष्यामीति भावेन तथा लेखनम्। इयं हि लौकिकी भाषा, लौकिकभावनिराकरणार्थमेव भगवता तथोक्तमिति यः कश्चन भावः परमोत्कर्षं प्राप्तः फलपर्यवसायी भवतीति ज्ञापनार्थं तथोच्यते। अतस्तस्याः कायिकव्यापारो निरूपितः। मानसमाह। अश्रुभि. कुङ्कुमरूषितौ स्तनावासिञ्चती। मनस्यतिशोकान्निरन्तरोत्पन्नान्यश्रूणि अञ्जनमपि भित्त्वा निर्गच्छन्तीति तस्या अतिरिक्तः सर्वोऽपि वर्णस्तैरपनीत इति सूच्यते। कुङ्कुमं कज्जलं च उभयमपहृतमिति। अधोमुखीति च मानसमेव। अतिदुःखेन रुद्धा वागिति वाचो निवृत्तिः। उभयोरल्पो व्यापारः। वाक् तु निवृत्तैवेति। बाह्याभ्यन्तरामवस्थामुक्त्वा देहस्य पातमाह तस्या इति। आद्येन मानसपातश्च। तस्या देहः पपात। देहधारिका बुद्धि. प्रयत्नद्वारा। सा तु त्रिभिर्नष्टेति सुदुःखभयशोका निरूपिताः। सुदुःखं पुरुषोत्तमलक्षणविषयाभावात् आनन्दरूपस्य भगवतस्तिरोभावाद्वा। भयं भगवानन्येभ्यो दास्यतीति। शोकः स्वस्य सर्वनाशात्। त्रिदोषेण बुद्धिनाशः। स स्वकीयं प्रयत्नाभावमपि करोतीत्याह हस्तात् श्लथद्वलयतो व्यजनं पपातेति। कृशत्वात् श्लथद्वलयत्वम्। आदौ धर्मनाशः, पश्चाद्धर्मिण इति। क्रमेण ह्रास इति नालौकिकप्रकारेण तस्याः पातः। व्यजनं वीज्यमानं धारकप्रयत्ननाशात् पपात। अनेन स्थूलः प्रयत्नो नष्ट इत्युक्तम्। सूक्ष्मोऽपि नष्टः येन प्राणो धार्यत इत्याह देहश्चेति। देहश्च पपात। चकारात्तत्सम्बन्धोन्याभरणादन्यपि। इतोऽपि सूक्ष्मः कारणप्राणधारकोऽवशिष्यते। तस्मिन्निवृत्ते सर्वनाशो भविष्यतीति भगवत एतावद्दूरं परीक्षा। लौकिक्याः पुनर्जीवनमलौकिकं न युक्तमिति ततः पूर्वमेव प्रतीकारं करिष्यतीति। सूक्ष्मा धारिका बुद्धिः स्वप्नेऽपि तिष्ठतीति कथं देहपात इति चेत्, तत्राह विक्लवधिय इति। सूक्ष्मापि बुद्धिर्वैक्लव्यं प्राप्तवती। विचारेण तदपनोदाभावमाह सहसैव मुह्यतीति। 'मुग्धेऽर्धसम्पत्ति'रिति न्यायेन अर्धं मृता। केवलमासन्यस्तिष्ठतीति। अत एव पतिता, न मृता। पतनादपि भयं भवतीति भयेन प्रयत्नाभिव्यक्तिमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह रम्भेव वातविहतेति। वाय्वाघातेन यथा कदली भग्ना पतति, सर्वथा प्रयत्नरहिता स्वतोऽपि कोमला। प्रविकीर्य केशानिति रम्भातुल्यत्वं निरूपितम्। अथवा। मूर्च्छासमये शिरोभ्रमणं जातमिति केशग्रन्थिविस्रंसनात् केशविकीर्णता जाता। केशा वेण्याकारेण न बद्धाः॥२२-२३-२४॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी तीन गुणोंवाली है उसकी सम्यक् ज्ञान वाली, कुछ ज्ञानवाली और मूर्च्छित इन तीन अवस्थाओं का क्रम से वर्णन किया जाता है, अतः सत्व से लेकर तमोगुण पर्यन्त अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, हर एक गुण तीन प्रकार का है, इसलिये उनकी तीन प्रकार की अवस्थाओं का वर्णन किया है उनमें पहले सत्व के तीन कार्य कहते हैं यों पूर्व कहे हुए प्रकार से निःसम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सुनकर प्रथम डर गई, क्योंकि समझ गई कि मेरा त्याग करेंगे, अनन्तर हृदय मे कम्पन हुआ एवं अपार चिन्ता भी हुई चिन्ता सात्विकी,भय तामस है, त्रिलोकी के पति हैं और मेरे भी पति हैं, इस प्रकार लौकिक वैदिक दोनों उत्कृष्ट सम्बन्ध कहे उस अवस्था मे और वह प्रसिद्ध कथन होने से सबको मालूम हो गया है, इसलिये उस वचन को सत्य भी कर दे, केवल लोक और वेद से सम्बन्ध नहीं है किन्तु अपने को रुचता है इसलिये कहा है कि

'प्रियस्य' यदि कहो कि जब प्यारा है तथा रुचता है तो ये वचन परिहास से कहे हुए होंगे, तो फिर भय क्यों? जिसके उत्तर मे कहती है कि 'देवी' यह वाणी देवतारूप है, भगवान् सत्य ही कहते हैं यों रुक्मिणी ने जाना, जब यों जाना तब गर्व का त्याग कर शरण क्यों न गई ? इसके उत्तर में कहा है कि दर्प (अभिमान) सदव होता हैं किन्तु ऐसे वचन कभी नहीं सुने हैं वे वचन भी पूर्ण रीति से सुन, उनका अर्थ अभिप्राय समझ कर ही, प्रथम मन में भय उत्पन्न हुआ, हृदय स्थान पर कम्पन भी हुआ, यह कायिक की तरह बुद्धि को हुवा अहङ्कार तो छोड़ना ही चाहिये, हृदय का कार्य चिन्ता है, इन्द्रियों का कार्य रोदन है, इन दोनों कार्यों के करने से यह बताया है कि मैंने अहङ्कार का त्याग कर दिया है, "ह" पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, केवल कहने से ही इस अवस्था को कैसे प्राप्त हो गई, यह आन्तर (भीतर) का भाव बताया, अब बाहर के भाव कहते हैं, 'पदा सुजातेन' बहुत कोमल अथवा लक्षणों[1] से युक्त पाद से, उससे लक्षणों को उत्पन्न करने वाले के दोष को सिद्ध करती हुई यों करने लगी. अथवा चरणों की उत्कृष्टता दिखाने के वास्ते यों कहने लगी कि अनिष्ट न होगा, जिसके नखों मे लाल शोभा है अथवा नखों के किरण जिसकी लालास हो रही है, जिससे नखों का मणिरूपत्व कहा है, यह सात्त्विक उत्कर्ष है, स्वभाविक उत्पन्न उत्कर्ष वाले चरण से पृथ्वी को कुचलती (खोदती) थी, जो चिन्ता ग्रस्त होती है वह यों ही करती है, इसलिये पृथ्वी को कुचलने लगी थी, पृथ्वी को कुचलने का निषेध है, किन्तु यह तो पृथ्वी को इस भाव से कुचलती थी कि पृथ्वी को खोलकर भीतर समा जाऊँ, यह लौकिक भाषा है, लौकिक भाव के निराकरण के लिये भगवान् ने ये वचन कहे थे, इसलिये जो कुछ भाव होवे वह परमोत्कर्ष को जब प्राप्त होता है तब फलरूप बनता है अर्थात् फल प्राप्त करता है, यह जताने के लिये इस प्रकार कहा जाता है अतः इसका कायिक व्यापार निरूपण किया है, अब मानस व्यापार कहते हैं, रुक्मिणी के स्तन कुङ्कुम के रंग से रञ्जित थे, उन पर, विशेष शोक मे बिना रुकावट के आँखों मे काजल मिश्रित आँसुओं की धारा बहती हुई, उनसे भी स्तनों, जिससे कालास तथा लालास दोनों रंग धुल गये थे नीचे मुख से स्थित थी, यह मानसी चिन्ता की सूचना है, अति दुःख से वाणी रुक गई, यों वाणी की निवृत्ति हो गई, अर्थात् कुछ बोल न सकी, दोनों की क्रिया थोड़ी सी ही रही, वाणी तो निवृत्त हो ही गई, इस प्रकार बाहर तथा भीतर के भाव कह कर, अब देह का पात किस प्रकार हुआ जिसका वर्णन करते है, प्रथम जो कहा उससे मानस पात कहा, उसकी देह गिरी, देह का धारण करने वाली बुद्धि प्रयत्न द्वारा होती है, वह तो सुदुःख, भय और शोक इन तीनों ने नष्ट करदी, सुदुःख क्यों हुआ ? जिसके लिये कहते है कि, पुरुषोत्तम के लक्षणों के विषय के अभाव से अर्थात् पुरुषोत्तम के स्वरूप के अज्ञान से, अथवा आनन्द रूप भगवान् के तिरोधान हो जाने से, भगवान् मुझे दूसरों को देंगे इससे भय हुवा है सर्वनाश होने से शोक उत्पन्न हुआ है, इस तरह तीन प्रकार के दोषों से बुद्धि का नाश हो रहा है, वह यह भी प्रकट करती है कि मैं अपने लिये भी कुछ भी प्रयत्न नहीं कर सकती हूँ जिससे हाथ से कङ्कण तथा पंखा गिर रहा है, शरीर के कृश[2] होने से पहले कङ्कण गिरा, प्रथम धर्म का नाश होता है पीछे धर्मी का नाश होता है, क्रम से नाश हुआ है इसलिये इसका[3] पात अलौकिक प्रकार से नहीं हुआ है, पंखा, पकड़ने वाले में से प्रयत्न की शक्ति का नाश होने से गिरा इससे यह बताया है कि पहले स्थूल प्रयत्न नाश हुआ जिस सूक्ष्म प्रयत्न से प्राणधारण किया जाता हैं वह भी नष्ट हो जाने से देह को भी नाश हुआ अर्थात् 'देह' भी गिर

---

१ - चिन्हों से २—पतला ३-देह का

गई, 'च' पद देने का आशय यह है कि देह से सम्बन्ध रखने वाले आभरण भी गिर गये, अर्थात् पहने हुए आभूषण भी गिर गये, इससे भी सूक्ष्म प्राणों को धारण करने वाला, 'कारण' शेष रहता है, यदि वह भी निवृत्त होता तो सर्वनाश हो जाता, इसलिये भगवान् ने यहां तक की ही परीक्षा ली है. लौकिकी का फिर अलौकिक जीवन होवे यह उचित नहीं है, इसलिये उससे पूर्व ही उपाय करेंगे, सूक्ष्म धारण करने वाली बुद्धि, स्वप्न मे भी रहती है, तो फिर देह का पात कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते है कि वह सूक्ष्म बुद्धि भी घबराहट को प्राप्त हो गई थी, और विचार से भी उस घबराहट को दूर नहीं कर सकती थी, क्योंकि अचानक अथवा विवश होने से मोहित वे (मूर्च्छित) हो गई, थी, 'मुग्धेऽर्ध सम्पत्ति' मूर्छित होने पर आधी सम्पत्ति रहती है, इस न्याय के अनुसार 'अधमरी' हो गई, अब केवल 'आसन्य प्राण' रह गया था इस कारण से पड़ गई, किन्तु मरी नहीं गिरने से, भय उत्पन्न होता है, भय से प्रयत्न की अभिव्यक्ति[1] होती है. वह क्यों न हुई ? जिसके उत्तर में कहते है कि जैसे केले का पेड वायु के झोके से टूट कर गिर पड़ता है वैसे यह भी गिर जाने से. सर्वथा प्रयत्न रहित हो गई तथा स्वत: भी कोमल हो गई अर्थात् सर्वथा अशक्त हो गई, जब गिरी तब मस्तक के केश भी बिखर गये जैसे केले के पत्ते बिखर जाते है, अथवा मूर्छा आने के समय शिर घूमने लगा जिससे केशों की गांठ खुल गई इससे केश बिखर गये, इससे यह जाना जाता है कि केश वेणी के आकार से गूंथे हुवे नहीं थे, जिससे खुलकर बिखर गये ॥२२-२३-२४॥

आभास—तदा भगवान् क्षणविलम्बे समाधानमशक्यमिति उपेक्षाभावं परित्यज्य, तस्यामपेक्षाभावं कृत्वा, शीघ्रं प्रतिक्रियार्थं प्रवृत्त इत्याह तद्दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—तब भगवान् ने सोचा कि एक क्षण भी देरी करने से समाधान करना कठिन होगा, अत: उपेक्षा त्याग कर उसकी अपेक्षा का भाव आवश्यक जान शीघ्र ही प्रतिक्रिया करने के लिये प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'तद्दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तद्दृष्ट्वा भगवान्कृष्ण: प्रियाया: प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढिमजानन्त्या: करुण: सोऽन्वकम्पत ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् हास्य की गंभीरता न जानने वाली अपनी प्यारी के इस प्रेम बन्धन को देख दया से द्रवीभूत होते हुए काँप गये ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्या: पतनं दृष्ट्वा करुणायुक्तो भूत्वा अन्वकम्पत । तस्या दु:खनिवृत्तिमियेष । अभिप्रायानुसारेण यत्तयाग्रे निरूपितं तावद्वक्तव्यम् । ततश्च अभिमानाभावे ज्ञाते भगवान् कृपां कुर्यात् । यत्तु मध्ये मूर्च्छया पतनम्, तदभिप्रायाज्ञानात् । ईश्वरवाक्ये च यावत्स एव स्वाभिप्रायं न प्रकाशयति, तावदर्थान्तरं न वर्णनीयम् । अतो लौकिकत्वात्तस्या अभिप्रायापरिज्ञानात् त्याग-

[1] प्रकाश

भयेन तथावस्थोचितैव। तदा भगवानुत्तरेऽदत्तो अभिमानाभावे चाज्ञातेऽपि कृपामेव कृतवान्। तत्र हेतुः करुण इति। दयायुक्तः। दयायामपि हेतुः तद्दृष्ट्वेति। भगवानिति सर्वार्थाभिज्ञता। कृष्ण इति स्त्रीणां प्रियः। तासामुद्धारार्थं आगत. कथं तां मारयेत्। ननु बहव एव मूर्च्छिता भवन्ति वचसा त्रासिताः, किमत्राश्चर्यमिति चेत्, तत्राह प्रियायाः प्रेमबन्धनमिति। सापि भगवतः प्रिया, भक्तत्वात्। तस्याश्च प्रेमातिशयः सम्बन्धाभावे ज्ञात एव प्राणपरित्यागरूपः। प्रेमैव बन्धनमिति भगवत्प्रेम्णैव सा बद्धा तिष्ठति। तदभावे ज्ञात एव पतितेति। ननु युक्तमेव तस्यास्तथात्वम्, केनांशेन सन्तुष्टः, सन्तोषहेतोराश्चर्यस्याभावादित्याशङ्कयाह हास्यप्रौढिमजानन्त्या इति। हास्यरसे पूर्वपक्षसिद्धान्तन्यायेन पदार्थनिरूपणं प्रौढिः। तत्र भगवता पूर्वपक्षः कृतः। यतो रुक्मिणी न लौकिकी। नापि लौकिकविषयमपेक्षते। अतोऽवश्यं सिद्धान्तो वक्तव्यः। तदुक्तुं न जानातीति मुग्धभावात् बालानामिवाभिमानो न दोषायेति मूर्च्छां दृष्ट्वा स्वभावतोऽपि परमकारुणिकः अनुकम्पां कृतवान्॥२५॥

व्याख्यार्थ – उसका पतन देख, दया से आर्द्रचित्त हो गये जिससे कांप गये अतः उसके दुःख की निवृत्ति की इच्छा की, अभिप्राय के अनुसार, जितना उसने आगे निरूपण किया उतना ही कहना चाहिये, अनन्तर रुक्मिणी को अभिमान नहीं है ऐसा जानने से भगवान् को रुक्मिणी पर कृपा करनी चाहिये, यह जो बीच में रुक्मिणी का पतन हुआ उसका कारण भगवान् के हास्यवचनों का नहीं समझना ही है, ईश्वर के वाक्यों का क्या अभिप्राय है, वह जब तक स्वयं प्रकट न करें तब तक उसका दूसरा भाव कहना वा समझना नहीं चाहिये, इसलिये लौकिक होने से उसने[1] अभिप्राय न समझा जिससे उसको[2] त्याग का भय हो गया। त्याग के भय के कारण वैसी अवस्था होना, उचित ही है, मूर्च्छित होने से वाणी स्तब्ध हो गई थी, जिससे उत्तर न देसकी, अभिमान के अभाव का ज्ञान न होने पर भी भगवान् ने कृपा ही की, यों कृपा करने में कारण, आप दयालु हैं, दया होने में भी कारण कहते हैं कि, उसकी यह दशा देखकर, आप भगवान् हैं जिससे सर्व प्रकार के अर्थों के अभिप्रायों को जानते ही हैं, कृष्ण होने से स्त्रियों को प्रिय हैं स्त्रियों के उद्धार के लिये तो आये हैं, तब उनको मरने कैसे देंगे ? यदि कहो, कि बहुत ही वचनों से डर कर मूर्च्छित होती हैं, इसमें कौनसी अचम्भे की बात है ? इसके उत्तर में कहते है कि 'प्रियायाः प्रेम बन्धनम्' वह भी भक्त होने से भगवान् की प्यारी है, सम्बन्ध न रहेगा, केवल इतना जानते ही प्राणों को छोड़ने लगी यह इसके प्रेम की विशेषता है, प्रेम ही बन्धन है, भगवान् के प्रेम से ही वह बन्धी हुई है, उसके अभाव के ज्ञान होते ही, गिरी है, उसका यों होना उचित ही है, किस अंश से सन्तुष्ट होगी ? सन्तोष के हेतु आश्चर्य का अभाव है ? इसके शङ्का के समाधान के लिये कहते हैं कि, हास्य रस में पहले पूर्व पक्ष का सिद्धान्त कहा जाता है जिसको 'प्रौढि' कहा जाता है, यह इस हास्य रस के प्रौढि को नहीं समझ सकी, कि भगवान् पूर्वपक्ष कह रहे हैं, क्यों न समझो ? जिसका कारण रुक्मिणी लौकिकी नहीं है, और न लौकिक विषय की उसकी अपेक्षा है अतः अवश्य सिद्धान्त कहना चाहिये, वह सिद्धान्त कहना इसको नहीं आता है, कारण कि मुग्ध भाव वाली है इसलिये बालकों की तरह अभिमान दोष के लिये नहीं है, यों मूर्च्छित होती देख स्वभाव से भी परम दयालु श्री कृष्ण अनुकम्पा कृपा) करने लगे।२५।

१—रुक्मिणीने २—रुक्मिणी को

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह पर्यङ्कादिति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कुछ भगवान् ने किया वह पर्यङ्कात्' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।
केशान् समूह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना ॥२६॥

श्लोकार्थ—चतुर्भुज आप शीघ्र ही पलङ्ग से नीचे उतर, उसको उठाकर उसके केशों को सँवार हस्त कमल से मुख को पोंछने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—स्वयं शीघ्रमवरुह्य पर्यङ्कात्, हस्तद्वयेन तामुत्थाप्य हस्तद्वयेन च केशान् समूह्य एकेन हस्तेन केशबन्धं धृत्वा, दक्षिणेन तद्वक्त्रं प्रामृजत् । पद्मपाणिनेति शीतलेनामृतस्राविणा । तेन तापापनोदः जीवनं च जातम् । स्पर्शनैव प्राणाः समागताः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—आप शीघ्र ही पलंग से नीचे उत्तर कर, दो हाथों से उसको उठाकर, दो हाथों से केशों को संवारने लगे बाद में एक हाथ से केश बन्ध किया और जिस शीतल दक्षिण हाथ से अमृत बह रहा था उससे उसका मुख पोंछने लगे, यों करने से ताप मिट गया और जीवन हो गया, स्पर्श करने से ही प्राण आ गये ॥२६ ।

आभास—ततः स्वस्थां सान्त्वयामासेत्याह प्रमृज्येति ।

व्याख्यार्थ—इसके बाद सावधान हुई को 'प्रमृज्य' श्लोक से सान्तवना देने लगे ।

श्लोक—प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा ।
आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! आँसूओं से भरे हुए नेत्र, आँसूओं से उपहत स्तनों को पोंछकर अन्य के आश्रय रहित सती का भुजा से आलिङ्गन किया ॥२७॥

सुबोधिनी—तेनैव पाणिना अश्रूणि प्रमृज्य, अश्रूणां कला यत्र । तत उत्थाप्यैव धृतैव हस्तद्वयेन मध्ये एकेन केशबन्धम् । उक्तां क्रियां कृतवान् । अतः सान्त्वनपर्यन्त चतुर्भुज एव स्थितः । प्रवर्षेण मार्जनं अश्रूणि दूरीकृत्य परितः स्थितकज्जलस्य सर्वत्र स्थापनम्, तथैवान्यत्रापि स्नेहप्रकाशार्थं त्यागाभावविश्वासार्थं च बाहुना आश्लिष्य । ननु स्वयमेव 'न स्त्र्यपत्यार्थकामुका' इत्युक्त्वा, पुनः किमर्थं तथा कृतवान्, तत्राह अनन्यविषयामिति । न विद्यते अन्यो विषयो यस्याः । यद्यहमपि विषयो न भवेत्, तदा शरीरनाशः स्यादिति । 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहमि'ति । तस्यास्तथात्वं ज्ञात्वा स्वप्रतिज्ञास्थापनार्थमेव तथा कृतवानित्यर्थः । ततश्च स्त्रीत्वेन न कामिता, किन्त्वनन्यविषयत्वेन । किञ्च । सती पतिव्रता । तदुपेक्षायां मर्यादाविरोधोऽपि स्यात् । राजन्निति सम्बोधनं भ्रमाभावाय । राजा हि पूर्णविषयो भवतीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जहां जहां आंसू थे अथवा जहां पर पड़े थे वहां से आंसुओं को पोंछा, अनन्तर उठा कर दोनों भुजाओं के मध्य में बिठाया और धागे (डोरे) से केशों को बान्धने लगे, कही हुई क्रिया की, अत: सान्त्वना देने तक चतुर्भुज रूप से ही बिराजे रहे, आंसूओं को दूरकर चारों तरफ स्थित काजल को सर्वत्र स्थापित किया, उसी तरह दूसरे स्थान पर भी स्नेह का प्रकाश[1] करने के लिये, त्याग नहीं करूंगा, ऐसा विश्वास कराने के लिये बाहु से आलिङ्गन किया, भगवान् ने पहले जो कहा है कि हम स्त्री और अपत्य की कामना वाले नहीं हैं, फिर यों क्यों किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिये कहते हैं कि इसको भगवान् के सिवाय कोई विषय स्मरण नहीं है, यदि यह भी विषय न रहे तो शरीर का नाश हो जाय, इसके अतिरिक्त मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मेरे लिये लोक धर्म त्याग देते हैं उनका पालन मैं करता हूं, इसका यह त्याग देख अपनी प्रतिज्ञा के पालनार्थ यों किया, स्त्री है किन्तु स्त्रियों में जो काम भावना होती है वह इसमें नहीं है, क्योंकि भगवान् में ही इसका ध्यान है उसके सिवाय दूसरा विषय विचार में भी नहीं है, कारण कि 'पतिव्रता' है, यदि उसकी उपेक्षा करे तो मर्यादा का भी विरोध हो, हे राजन् ! यह संबोधन भ्रम के अभाव के लिये हैं, कारण कि जो राजा होता है उसको सब विषयों का ज्ञान रहता है ॥२७॥

श्लोक—सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः ।
हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥२८॥

श्लोकार्थ— सान्त्वना देने में दक्ष, 'सत्पुरुषों को गति प्रभु', हास्य रस के पूर्व पक्ष के तत्त्व को न जानने से भ्रमित चित्र वाली, हास्य करने के अयोग्य कृपण रुक्मिणी को कृपा कर सान्त्वना देने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—किञ्च, सान्त्वयामासेति । ततो वाक्यैः सान्त्वयामास । ननु स्वयमेव निःसम्बन्धं प्रतिपाद्य, कथं सान्त्वनं कुर्यादित्याशङ्कयाह सान्त्वज्ञ इति । सान्त्वने हेतुः कृपयेति । न तु भयेन कथञ्चिदपि । कृपणामिति दयायां हेतुः । न तु भार्याम् । ननु धर्मद्वयस्य विद्यमानत्वात्कथं कार्पण्यमेव हेतुरित्यत आह प्रभुरिति । स हि स्वतः समर्थो न भार्यादिकमपेक्षते । हास्यप्रौढिवाक्यैर्भ्रमच्चित्तामिति वाक्यसान्त्वने हेतुः। अन्यथा कायसान्त्वनेनैव चरितार्थता स्यात् । अतश्चित्त-भ्रमोऽपि निवारणीयः । ननु तिष्ठतु चित्ते भ्रमः, किं स्यात्, अत आह अतदर्हामिति । तद्द्विरूपतयावस्थानं नार्हति । शरीरेण कृपाम्, वाचा अकृपां च । शरीरे स्वास्थ्यम्, चित्तेऽस्वास्थ्यं वा । यतो भगवान् सतां गतिः । सन्तो हि निःसन्दिग्धा भवन्ति, भगवद्वाक्यविश्वासेन प्रवर्तन्ते । 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् ।' 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'ति । अतश्चित्तभ्रमापनोदनार्थं वाचा सान्त्वनं कर्तव्यम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—वाक्यों से सान्त्वना देने लगे, स्वयं ही सम्बन्ध राहित्य का प्रतिपादन कर फिर

---

१ – प्रकट

स्वयं ही कैसे सान्त्वना कराने लगे ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि आप सान्त्वना कैसे देनी चाहिये इसको जानते हैं, सान्त्वना कराने का क्या कारण है ? कृपा है, उसकी दशा देख कर डर से सान्त्वना नहीं कराते हैं किन्तु उस पर कृपा कर प्यार करते हैं, भार्या है इसलिये कृपा नहीं करते किन्तु दीना है इसलिये कृपा करते है, दो धर्मों के होते हुए दीनता कारण कैसे कहा जाता है? इस पर कहते है कि 'प्रभु' सर्व समर्थ हैं, वे स्वतः समर्थ हैं इसलिये उनको भार्यादि की अपेक्षा नहीं है, दूसरा हेतु सान्त्वना के लिये देते हैं कि हास्य रस की प्रौढ़ि के वाक्यों से जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, उस भ्रम को भी मिट ना है, यद्यपि काया की सान्त्वना से भी कार्य हो सकता है, तो भी, चित्त का भ्रम भी मिटाना चाहिये, चित्त में भ्रम रहने से क्या होगा ? इसके समाधान के लिये कहते है कि 'अतदर्हा' दो रूपों से रहने के योग्य नहीं है हास्य को सहने जैसी नहीं है अतः शरीर से कृपा और वाणी से अकृपा करने से शरीर मे स्वास्थ्य और चित में अस्वास्थ्य रहे इस प्रकार दो रूपो से रहने के योग्य नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्पुरुषों की शरण है, सत्पुरुष ही संदेह रहित होते हैं, उनको भगवान् में किसी प्रकार सन्देह नहीं रहता है, भगवान् के वचनों पर, विश्वास पर ही प्रवृत्त होते हैं "द्विःशरं नाभिसन्धत्ते" 'द्विः स्थापयति नाश्रितात्' जैसे धनुष में दो शर नहीं लगाए जाते है वैसे भगवान् आश्रितों को दुविधा में नहीं डालते हैं,'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' हे अर्जुन! मेरी तरफ से तू प्रतिज्ञा जान ले कि मेरा (भगवान् का) भक्त नष्ट न होता, अतः चित्त भ्रम मिटाने के लिये वाणी सान्त्वना देनी ही चाहिये ॥२८॥

आभास— तामेवाह त्रिभिः ।

आभासार्थ —उस सान्त्वना को ही तीन श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच–**मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।**
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे रुक्मिणी ! तूँ मेरे कहे हुए वचनों में दोषारोपण कर क्रोध मत कर, मैं जानता हूँ कि तूँ मेरे परायण है । हे अङ्गना ! तेरे वचन सुनने की इच्छा से मैंने यह हँसी की है ॥२९॥

सुबोधिनी—मा मेति । कायवाङ्मनसां पूर्वं पूर्वं बलिष्ठमिति कायेन सान्त्वने कृते फलरूपत्वात्तस्य वाचिकस्य दुर्बलत्वाच्च जातमेव सान्त्वनम् । परं कायवाचोः परस्परविरोधात् भगवान्न विश्वसनीय इति स्यात्, तन्निषेधति, हे वैदर्भि, मां मासूयेथा इति । दोषारोपेण मा पश्य । अथवा । निष्कारणमेतावद्दुःखं दत्तमिति कदाचिदसूयां कुर्यात् । अन्यत्तु सहजमेव, न तेन कश्चिदुपकारं मन्यते । तर्ह्येवं वचनस्य प्रवृत्तिविरुद्धस्य कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह जाने त्वामिति । अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथावचनमभिप्रायं सूचयति । ननु निर्दुष्टा सर्वथा चेत्, तदैवमपि दोषं न मंस्यत इति किं दोषनिराकरणेनेत्यत आह वैदर्भीति । जन्मभूमिसम्बन्धात् कदाचिदेवमपि भावयेदिति, अन्यथा चित्तवृत्तिर्भगवता कृतेति तद्दर्पहननं क्ष्वेल्यर्थं च न परस्परं विरु-

घ्यते। शब्दस्य त्रेधा वृत्तिः। मुख्या गौणी तात्पर्यवृत्तिश्चेति। लक्षणागौण्योस्त्वभेदः,तात्पर्ये वा अन्तर्भावः। तत्र मुख्यार्थबाधः दर्पहननपक्षे क्ष्वेलिपक्षे च तुल्यः। ततः प्रासङ्गिको गौणः क्ष्वेल्यां पर्यवस्यति। तात्पर्यं तु दर्पहनन इति उभयमविरुद्धम्। 'स्त्रीषुनर्मविवाहे चे'ति वाक्यात् मुख्यार्थरहितशब्दप्रयोगो न दोषाय। अन्यथा तात्पर्यादीनां वैयर्थ्यं स्यात्। 'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय'मिति भगवद्वाक्याच्च। पूर्वपक्षन्यायेन बहिर्मुखत्वं लौकिकत्वं च तस्यामारोप्य, वाक्यानि प्रयुक्तानीत्यवोचाम। प्रासङ्गिकानि फलानि भगवान् निर्दिशति सान्त्वनार्थम्। मुख्यार्थो न विवक्षित इत्यत्र हेतुः जाने त्वां मत्परायणामिति। अहमेव परमयनं यस्याः। तर्हि कथने कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह क्ष्वेल्याचरितमिति। क्ष्वेलो परिहासः। परिहासार्थमेव हि गाल्यः उत्पन्नाः। अतः क्ष्वेल्यैवाचरितं तादृशवचनभाषणं कृतमित्यर्थः। तथाकरणे दोषाभावमाह अङ्गने इति। अङ्गं नयति प्रापयतीति तादृश्या सह रसोत्पत्त्यर्थं वक्तव्यमेव। प्रासङ्गिकत्वात्तदानीमेवैतदभावेऽपि न दोषः। अग्रे तु भविष्यति। दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्य एव, अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात्। परमुद्गतो नापेक्ष्यते। तस्मिन्निराकार्ये वक्ता ईश्वर इति सर्वोऽपि निवृत्त., तदाधाराः प्राणा अपि। तदनभिप्रेतमिति पुनः प्रतिप्रसवमाह जाने त्वामिति। परन्त्वहमेव वल्लभेति न मन्तव्यमिति भावः। क्ष्वेल्याः प्रयोजनमाह त्वद्वचः श्रोतुकामेनेति। गूढ वाक्यमपि श्रोतव्यमिति भावः। ॥२६॥

व्याख्यार्थ — काया, वाणी और मन ये तीन हैं इनमें पूर्व पूर्वबल वाला है, इसलिये काया से सान्त्वना करने पर फल रूप होने से, वाचिक दुर्बल होने से, सान्त्वना तो हो गई, परन्तु काया और वाणी का परस्पर विरोध होने से भगवान् विश्वास योग्य नहीं रहे, यों समझती हो तो इस तरह मत समझ, हे वैदर्भी! मुझ पर क्रोध न करो, अर्थात् मेरे कहने से मुझ पर दोषारोपण मत करो, अथवा यों कह कर तुमको इतना समय दुःख दिया, इसलिये कदाचित् रोष करती हो. दूसरा तो सहज ही है, उससे कुछ भी उपकार नहीं माना जाता है, तब इस प्रकार प्रवृत्ति के विरुद्ध वचन कहने का क्या तात्पर्य है, यों कहती हो तो, जिसका उत्तर यह है कि मैं तुझे जानता हूँ, एक तरह जान कर, दूसरी भाँति के वचन कहने, इसमें भी कुछ अभिप्राय होगा, यदि सर्वथा दोष रहित है तो यों भी दोष न मानेगी, फिर दोष निराकरण की क्या आवश्यकता है तथा निराकरण करने से क्या लाभ होगा? इस कारण से कहते हैं कि हे वैदर्भी! जिस देश में तुमने जन्म लिया है देश की भूमि के सम्बन्ध से कदाचित् यों भी भावना करें, यों नहीं तो भगवान् ने ऐसी चित्त वृत्ति की है, उसके दर्प का नाश एवं हास के लिये ऐसे वचन कहना परस्पर विरोध नहीं है, शब्द की वृत्ति तीन प्रकार की होती है, मुख्य, गौणी और तात्पर्य वाली, लक्षण और गौणी इन दोनों में भेद नहीं है, दोनों के तात्पर्य में अन्तर्भाव है, वहाँ मुख्य अर्थ का बाध दर्प के नाश करने के पक्ष में है, हास के पक्ष में तुल्य है, उससे प्रासिङ्गिक गौण है वह हास में पर्यवसान पाता है, तात्पर्य दर्प के नाश करने में है, इसलिये दोनों विरुद्ध नहीं है, 'स्त्रिषुनर्मविवाहे' वाक्य के अनुसार मुख्य अर्थ से रहित शब्द का प्रयोग दोष के लिये नहीं है नहीं तो तात्पर्य आदि की व्यर्थता हो जाय, और इस प्रकार का कार्य 'परोक्ष-वादा ऋषयः परोक्ष च मम प्रियं', इस भगवद्वाक्य के अनुसार है. पूर्व पक्ष के न्याय के अनुसार, उसमें बहिर्मुखत्व और लौकिकत्व का आरोपण कर ये वाक्य कहे हैं, भगवान् सान्त्वना के लिये प्रासङ्गिक फलों का निर्देश करते है, मुख्यार्थ[१] विवक्षित नहीं है, कारण कि 'जानेत्वांमत्परायणं' में

१ - त्याग करना, यह कहने का तात्पर्य नहीं है।

जानता हूँ कि तू मेरे परायण है जब यों जानते हैं तो इस प्रकार क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहते है कि परिहास से ही से वचन कहे हैं यों परिहास करने में कोई दोष नहीं है, हे अङ्गने ! अङ्ग को प्राप्ति के लिये प्रार्थना इस प्रकार रस लीला में की जाती है, जिससे मिलने की इच्छा होती है, वैसी के साथ रस की उत्पत्ति के लिये यों कहना ही चाहिये, परिहास से वह जानना, कि रुक्मिणी मेरे परायण है वा नहीं, यह प्रासङ्गिक है, वह उस समय न था तो भी परिहास करने में दोष नहीं है, आगे तो होगा, भगवदीय होने से स्वल्प भी गर्व ढूंढना ही चाहिये अथवा होना चाहिये, नहीं तो ज्ञानमार्ग से इस मार्ग में कौनसी विशेषता दिखाई जायेगी, परन्तु वह सीमा रहित नहीं होना चाहिये, उसके निराकरण कार्य में वक्ता ईश्वर हैं इसलिये सर्व ही निवृत्त हुआ, उसके आधार प्राण भी, उसको अभिप्रेत नहीं हैं, इसलिये फिर उत्पन्न[1] हुवे कहते हैं 'जानेत्वां' किन्तु मैं ही प्यारो हूँ यों न समझना, यही कहने का भाव है, परिहास करने का कारण कहते हैं, तुम्हारे मन के गूढ़ भाव प्रकट करने वाले वचनों के सुनने की इच्छा थी ॥२९॥

आभास—प्रयोजनान्तरमाह मुखं चेति ।

आभासार्थ—दूसरा प्रयोजन 'मुखं च' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् ।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—प्रेम प्रकोप से स्फुरित अधर वाले, कटाक्ष चलाने से अरुण अपाङ्ग वाले और सुन्दर तथा टेढ़ी भ्रकुटी वाले तेरे मुख को देखने के लिए ये परिहास वचन कहे हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—मुखं च ईक्षितुम् । गालिदाने हि लोकाः कुप्यन्ति, तथा त्वमपि कोपं करिष्यसीति कोपोत्पादनार्थं तथोक्तम् । प्रेमरसस्त्रिविधो भवति, सात्त्विको राजसस्तामसश्च । सात्त्विकस्तत्र पुत्रादिसाधारणः । राजसः स्त्रियामेव धर्मसहितः । तामसस्तु जार एव भवति । सहजः स भावः कदाचिदत्र द्रष्टव्य इति तदुत्पादनार्थं वचनम् । प्रेम्णा यः क्रोधसंरम्भः, तेन स्फुरितमधरं यत्र, कटाक्षेपा वक्रदृष्टयः, तत्सहितमरुणं अपाङ्गं नेत्रान्तं यस्य । सुन्दरश्च भ्रुकुट्याः तटः । मुखं रसालं तामसं तदैव भवति । दृष्टिश्च सात्त्विकी तदैव रसाला । तदैव भ्रूभङ्गश्च रसालः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—कुपित मुखको देखने के लिये ये वचन मैंने कहे हैं, अपशब्द गालियां देने पर लोक कुपित होते हैं,वैसे तू भी कोप करेगी इसलिये कुपित करने के लिये ये वचन कहे,प्रेम रस तीन तरह का होता है, सात्विक, राजस और तामस, उनमें पुत्रादि साधारण सम्बन्ध से जो प्रेम रस प्राप्त होता

१—भगवान् का ज्ञान सिद्ध विषय होने से, ज्ञान से प्राण फिर उत्पन्न हुए, प्राणों के बिना भगवत्परायणत्व सिद्ध नहीं होता है; ।

है वह सात्विक है, धर्म सहित स्त्री में से जो प्रेम रस मिलता है वह राजस है, जार से जो प्रेम रस का अनुभव होता है वह तामस है, सहज वह भाव किसी समय यहां देखना चाहिये, इसलिये उस क्रोध युक्त मुख को देखने के लिये कोप प्रकट कराने के लिये ये वचन कहे हैं मेरे प्रेम वचन से उत्पन्न क्रोध से अधर फरकने लगे हैं जिस मुख में टेडी दृष्टी सहित लाल अपाङ्ग जिस मुख के हो गये हैं, सुन्दर भ्रकुटी के किनारे जिसके हुवे हैं, ऐसे मुखको देखने के लिये परिहास वचन कहे, जब क्रोध उत्पन्न होता है तब ही तामस रसाल मुख इस प्रकार का होता है, और दृष्टि भी सात्विकी रसीली तब ही होती है, तथा तब ही भ्रूभङ्ग भी रसाल होता है ॥३०॥

आभास—ननु किमेवं वाक्काययो: श्रवणादिनेति चेत्, तत्राह **अयं हीति** ।

आभासार्थ—केवल श्रवण आदि से वाणी और काया का इस प्रकार होना कैसे होता है यदि यों कहें तो इसका उत्तर 'अयं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे भीरु भामिनी ! गृहस्थियों के घरों में यही तो परम लाभ है कि जो प्रिया के साथ हँसी के वचनों से समय व्यतीत हो ॥३१॥

सुबोधिनी·गृहमेधिनां गृहेषु कामैकप्रधानेषु अयमेव परमो लाभः, अनिषिद्धः सन् पूर्णः कामरसः प्राप्यत इति । अतो यत्र रसाभास एव, तत्र चेद्रसः प्राप्यते, स कथं न परमो लाभो भवेत् । गृहमेधिनामिति स्वभावतो रसाभाव उक्तः । **नर्मैः** परिहासवचनैः । **यामः** कालः याममात्रं वा । त्रियामा रात्रिः । तत्र निद्रार्थं यामद्वयम् ततो याममात्रमेवावशिष्यते । **प्रियया सहेति** । प्रीतिस्त्वन्तरा, कायिकः साधारणः, वाचनिकं चेन्न स्यात्, तदैकाङ्गविकलमिति सर्वथा परिहासो वक्तव्यः । नन्वेव सति विरसता चेत्स्यात्, तदाधिकं नश्येदित्याशङ्क्याह । **भीर्विति** सम्बोधनम् । 'विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना' इति स्त्रीविशेषवाचित्वान्नैवं विरसं करोति । **भामिनीति** लौकिकं चातुर्यमुच्यते । तेन स्वभावतः गुणतश्चोत्तमेति नान्यथा करिष्यतीति भावः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—गृहस्थियों के काम प्रधान घरों में यही परम लाभ है, जिसका शास्त्र में निषेध नहीं है ऐसा पूर्ण रस प्राप्त किया जाता है, अतः जहां रसाभास ही हो वहां यदि रस प्राप्त किया जाय तो, वह क्यों न परम लाभ कहा जावे, 'गृहस्थी' शब्द कह कर स्वभाव से रसाभास सिद्ध किया है, परिहास के वचनों से एक प्रहर व्यतीत किया जा सकता है, रात्री के तीन प्रहर माने गये हैं, उनमें से दो प्रहर तो नींद में जाते हैं, शेष एक प्रहर रहता है, जो प्यारी के साथ रहा जाता है, प्रीति तो अन्दर की वस्तु है, कायिक रस साधारण है, शेष वाचिक रस न लिया जावे तो रस का एक अङ्ग टूट जावे, इसलिये परिहास कहना वा करना ही चाहिये, परिहास करने से यदि रस का अभाव हो जावे तो प्रेम भी नष्ट हो जावेगा ? जिसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे भीरु ? 'विशेषास्त्वङ्गना

भीरु: कामिनी वाम लोचना:' शास्त्रों में स्त्रियों के विशेषण कहे हैं कि जो स्त्री अङ्गना है वह भीरु कही जाती है और वाम लोचन वाली कामिनी है, अत: परिहास से रस का अभाव उनमें नहीं हो सकता है जिसमें लौकिक चतुराई है वह भामिनी कही जाती है, इससे स्वभाव से गुण से जो उत्तम है, वह अन्य प्रकार न करेंगी ।।३१।।

आभास—ततः स्वस्था भूत्वा भगवदभिप्रेतं कृतवतीत्याह **सैवमिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—बाद में स्वस्थ होकर, भगवान् को जो इच्छित था वह करने लगी जिसका वर्णन 'सैवं' से दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच- **सैवं भगवता राजन्वैदर्भी परिसान्त्विता ।**
ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ।।३२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! श्री कृष्ण भगवान् ने इस प्रकार रुक्मिणी को शान्त्वना दी, जिससे वह समझ गई कि ये वचन भगवान् ने परिहास से कहे हैं, अतः 'प्यारे मुझे त्याग देंगे', यह भय छोड़ दिया ।।३२।।

सुबोधिनी—आदौ स्वास्थ्यमुच्यते । सा पूर्वं तथोक्ता तथाभूता च । ननु उभयमपि भगवद्वाक्यमेवेति कथमास्मन्वाक्ये विश्वास:, पूर्वोत्तरभावस्त्वप्रयोजक:, यथा पूर्वत्र हेतुरुक्त:, तथात्रापि मरणमनभिप्रेतं भविष्यतीति हेतु: कुतो न भवेत्, ततो निर्विचिकित्सं कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह **भगवतेति** । स हि सर्वसमर्थो यथेच्छं करोतीति । राजन्निति पूर्ववत् । वैदर्भी स्वभावतो भक्तिप्रधाना राजसीति । परित: सान्त्वनं कायवाङ्मनोभि: । बाधकं च विरुद्धं वाक्यं परिहासोक्तिं ज्ञात्वा उदासीनत्वे चिन्तारहिता अलौकिकी त्यक्ष्यतीत्येव स्फुरितबाधा अभिप्राये ज्ञाते प्रियत्यागभयं जहौ । अन्यथा सशेषोभिमानो न भवेदिति । तया क्ष्वेल्यर्थतैव ज्ञाता, न तु स्मयाभावार्थता । अत एव यथार्थत्वे प्रियत्यागेन यद्भयं तत्त्यक्तवती ।।३२।।

व्याख्यार्थ—प्रथम उसके स्वास्थ का वर्णन करते हैं कि वह पहले जैसी कही गई थी वैसे ही अब भी थी, पूर्व के वचन और अब के वचन दोनों भगवान् के ही हैं, इस वाक्य में विश्वास कैसे किया ? पूर्व और उत्तर भाव तो यहां प्रयोजक नहीं है जैसे पहले में हेतु कहा वैसे यहाँ भी मरण अभिप्रेत नहीं है, यह हेतु क्यों न माना जाय ? उसमें बिना संशम प्रवृत्ति कैसे करने लगी ? इसका समाधान करते हैं कि कहने वाले भगवान् हैं, वे सर्व समर्थ हैं, जैसा चाहे वैसा करा सकते हैं, राजन् ? यह संबोधन पूर्व की भांति विश्वास के लिये ही है, वैदर्भी (रुक्मणी) स्वभाव से भक्ति को प्रधानता वाली, राजसी है, काया, वाणी और मन यों सब तरह से सान्त्वना करा दी, जो बाधक विरुद्ध वाक्य समझे थे, अब उनको परिहास समझ, उदासीपन में, चिन्ता रहित हो एवं अलौकिकी जो बाधा स्फुरित हुई थी, उसका त्याग कर देगी अभिप्राय जानने पर, प्यारे मुझे छोड़ दगे यह भाव त्याग दिया, यदि यह भय न छूट गया हो तो शेष अभिमान न रहता, उसने समझा कि यह परिहास ही था, न कि इसमें अहङ्कार वा आश्चर्य के अभाव की अर्थता थी, इस कारण से ही सचमुच जो प्रिय त्याग का भय था, उसको त्याग दिया ।।३२।।

आभास—ततः स्वस्था भगवदभिलषितं किञ्चिदुक्तवतीत्याह **बभाष** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वस्थ हुई, वैदर्भी भगवान् का इच्छित 'बभाषे' श्लोक से कुछ कहने लगी।

श्लोक—**बभाषे ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।**
सव्रडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! लज्जा सहित हास्य से सुन्दर, स्नेह भरे कटाक्ष से, पुरुषों में श्रेष्ठ भगवान् के मुखारविन्द का अवलोकन करती हुई कहने लगी ॥३३॥

सुबोधिनी—पुंसामृषभं पुरुषोत्तमम् । अनेन भगवान् न स्त्रीपतिरित्युक्तम् । तत्र स्त्रीबुद्धिः कापट्यं स्त्रीवश्यता च भगवतो निवारिता । एवं ज्ञात्वैव सा यथार्थं वदति, न तु साप्यन्यथा ज्ञात्वा अन्यथा वदति । तथा सत्यभिप्रायान्तरकल्पनायामनवस्था स्यात् । **वीक्षन्ती भगवन्मुखमिति** । दृष्ट्यैव परमः सन्तोषः वाच्यार्थस्फूर्तिरपि निरूपिता । अन्तर्गतं भावत्रयं आविष्कुर्वती तथोक्तवतीत्याह **सव्रीडेति** । लज्जा स्वाभाविकी सात्त्विकी, हासो राजसः शृङ्गारप्रधानः । रुचिरं स्निग्धं अपाङ्गं सत्वं गुणत्रययुक्तम् । तेन वीक्षन्तीति स्वान्तःस्थितभावोद्गिरणं निरूपितम् । अत 'श्चित्तमनेनैवाकृष्यत' इति वचनानि पोषकाण्येव भवन्ति, न त्वन्यार्थकल्पनया कदाचिदपि विरुद्धानि भवन्तीति भावः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पुरुषों में श्रेष्ठ अर्थात् पुरुषोत्तम को, इससे यह बताया कि भगवान् स्त्रीपति नहीं है, यों कहने से भगवान् में स्त्री बुद्धि का कापटच और स्त्री की आधीनता का निवारण किया, इस प्रकार जान कर ही वह सत्य कहती है, न कि वह भी एक प्रकार जान कर दूसरे प्रकार से कहती है. यदि यों होवे तो दूसरे अभिप्राय की कल्पना करने में स्थिरता न रहे 'वीक्षन्ती भगवन्मुखम्' भगवान् के मुख का अवलोकन करती हुई (कहने लगी,) दृष्टि से ही परम सन्तोष हुआ, इससे जो अर्थ कहने का है, उसकी भी स्फूर्ति निरूपण की है, भीतर रहे हुए तीन भावों को प्रकट करती हुई कहने लगी, लज्जा करने लगी, वह स्वाभाविकी सात्विकी थी, हास किया वह शृङ्गार रस प्रधान राजस था, सुन्दर, स्नेहभरित कटाक्ष, तीन गुणों से युक्त था, इस प्रकार देखती थी जिससे अपने भीतर स्थित भावों के प्रकट करने का निरूपण किया, इस कारण से, चित्त को ये ही आकर्षण करते हैं, ये वचन पोषण करने वाले होते हैं, न कि अन्य अर्थ की कल्पना से कभी भी विरुद्ध होते हैं, यह भाव है ॥३३॥

आभास—वचनान्याह पञ्चदशभिः **नन्वेवमिति** ।

आभासार्थ—'नन्वेवं' श्लोक से १५ श्लोकों द्वारा रुक्मिणी के वचन कहते हैं।

श्लोक—रुक्मिण्युवाच—**नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह यद्वै**
भवान्भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।

क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः
क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥३४॥

श्लोकार्थ— रुक्मिणी कहने लगी–हे कमल नेत्रा ! आपने जो कहा कि हम आपके समान नहीं हैं, यह सत्य है; क्योंकि अपने ही स्वरूपानन्द में मग्न रहने वाले तथा ब्रह्मादि के स्वामी, आप कहाँ और पामर तथा अज्ञानी, जिसकी सेवा करते हैं,ऐसी मैं जो त्रिगुणात्मक लक्ष्मी रूप हूँ, वह कहाँ? ॥३४॥

सुबोधिनी– कला एवैताः त्रिविधमपि पञ्चविधं कामरसं प्रबोधयन्तीव । कथं भगवता तद्वाक्यश्रवणार्थं सूत्ररूपाणि वाक्यानि निरूपितानीत्याकाङ्क्षायां बहिरङ्गप्रकारं परित्यज्य अन्तरङ्गप्रकारेणैव तद्वाक्यव्याख्यानरूपाणि वाक्यानि श्रोष्यतीत्यवगत्य तद्व्याख्यानमेवाह । अन्यथा 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति विरोधोऽङ्गीकृतः स्यात्. ईश्वरवाक्यं वा बाधितार्थमिति । अतो दोषनिराकरणार्थं प्रवृत्तो भगवान् तस्यां नैवं दोषं सम्पादयेत् । अतः स्ववाक्यान्येव इयं व्याचष्टामिति भगवदभिप्रायः । तत्र भगवता यदुक्तं 'कस्मान्नो ववृषेऽसमा'निति. तत्रार्थद्वयं सम्भवति. हीनत्वेनोत्तमत्वेन वा । तत्रोत्तमत्वेनैव तत्पदं सार्थकमित्याह-नन्वेवमेतदिति । असमानिति पदं परित्यज्य, प्रथमं श्लोकद्वयमर्थतोऽङ्गीकृतमिति न तद्बाधनार्थं किञ्चिदुच्यते । प्रयोजनं त्वग्रे वक्तव्यम् । दोषस्त्वादौ परिह्रियते । तमपि शब्दं स्वरूपतोऽङ्गीकरोति । हे अरविन्दविलोचन, यद्वं निश्चयेन भवानाह । नन्विति कोमलसम्बोधनेन अर्थतो विचार्यमाणे प्रातीतिके स पूर्वपक्ष एवेति ज्ञापयति । आदावेव नन्वित्युक्तत्वात् । सर्वाण्येव वाक्यानि यथाश्रुतानि पूर्वपक्ष एवेत्युक्तं भवति, एवमेतत्तथैव स्वार्थपरमित्यर्थः । सम्बोधनेन दृष्ट्यैव तापहारकः कथं वाक्यैस्तापं जनयिष्यतीति विरुद्धार्थपरित्यागो युक्त इति सूचितम् । वै निश्चयेन । नत्वेकदेशेनापि बाध्यते । असमानित्यस्य व्याख्यानम्. न भवतः सदृशीति । न विद्यन्ते समा येषां न समा इति वा । एवमर्थद्वये प्रथमार्थ एव ग्राह्यः । भगवन्निरूपितं साम्यमन्यत्र नास्तीति । भगवांस्तु सर्वसमः, 'समः प्लुषिणे'-त्यादिश्रुतेः । यथाकाशः सर्वसमो भवति, नत्वाकाशसमः कश्चित् । अतः अहं भवतः समा न भवामीति । तत्र हेतुः विभूम्न इति । विशिष्टो भूमा यस्येति, विगतो भूमा यस्मादिति वा । वैशिष्ट्यं सर्वतः, अन्यत्र भूमाभावे च असमानत्वं सिद्धमेव । भगवतो व्यापकत्वं सर्वश्रुतिसिद्धम्, गुणानां मायाया वा न तथेति सर्वजनीनत्वाद्धेतुरयं युक्तः । ननु तथापि त्वय्येव रमत इति तस्यापि रत्युत्पादिका त्वमेव महती समा वेन्याशङ्क्याह क्व स्वे महिम्नीति । भगवान् सर्वदा स्वस्मिन्नेव रमते । अभितो रमणं तत्रैव । केनचिदंशेन कदाचिदेव कार्ये रमणम् । अत एव तत्कार्याण्यपि घटादीनि कदाचिदेव व्यापृतानि भवन्ति, नतु सर्वदा । स्वे महिम्नि स्वपूर्णानन्दे । इयं च सृष्टिरूपा माया. नतु मुख्या लक्ष्मीर्ब्रह्मानन्दरूपापि । तस्या एवांशो मायेति न क्वचिद्विरोधः । यतो भगवान् । ननु समशो भवतु, तत्रापि को विशेष इति चेत्,तत्राह अधीश इति । त्रयाणां गुणानां तत्कार्याणां चाधीशः । नह्यीशितव्यैरीश्वरो रमते । तर्हि त्वमपि भगवति वा स्वस्मिन् वा रमसे । अतः साम्यमेवोचितमिति चेत्. तत्राह क्वाहं गुणप्रकृतिरिति । मम तु प्रकृतिर्गुणाः. भगवतस्तु परमानन्दः । यथैको मृण्मयेन व्यवहरति, अपरः सौवर्णेनेति । अतः स्वरूपरमणमपि ममाप्रयोजकम् । भगवत्यपि रमणं क्वचिदपि परिच्छिन्नत्वान्ममैकदेशेनैव ! न हि परिच्छिन्नः

सर्वथा त्याग मर्हति । किञ्च । कार्यद्वारापि ममापकर्ष एवेत्याह अज्ञगृहीतपादेति । यद्यपि मत्सेवका बहवः, मां चाकाङ्क्षन्ते संसाररूपाम्, तथापि ते अज्ञाः । श्रेष्ठाश्रयणमेव महत्त्वसूचकम्, नतु श्रेष्ठानां बहूनामपि । न हि बह्वयो मक्षिकाः यं कञ्चिदपकृष्टमाश्रयन्त इति गरुडाश्रितभगवत्तुल्यो भवति । गृहीतपादपदेन दोषाभावोऽप्युक्तः । अनेनान्ये मत्सेवका एवेति न तेऽपि मत्समाः । तेनान्यान् समत्वेनाभिप्रेत्य यद्भगवतोक्तम्, तदपि निवारितं ज्ञातव्यम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—ये कलाएँ ही तीन प्रकार और पञ्च प्रकार के काम रस को जगाती हैं भगवान् ने उसके वचनों को सुनने के लिये सूत्र रूप वाक्य कैसे कहे ? इस आकाङ्क्षा में बहिरङ्ग प्रकार का त्याग कर, अन्तरङ्ग प्रकार से ही, उन वाक्यों के व्याख्या रूप वाक्य सुनेंगे, यों विचार कर ही वह वाक्य प्रकट किये हैं, यदि यों न होता तो जिसका निषेध नहीं किया गया हो, वह माना हुआ समझा जाता है यों विरोध अङ्गीकृत समझा जाये, ईश्वर के वाक्य को अथवा बाधितार्थ को, अतः दोषों के निराकरण के लिये प्रवृत्त भगवान्, उसमें इस प्रकार दोष का सम्पादन नहीं करें, अतः भगवान् का यह ही अभिप्राय है कि, यह अपने वाक्यों को स्पष्ट वर्णन करे. वहाँ जो भगवान् ने ये शब्द कहे कि 'कास्मान्नो व वृषेऽसमान्' इस वाक्य के हीनत्व और उत्तमत्व से, दो अर्थ हो सकते हैं, उन दोनों अर्थों में से उत्तम अर्थ करने से ही वह पद सार्थक होता है, इसलिये कहा, निश्चय[1] यह इस प्रकार ही है. 'असमन' इतना पद छोडकर, पहले दो श्लोक अर्थ से अंगीकार किये हैं, इसलिये उनके बाध के लिये कुछ नहीं कहा जाता है, प्रयोजन तो आगे कहना चाहिये, दोष तो प्रथम मिटाया जाता है उस दोष रूप शब्द को भी स्वरूप से अंगीकार किया हे हे अरविन्द लोचन! हे कमल समान नेत्रवाले! जो निश्चय से आपने कहा है, ननु इस प्रकार के कोमल सम्बोधन कहने से, यदि अर्थ से विचार किया जावे तो प्रतीति मे वह पूर्वपक्ष ही यों जनाता है, क्योंकि आदि में ही 'ननु' पद कहने से, सब ही वाक्य जो सुने हैं ये पूर्व पक्ष के ही कहे हैं यों जचता है, इस प्रकार वे यों हो है, अर्थात् स्वार्थ पर है यह तात्पर्य है, इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि जो दृष्टि से ही तापहारक हैं वे वाक्यों से ताप कैसे पैदा करेंगे, इसलिये विरुद्ध अर्थ का त्याग करना ही चाहिये, यह सूचित किया है, निश्चय से, एक देश से भी बाध नहीं करता है, 'असमान' इसका यह व्याख्यान है, आपके समान नहीं हूं, अथवा जिनके समान नहीं दीखते हैं, इस प्रकार दो अर्थ होने पर भी प्रथम अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये, भगवन्निरूपित साम्य दूसरे स्थान पर नही होता है, भगवान् तो सर्वसम है, 'समःप्लुषिणे', इत्यादि श्रुतियों में कहा है, जैसे आकाश सब के समान हो जाता है किन्तु अन्य कोई भी आकाश के समान नहीं हो सकता है, अतः मैं आपके समान हो नहीं सकती, जिसमें कारण 'विभूम्न' पद दिया है, आप विभूमा हैं, अर्थात् आपका बाहुल्य विलक्षण है, अथवा जिससे विलक्षण बाहुल्य प्रकट हुवा है, चारों तरफ विलक्षणता जिसकी फैली हुई है, आपके सिवाय अन्य में बाहुल्य के न होने से असमानता सिद्ध ही है, भगवान् का व्यापक पन श्रुतियों से सिद्ध हो है, गुणों का वा माया का व्यापकत्व वैसा सिद्ध नहीं है, यह सर्वजनीन होने से यह हेतु उचित ही दिया है, फिर शङ्का की जाती है कि यो है तो भी भगवान् तुझमें ही रमण करते हैं, उसमे[2] भी रति को पैदा करने वाली तू ही महती वा समान होनी चाहिये ? इस शङ्का का समाधान करती है कि 'कस्वे महिम्नि' भगवान् सदा अपने में हो

१– 'नन्वेवमेतत्', २– भगवान् में भी

रमण करते हैं पूर्ण रमण तो वहां ही है, किसी अंश से कदाचित् ही कार्य में रमण करते हैं, इस कारण से ही उसके कार्य घट आदि भी कभी ही उनमे व्यापार वाले होते हैं, न कि हमेशा, अपने पूर्ण आनन्द में तो सर्वदा पूर्ण रमण है तब घट आदि को यों व्यापार वाले कैसे वा क्यों करते हैं ? इस पर कहती है कि यह 'सृष्टि रूपा माया है न कि मुख्या ब्रह्मानन्द रूपा लक्ष्मी है,उसका ही अंश रूप'माया' है, इसलिये कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भगवान् हैं, समान जैसा हो ! उसमें भी कौनसी विशेषता होगी ? यदि यों कहो तो, वहाँ कहती है, कि भगवान् तीन गुणों के तथा उनके कार्यों के भी स्वामी हैं जिनके ईश्वर हैं, उनसे ईश्वर रमण नहीं करते हैं, तो तू भी भगवान् में वा अपने में रमण करती हैं, अतः समानता मानना ही उचित है, यदि यों कहो तो उत्तर देती है, क्वाहं गुण प्रकृति' में गुणों की प्रकृतिवाली कहाँ ? और परमानन्द स्वरूप भगवान् कहाँ ? जैसे एक मृतिका से खेलता है और दूसरा सुवर्ण से, अतः स्वरूप रमण भी मेरा बिना प्रयोजन वाला है, भगवान् में मेरा रमण भी परिच्छिन्न होने से क्वचित् एक देश से ही होता है जो परिच्छिन्न है वह सर्वथा व्याप्त होने के योग्य नहीं होता है, विरुद्ध, कार्य द्वारा भी मेरा हीनत्व ही है, क्योंकि मेरे सेवक बहुत हैं, किन्तु मूर्ख हैं कारण कि संसार रूप मुझ माया को चाहना वाले हैं बहुत मूर्ख आश्रय करें उनसे महत्व नहीं होता है, किन्तु थोड़े भी मुझ आश्रय करें तो महत्व बढ़ता है, जैसे बहुत मक्खियां किसी गन्दे पदार्थ का आश्रय करें तो वह उत्तम नहीं हो जाता है, किन्तु एक ही उत्तम किसी साधारण का आश्रय करे तो वह उत्तम हो जाता है जैसे भगवान् गरुड़ का आश्रय करते हैं, तो गरुड़ का महत्व हो गया है भगवच्चरणारविन्द के ग्रहण करने से दोषों का अभाव भी कहा है, इससे यह बताया है कि दूसरे मेरे सेवक ही हैं, इसलिये मेरे समान नही हो गये हैं, इससे दूसरों की समानता मान कर जो भगवान् ने कहा था, उसका भी निवारण कर दिया है ॥३४॥

आभास—एवमसमपदं व्याख्याय, 'राजभ्यो बिभ्यत' इत्यर्धेन यद्भयं निरूपितम्, तदपि तथैवेति व्याचष्टे सत्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार असम पद की व्याख्या कर, अब 'राजभ्यो बिभ्यत' इस आधे श्लोक से जो भय निरूपण किया, वह भी वैसे ही हैं यो 'सत्यं' श्लोक से वर्णन करती है ।

श्लोक—सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः
शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं
त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतंतमोऽन्धम् ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे उरुक्रम ! आपने कहा कि राजाओं से डरकर मैंने चिद्रूप समुद्र के भीतर शरण ली है, वह भी सत्य है, आपने कहा कि हमने बलवानों से शत्रुता की

१– इन वाक्यों को कहने वाली, सृष्टि का निरूपण करने वाली आनन्द शक्तिरूपा माया है।

है, वह भी सत्य है, राज्यासन छोड़ा है, वह भी सत्य है; क्योंकि विषयासक्त बलवान इन्द्रियों से आप वैर रखते ही हैं, पापमूल जो अज्ञान रूप राज्यासन तुम्हारे सेवक ही जब छोड़ बैठे हैं तो आपने छोड़ा इसमें क्या आश्चर्य है? ॥३५॥

सुबोधिनी—रजसो धर्मा राजसा राजानः। ते हि निरन्तर प्रकृत्येकस्वभावाः। तेषु विद्यमानेषु न कदाचिदप्यात्मसुखस्फूर्तिः। 'सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनु'रित्येव विवृतम्। अतः स्वानन्दानुभवे रजस्तमःप्रधानान् गुणान् परित्यज्य, समुद्रे मुद्रासहिते यत्र गुणानां प्रवेशो न भवति, तादृशे उपलम्भनमात्रे केवले चिद्रूपे। ज्ञानं हि मायानिवर्तकं भवतीति। तत्राप्यन्तः यथा दूरादपि न कोऽपि पश्यति, तथान्तर्लीनः सन् आत्मा सूक्ष्मो व्यापको भूत्वा तदात्मकः सन् व्याप्नोतीति च ज्ञापयितुमप्यात्मपदम्। ते त्वकिञ्चित्करा इति भयादिवेत्युक्तम्। तत्र हेतुः उरुक्रमेति। यथाश्रुतमग्रे निराकरिष्यते। अनेनात्रापि द्वारकायां आत्मरमणार्थमेव स्थीयत इति गुणरूपेभ्यस्तेभ्यः पलाय्य समागमनं युक्तमिति समर्थितम्। यदप्युक्तं 'बलवद्भिः कृतद्वेषा'निति, तदपि सत्यमेव। व्याचष्टे नित्यमिति। कदिन्द्रियाणां कुत्सितेन्द्रियाणां गणो येषु। सर्वाण्येवेन्द्रियाणि बहिर्मुखानीति। ते हि बलवन्तो भवन्ति अदान्तैरिन्द्रियैः। वस्तुतस्तु दुर्बला एव, इन्द्रियपरवशत्वात्। ते हि दुष्टाः काका इव स्रक्ष्यन्तीति तद्दत्तं न ग्राह्यमिति। वैदिकप्रकारेण कदाचित्ते यज्ञ कुर्युरिति, 'न द्विषतोऽन्नमश्नीया'दिति तद्दत्तभागाभजनेऽपि न दोष इति, तदर्थं तैः सह सर्वथैव भवान् कलहं करोति। एतदेव दस्योः सह नित्यविरोधे निमित्तम्। 'प्रायस्त्यक्तनृपासना'निति व्याचष्टे त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धमिति। त्वत्सेवकैरपि तत्पदं त्यज्यते। ततो ज्ञायते नृपसिंहासनमधममिति। तस्मिन्नुत्कृष्टे तत्प्राप्य पश्चात्त्वत्सेवारसमनुभूय तत्परित्यागो नोपपद्येत। अतो भगवच्चरणसेवातो राज्यमपकृष्टमिति सिद्धम्। ततश्चापकृष्टे भगवान्न तिष्ठतीति युक्तमेव। यत्र भगवद्धर्मा अपि न तिष्ठन्ति, तत्र कथं भगवांस्तिष्ठेत्। यत्र कमलादेर्गन्धोऽपि न सम्भाव्यते, तत्र कमलस्थितिरिव। स्पष्टं तद्गतं दोषमाह तमोऽन्धमिति। तत्रोपविष्टोऽन्धो भवतीति, तम इव सद्विरोधी च भवतीति। प्रायःपदं लौकिकदृष्ट्या अपेक्षितमिति न निराकृतम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—राजा लोग रजोगुण के धर्म वाले होने से राजस होते हैं, वे सदैव प्रवृत्ति करने के स्वभावों वाले रहते हैं, उन स्वभावों के रहते हुए कभी भी आत्म सुख को स्फूर्ति नहीं होती है, जिसमें सर्व प्रकार की इच्छाओं का शमन हो, ऐसा आत्मा का स्वरूप हो जावे वह सुख है, अतः रजो और तमोगुण जिनमें प्रधान हैं, उन गुणों का परित्याग कर, जहाँ गुणों का प्रवेश नहीं होता है, वैसे मुद्रा सहित केवल चिद्रूप में आप स्थिति करते है, जो माया को मिटावे, वह ज्ञान है, उसमें भी जैसे अन्दर दूर से कोई भी नहीं देखता है, वैसे आत्मा लीन हो तथा सूक्ष्म एवं व्यापक तद्रूप हो, व्याप्त होता है, यों जताने के लिए भी 'आत्मा' पद दिया है। वे तो न कुछ करने वाले हैं, इसलिए 'भयादिव' पद कहा है, उसमें कारण 'उरुक्रम' कहा, जैसे सुना है, वैसे आगे निराकरण करेंगे, इससे यहाँ द्वारका में भी आत्मरमण के लिए स्थिति की है, इसलिए उन गुण रूपों से भागकर यहाँ आना योग्य ही है, यों समर्थन किया है। यह जो कहा मैंने बलवानों से द्वेष किया है वह भी सत्य है, बहिर्मुख सब इन्द्रियों के गण कुत्सित एवं बलवान हैं, वास्तव में दुर्बल है; क्योंकि वे गुण इन्द्रियों के

आधीन हैं, वे दुष्ट कौओं के समान छूते हैं, अतः उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए, कदाचित् वे वैदिक प्रकार से यज्ञ करें, तो भी उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्' शत्रु का अन्न नहीं खाना चाहिए, उसका दिया भाग काम में न लाने में कोई दोष नहीं है, इसलिए उनके साथ आप हमेशा कलह करते हैं। यह ही दैत्यों से नित्य विरोध करने में कारण है, आपने राज्यासन प्रायः छोड़ दिया है, इस पर कहती है कि आपके सेवकों ने ही इस राज्यासन को अज्ञानान्ध रूप कह त्याग दिया है, इससे समझा जाता है कि राजाओं का सिंहासन अधम है। उसे उत्कृष्ट समझ उसको ग्रहण कर अनन्तर आपकी सेवा के रस का अनुभव कर बाद में उसका त्याग करना योग्य नहीं लगता है, अतः आपको चरणारविन्द की सेवा से यह राज्यासन अधम है, यह सिद्ध हुआ। इस कारण से अधम स्थान में भगवान् नहीं ठहरते हैं, यह योग्य ही है, जहां भगवान् के धर्म ही नहीं ठहरते हैं, वहां भगवान् स्वयं कैसे ठहरेंगे? जहां कमलों के गन्ध की सम्भावना भी नहीं है, वहाँ कमलों की स्थिति कैसे होगी? उसमें जो दोष हैं, वह स्पष्ट कहते हैं कि 'तमोऽन्धम्' वहां रहने वाला अन्धा होता है, तम की तरह वह सत् का विरोधी होता है। 'प्रायः' पद लौकिक दृष्टि से अपेक्षित था, इसलिए उसका निराकरण नहीं किया है ॥३५॥

आभास—यत्कार्ये कारणदोषमङ्गीकृत्य प्रवृत्तौ दूषणं द्वयं हेतुत्वेनोक्तं 'अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषा'मिति, तदपि सत्यमिति व्याचष्टे **त्वत्पादपद्मे**ति।

आभासार्थ—जिस कार्य में कारण दोष का अङ्गीकार कर प्रवृत्ति में दो दोष 'शुद्ध राह में न चलना और लोक पथ से विपरीत पथ पर चलना' दिखाया, वह भी सत्य है। इसका उत्तर 'त्वत्पादपद्म' श्लोक से देती है।

श्लोक—**त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां**
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य
भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—आपने कहा हमारा मार्ग जानने में नहीं आता है, यह भी सत्य ही है; क्योंकि आपके चरण कमल के मकरन्द का सेवन करने वाले मुनियों का आचरण भी पशु तुल्य मनुष्यों को समझ में नहीं आता है तो आपका आचरण कैसे समझ में आ सकेगा? आपका मार्ग लोक से विलक्षण है, यह भी सत्य है, कारण कि जो लोक आपका अनुसरण करते हैं, उनका मार्ग भी लोगों से पृथक् हैं तो आप ईश्वर का मार्ग निराला अलौकिक हो, जिसमें कहना ही क्या है ॥३६॥

सुबोधिनी—'सीदन्ती'ति तु फलमग्रे विवेचनीयम्। तव मार्गो न स्पष्ट इत्यास्ताम्। ये त्वच्चरणरजसा जातदेहाः, त्वच्चरणरजोभिलाषिणो वा, त्वामुपासते, तेषामपि वर्त्मास्फुटम्। स्फुटत्वे

तु तैः प्रतिबन्धान्न मननं सिध्यति । यथा कालं वञ्चयित्वा भगवान् भक्तान् नेष्यत्यभिप्रेतानेव, तथा तेऽपि गुप्ताश्चरन्तीति त्वदुपासकाः कर्मिणोऽपि गुप्ता भवन्ति । सुतरां चरणोपासकाः ज्ञानिनः, सुतरामपि पादपद्मोपासका भक्ताः । तत्रापि भक्तिरसाभिज्ञाः मकरन्दनिषेवकाः तं रसमन्यो ग्रहीष्यतीति । अतो बहिर्विसदृशाचरणात्तेषामपि मार्गो न स्फुटः । अयं मार्ग एवैतादृश इति अस्पष्टवर्त्मत्वं न दोषाय, अपि तु गुणायैव । 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः । विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चय' इति वाक्यात् । ननु तथापि लोके प्रसिद्धमेतद्दूषणमिति चेत्, तत्राह **नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यमिति** । युक्तमेवैतत् । नहि सर्वैरुत्कृष्टो मार्गः ज्ञेयो भवति । तथा सति साधारणः स्यात् । विशिष्टास्त्वत्रापि जानन्त्येव । अन्यथा कथं तत्सेवका भवेयुः । कथं वा तथा कुर्युः । अतो ये नराकाराः पशवः अपुच्छशृङ्गाः, अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारः पशुतुल्य एव, तैर्दुर्विभाव्यमेव । नन्विति युक्तमित्यर्थे सम्बोधनम् । तेऽपि विवेकिनश्चेत्, अग्रे ज्ञास्यन्तीति । प्रथमं दुर्विभाव्यत्वं पूर्वपक्षोऽपि । 'अलोकपथमीयुषा'मिति लोकवैलक्षण्यमपि दूषणं लोके प्रसिद्धं तत्परिहरति **यस्मादलौकिकमिवेति** । भगवानलौकिकः भगवद्धर्मश्च । अन्यथा भगवता न किञ्चित्कार्यं स्यात् । भगवन्मार्गस्य वा । संसारस्यान्यथैव सिद्धत्वात्तन्निवारकं त्वलौकिकमेव । किञ्च । लोकेपि साधारणस्येश्वरस्य च कृतौ वैलक्षण्यं प्रतीयते । न च तद्दोषाय भवति । तथा भगवतोऽपि अलौकिकमेव ईहितम् । ननु तथा सति कार्येषु लोकाः सहाया न भविष्यन्तीति चेत्, तत्राह **भूमन्निति** । त्वमेव **महान्**, किं तुच्छैरित्यर्थः । किञ्च । न सर्वथा अलौकिकम्, किन्त्वतिमूढानामेव तदगम्यम् । अन्यथा भगवतः सेवकाः मार्गपारम्पर्यं च न स्यादित्याशयेनाह **अथो अनु ये भवन्तमिति** । भगवतस्त्वीहितं शास्त्रेषु भाववर्णनाज्ज्ञातुमपि शक्यम् । तदीयानां तु सुतरामेवाभिप्रायो न बुध्यत इति भिन्नप्रक्रमः । तस्मादलौकिकेऽपि बहवः प्रकाराः सन्तीति लोकवत्तदपि प्रसिद्धम् । तस्माद्यावन्तो गुणा लौकिके, ततोऽप्यधिका अलौकिके इति नैतद्दूषणम्, किन्तु गुण एवेत्यर्थः । साधनस्यादोषत्वे कार्यस्यान्यथात्वं परिहृतमेव, तथाप्यग्रे परिहरिष्यते ॥३६॥

व्याख्यार्थ— सीदन्ति' इसके फल का तो आगे विवेचन करना है, आपका मार्ग स्पष्ट नहीं है, यों सत्य है। जिनकी देह आपके चरण रज से बनी है अथवा जो आपके चरण रज के अभिलाषा वाले हैं, वे आपकी उपासना करते है, उनका भी मार्ग प्रकट नही है, प्रकट होवे तो प्रतिबन्धों के होने से मनन सिद्ध नहीं हो सकती है। जिस तरह भगवान् काल को ठग कर प्यारे भक्तों को ले जावेंगे, इसी तरह वे भी गुप्त ही विचरण करते हैं, इसलिए आपके उपासक कर्मी भी छुपे रहते हैं, सुतरां चरण के उपासक ज्ञानी एवं पाद पद्मों के उपासक भक्त भी गुप्त ही घूमते रहते हैं, इनमें भी जो भक्ति के रस को जानते हैं और उसके मकरन्द के सेवन करने वाले हैं, वे तो इस विचार से गुप्त होकर विचरण करते हैं कि उस रस को अन्य कोई ले न जावे, अतः बाहर अन्य प्रकार के आचरण से उनका मार्ग भी प्रकाशित नहीं है, यह भक्ति रस मार्ग ऐसा ही है इसलिए यदि वह मार्ग छुपा हो तो कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण के लिए ही है, अपने-२ अधिकार में जो स्थिति है, वह गुण है, इससे विपरीत होवे तो दोष है, इस वाक्य के अनुसार दोनों का यही निश्चय है। यदि कहो कि तो भी लोक में तो यह दूषण प्रसिद्ध ही है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि जो बिना शृङ्ग सींग और पूँछ के मनुष्य के आकार वाले पशु हैं, वे वैसे उत्कृष्ट मार्ग को नहीं जान सकते हैं, यदि वे भी समझ सकें तो उसकी उत्कृष्टता चली जावे, इसलिए जो श्रेष्ठ उत्तमजन हैं, वे यहाँ भी जानते ही हैं, यदि यों नहीं हो तो उनके सेवक कैसे बने ? अथवा यों किस प्रकार कर सके ? इसलिए नर-पशुओं को ही

यह जानना कठिन है। 'ननु' यों युक्त हैं, इस अर्थ में सम्बोधन है, वे भी यदि विवेकी हैं तो आगे जानेंगे, प्रथम पूर्वपक्ष भी जानना कठिन है। 'अलोकपथमीयुषां' यह लोक से विलक्षणता दोष भी लोक में प्रसिद्ध है, उसका परिहार करती है कि 'यस्मादलौकिकमिव' भगवान् और उनके धर्म अलौकिक हैं ही, यदि न होते तो भगवान् को लोक में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अथवा भगवन्माग का भी कोई कार्य न होने से आवश्यकता नहीं है। संसार, दूसरे प्रकार से हो सिद्ध होने से, उसका निवारक तो अलौकिक ही है, किंच लोक में साधारण महापुरुष की कार्य में भी विलक्षणता देखने में आती है, वह दोष के लिए नहीं होती है, वैसे ही भगवान् का कार्य भी अलौकिक है, जिसमें किसो प्रकार का दोष नहीं, यदि यों ईश्वर का कार्य विलक्षण होगा तो लोक सहायक न हो सकेंगे। इसके उत्तर में कहती है कि आप 'भूमन्' हैं, आप ही महान् हैं, तुच्छों की सहायता से क्या? और विशेष कहती है कि आपके कार्य सर्वथा अलौकिक नहीं हैं, किन्तु अतिमूढ़ों को ही वे जानने में नहीं आते हैं, यों न होवे तो भगवान् के सेवक और मार्ग की परम्परा देखने में न आवे। इस आशय से कहते हैं कि 'अथो अनु ये भवन्तं' भगवान् के कार्य तो शास्त्रों में उनके भाव वर्णन से जाने जा सकते हैं। भगवदीयों का तो सुतरां ही अभिप्राय नहीं जाना जा सकता है, यों यह अलग प्रक्रम (सिलसिला) है, इससे अलौकिक में भी बहुत प्रकार हैं, इसलिए लोक की भाँति वे भी प्रसिद्ध हैं। इस कारण से लौकिक में जितने गुण हैं, उनसे भी विशेष अलौकिक में हैं इसलिए यह दूषण नहीं है, किन्तु गुण ही हैं, साधन निर्दोष हुआ तो कार्य का सदोष होना स्वतः मिट ही गया, तो भी उसका आगे परिहार होगा ॥३६॥

आभास—यदप्यभजनसम्मत्यर्थं स्वतः परतश्च धनाभावलक्षणं दूषणमुक्तम्, तस्याप्यन्यथार्थं व्याचष्टे **निष्किञ्चन** इति।

आभासार्थ—जो भी अभजन की सम्मति के लिए अपने से व पर से धन के अभाव का दूषण दिया है, जिसका भी अन्य प्रकार के भाव को 'निष्किञ्चन' श्लोक से प्रकट करती है।

श्लोक—निष्किञ्चनो ननु भवान्नयतोऽस्ति किञ्चि-
द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः।
न त्वां विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धा
प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—आपने कहा मैं निष्किञ्चन हूँ, वह भी सत्य है; क्योंकि जो कुछ है, वह आपसे निकला है, आप से भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, इसलिए आप निष्किञ्चन हो ही। इस पद का दूसरा अर्थ जो दरिद्रता होता है, वह बन नहीं सकता है कारण कि दूसरों से बलि लेने वाले ब्रह्मा आदि देव भी आपको बलि देते हैं, तो आप निष्किञ्चन (दरिद्री) कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं और आपने कहा मुझे निष्किञ्चन जन प्यारे हैं, मैं उनको प्यारा हूँ, यह भी यथार्थ है, जिनको देह आदि में

अभिमान नहीं है, वैसे अजादि आपको प्यारे हैं, उनको आप प्यारे हैं और आपने कहा कि समृद्धि वाले मुझे नहीं भजते हैं, यह भी सत्य है, वे धनान्ध तो धन के अभिमानी आप काल रूप को नहीं जानते हैं, जिससे वे धन से इन्द्रियों को ही तृप्त करने में सलग्न होने से आपका भजन नहीं करते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—निष्किञ्चनपदं यौगिकमत्र, न तु रूढं निर्धनार्थम्। योगमाह **न यतोऽस्ति किञ्चिदिति**। नन्विति निश्चयेनैव। भवान् निष्किञ्चनः। यस्य किञ्चन नास्ति, किन्तु सर्वमेव। यतो हेतोर्वा किञ्चिन्नास्ति, किन्तु सर्वमेवास्ति। यतो भिन्नं वा। अत्रापि ज्ञानोदये सर्वं भगवतः सकाशादल्पमेव भविष्यतीति यतः सर्वं किञ्चिदेवेति नन्वर्थः। अथवा। निरुपसर्गो निर्गतार्थे। यतो भगवतः सकाशात् सर्वमेव निर्गतमिति। नयतः सर्वं प्रापयतो भगवतः सकाशात्किञ्चिदस्तीत्यर्थः। ननु रूढिं परित्यज्य, किमिति योग आश्रीयते इति चेत्, तत्राह **यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्तीति**। न हि बाधितोर्थः स्वीकर्तुं शक्यते। यथा प्रकरणवशात्सैन्धवादिपदेषु युद्धार्थं प्रवृत्तौ, सिन्धुजत्वमेव पुरस्कृत्य, अश्व एव प्रतीयते, न तु लवणम् तथात्रापि बलिभुज इन्द्रादयोऽपि सर्वोपास्या यस्मै बलिं हरन्ति। चरणक्षालने अजः प्रसिद्ध इति तेनापि बलिर्दत्तो भविष्यति। चरणसेवका इति ज्ञापयितुं वा तदादित्वम्। अनेन स्वतो धनाभावपक्षः परिहृतः। परतो धनाभावपक्षे सिद्धान्तमाह **न त्वां विदन्तीति** ज्ञात्वा हि भजनम्। नन्वज्ञानमपि दोषाभावप्रतिपादकमिति चेत्। सत्यम्। यदि प्रतिबन्धाभावेऽप्यज्ञान भवेत्। अत्र तु त्वदज्ञाने हेतुरस्तीत्याह **असुतृप** इति। प्राणतर्पण एव व्यापृता न जानन्ति। ज्ञापनार्थं प्रयत्ने अवकाशाभावात्। नन्वनावश्यकत्वं तथासति जातमिति प्राणापेक्षया अपकर्षात्, अज्ञानमदोषायेवेति चेत्, तत्राह **अन्तकमिति**। स हि मारकः सर्वसंहर्ता। अतः सर्वैरेव ज्ञातव्यः। तथाप्यज्ञानं बहिर्मुखत्वादेव। हेत्वन्तरमप्याह आढ्यतान्धा इति। आढ्यतया अन्धाः। न हि चक्षुषि द्रव्यादिना पिहिते कश्चित्पश्यति। तथाढ्यता सर्वत्र व्यापृता निरन्तरा अन्धत्वमेव सम्पादयति। परिमितमेव गुणो, नत्वपरिमितं धनम्। अजीर्णान्नवत्। अतो ज्ञानाभावात् परतो धनाभावो युक्तः। नह्यन्धत्वापादकं धनं भवति। यदप्युक्तं '**निष्किञ्चनजना एवास्माकं प्रियाः**, नत्वाढ्या' इति स्वरुचिनिरूपणम्, तदपि युक्तमेवेत्याह **प्रेष्ठो भवानिति**। बलिभुजां विरक्तानां देवानां वा भवान् प्रियः, पुरुषार्थसाधकत्वात्। अपिशब्देनोभये सङ्गृहीताः। तदनुगामिनश्च। तेऽपि तुभ्यं त्वदर्थमेव जातास्तव प्रियाः। यो हि यदर्थमेवोत्पद्यते, स तु तस्य प्रियः। नात्रार्थशब्दो निवृत्तिवाची। अतोऽन्योन्य प्रियत्वात् निष्किञ्चना एव जनाः प्रियाः, न तु धनवन्तः,पुरुषार्थापेक्षाभावात्। अतदर्थत्वाच्च। अनेन 'तस्मात्प्रायेण नह्याढ्या' इत्यभजनं समर्थितम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यहाँ 'निष्किञ्चन' पद यौगिक है, न कि 'निर्धन' अर्थ वाला रुढ़ि, यौगिक अर्थ कहते हैं कि 'न यतोऽस्ति किञ्चित्' निश्चय से ही आप निष्किञ्चन हैं जिसका कुछ नहीं है परन्तु सर्व ही है, जिससे भिन्न कुछ नहीं है, उसका तात्पर्य है, कि अन्य वस्तु न होने से उनका कुछ नही और सर्व आप हैं भिन्न कुछ नहीं है इसलिये सर्व आप ही हैं, वा आपका ही है, जब ज्ञान का उदय होता है उस समय में भगवान् से सर्व जो कुछ भी है वह अल्प ही दीखता है, यह 'ननु' पद कहने का भाव है, अथवा 'निष्किञ्चन' पद में 'निर्' उपसर्ग निकलने के अर्थ में है जिससे इस पद का अर्थ होता है

कि जो कुछ है वह सर्व भगवान् से ही निकला है; 'नयतः' पद देकर अर्थ करते हैं कि जो कुछ है वह सब भगवान् के पास से ही प्रकटा है, 'ननु' शङ्का होती है कि रूढ़ि को छोड़ कर योगार्थ क्यों लेती हो, जिसके उत्तर में कहती है कि, जिसको बलि लेने वाले भी बलि देते हैं, बाधित अर्थ हो तो स्वीकार नहीं किया जाता है, जैसे प्रकरण वश जब युद्ध के समय कोई कहे कि 'सैन्धव' ले आओ तो वहां सैन्धव का अर्थ अश्व किया जावेगा न कि नमक, और घोड़ा ही लाया जायगा, वैसे ही यहाँ भी, सब जिनकी उपासना करते हैं, ऐसे बलि लेने वाले इन्द्र आदि भी जिनको बलि देते हैं; ब्रह्मा ने चरणों को धोया, यह कथा प्रसिद्ध ही है, जिससे उसने भी बलि दी, अज आदि कहने से सब का चरण सेवकत्व बना दिया, यों कह कर स्वतः धन का अभाव है यह पक्ष मिटा दिया, अर्थात् आप दरिद्र नहीं हैं पद से धनाभाव के पक्ष में सिद्धान्त कहती है, 'न त्वां विदन्ति' जान कर ही भजन किया जाता है, शङ्का होती है कि अज्ञान भी दोष[1] प्रतिपादक है यदि यों कहा जाय तो सत्य है जिसका उत्तर यह है, कि यदि प्रतिबन्ध न होने पर भी अज्ञान रहे तो वह अज्ञान, दोष प्रतिपादक है, यहाँ तो आपके अज्ञान में 'असुतृपः' हेतु है, जो प्राणों का ही पोषण कर रहे हैं, वे आपको नहीं जानते हैं, जानने के लिये प्रयत्न करने का उनको अवकाश नहीं है, प्राणों से इस ज्ञान के प्रयत्न करने को कम समझते हैं, जिससे अनावश्यक जानते हैं प्राणों की रक्षा आवश्यक जानते हैं, इसलिये अज्ञान हो तो कोई दोष[2] नहीं यदि यो है तो इसका उत्तर देती है कि 'अन्तकं' वह भगवान् ही सब का संहार करने वाले हैं, अतः सब को उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अतः अज्ञान दोष है, 'अज्ञान' बहिर्मुख होने से ही होता है, दूसरा हेतु देते है, कि धन के अभिमान से अन्धे हो गये हैं, द्रव्य आदि के अहङ्कार से आंखे बन्द हो जाने से कोई देख नहीं सकता है यदि अभिमान सर्वत्र फैल जाता हैं तो वे निरन्तर सदैव अन्धे ही हो जाते है, गुण परिमित हैं न कि धन अपरिमित है, अजीर्ण हुए अन्न की तरह है, अतः ज्ञान के अभाव से, परतः धन का अभाव उचित ही है, धन अन्धत्व करने वाला नहीं होता है, आपने जो कहा है कि निष्किञ्चन जन ही मुझे प्यारे है न कि धनी अभिमानी प्यारे हैं यों अपनी रुचि के अनुसार निरूपण किया है, यह आपका कहना भी उचित है, क्योंकि बलि लेने वालें, विरक्त और देवों के पुरुषार्थों के साधक होने से आप उनको प्रिय हैं 'अपि' शब्द से दोनों लिये हैं, एक उपरोक्त और दूसरे उनके अनुगामी, वे भी आपके लिये उत्पन्न होने से आपको प्यारे हैं, जो जिसके लिये उत्पन्न होता है, वह तो उसको ही प्यारा लगता है, यहाँ 'अर्थ' शब्द निवृत्ति वाला नहीं है, अतः परस्पर प्रिय होने से निष्किञ्चन जन ही प्यारे होते हैं न कि धनवान प्रिय होते हैं, क्योंकि उनको पुरुषार्थ की कुछ अपेक्षा नहीं है, और तदर्थ न होने से, इससे 'तस्मात्प्रायेण नह्याढ्या' इस श्लोक से यह सिद्ध कर बताया कि धनिक अभिमानी भजन नहीं करते हैं,यह समर्थन कर बताया ।३७।

आभास—यदुक्तं भगवता 'ययोरात्मसमं वित्त'मिति विवाहयोग्यत्वाय, तत्र निर्णयमाह **त्वं वै समस्तपुरुषार्थमय** इति ।

१—पुस्तक में 'दोषाभाव प्रतिपादकम्' छपा है, और नीचे फुट नोट में 'दोषप्रतिपादकम्' छपा है,

२—पुस्तक में 'प्रदोषाय्' और फुट नोट में 'दोषाय' छपा है ।

आभासार्थ—यह जो भगवान् ने कहाकि जिनकी धनादि से समानता हो उनका परस्पर विवाह होना चाहिये, इस विषय में 'त्वं-वै' श्लोक से निर्णय कहती है।

श्लोक—त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा
यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्यम्।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः
पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥

श्लोकार्थ—आप (भगवान्) ने कहा कि असमानों में परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए, यह भी सत्य है; क्योंकि आप पुरुषार्थ रूप और फलात्मा हैं, ऐसा जानकर बुद्धिमान लोग आपकी इच्छा से अन्य सर्व कृत्य छोड़ देते हैं। हे प्रभो! उनका आप से सम्बन्ध होना उचित ही है, परन्तु सुख-दुःख से व्याप्त और परस्पर प्यार की ग्रन्थि बाँधे हुए पामर स्त्री-पुरुषों से आपका सम्बन्ध होना योग्य नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—पुरुषार्थश्चेद्धर्मादिर्भवेत्, उभयातिरिक्तः, तत्र जन्मादयः पञ्च विचारणीयाः। क्षेत्रबीजयोर्नैजात्ये फलानुत्पत्तेः। ननु फलसाधनयोर्जन्मादिकं तुल्यमपेक्ष्यते। अतो लौकिकदृष्ट्यैव यो भवन्तं साधनत्वेन मन्यते, तं प्रत्येवैषा वाचोयुक्तिः, नत्वस्मान् प्रतीति असमतयाऽविवाहकथनं न मां प्रति न त्वां प्रतीति प्रकरणादिदं वाक्यमुत्कर्षमेवार्हति. ननु प्रकरणे केनाप्यंशेन सम्बध्यत इत्यभिप्रायेणाह। त्वं सर्वपुरुषार्थमयः। धर्मादयः पुरुषार्थाः त्वदवयवेषु वर्तन्ते। यथा गङ्गायां जलम्। ततोऽपि गङ्गा महती, तथा भवानिति मयडर्थः। साधनैः साधितास्तत्र भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह फलात्मेति। पुरुषार्थाः साधनरूपा अपि भवन्तीति साधनफलरूपत्वं वा प्रतिपाद्यते। सर्वेषामेव वा फलानां त्वमात्मा। नहि परमानन्दे कश्चित् स्वाधिकारो नास्तीति विलम्बते। भगवतः फलत्वं साधनत्वं चार्षज्ञानेनोक्त्वा लौकिकबुद्ध्या तदनङ्गीकारं मत्वा तेषामप्यनुग्रहाय युक्तिमाह यद्वाञ्छयेति। फलाकाङ्क्षायामेव विरुद्धानां च परित्यागः, साधनानां च ग्रहणम्, ननु फलयोः अन्यफलाकाङ्क्षया। न ह्यन्यत्फलं त्यज्यते, वैषम्यादेकस्य सिद्धत्वादपरस्यासिद्धत्वात्, अतो राज्यं न फलम्, नापि फलसाधनम्, तदुच्यते यद्वाञ्छयापि त्यज्यत इति। ननु तथापि राज्यमैहिकं फलं भवतीति तत्परित्यागे भ्रान्तत्वं स्यादित्याशङ्क्याह सुमतय इति। कृत्यं कर्तव्यम्। साधनसाध्यरूपत्वात् भगवतः स एव ग्राह्यः नत्वन्य इति कृत्यं छेदनमर्हतीति सुमतित्वे हेतुरप्युक्तः। अतस्त्वदर्थमेव ये सिद्धाः, तेषां तव च समाजो युक्त इत्याह तेषामिति। यद्यपि मैत्री विवाहश्च तेष्वपि न सम्भवति, तथाप्येकगोष्ठ्यां सम्बन्धमात्रमपि युज्यत इति तन्निरूप्यते। विभो इति सामर्थ्यम्। राज्यादिपरित्यागिनां परमसुकुमाराणां सन्तोषजनने। सम्यगुचितः समाजः राजमन्त्रिणामिव। सर्वथा आनुगुण्यं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह पुंसः स्त्रियाश्चेति। यथा पुंसः स्त्रियाः समाजः, चकारान्मित्रयोः समानशीलव्यसनयोः। 'अश्वं न त्वा वारवन्तं' इतिवत् उपमार्थवाचकाभावेऽपि निरुक्तादिवोपमार्थत्वमुच्यते। तत्रापि प्रसङ्गं वारयति रतयोरिति। सर्वक्लेशरहितत्वे सत्यन्योन्यं प्रीतयोः। प्रीत्यादिसद्भावेऽपि बाधकं चेद्भवेत्, तदा न भवतीति व्यावर्तयति

सुखदु:खिनोर्नेति । एक सुखी अपरो दु:खी रोगादिना, तयो: कथमपि न समाज: । अनेन दु:खिनो: सुखिनोर्वा समाज उक्त: ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् तो पुरुषार्थ रूप ही हैं, यदि धर्म आदि पुरुषार्थ होवे तो स्त्री पुरुष से अतिरिक्त होना चाहिये, वहाँ जन्म आदि पाँच पदार्थों का विचार करना चाहिये, क्षेत्र और बीज समान जाति के न हों तो फल पैदा नहीं होगा, न कि फल और साधन के जन्म आदि की समानता चाहिये, अत: लौकिक दृष्टि से ही जो आपको साधनरूप मानते हैं उनके लिये ही इस वाणी की युक्ति है, न कि हम लोगों के लिये है, असमान से विवाह न करना यह युक्ति आपके और हमारे लिये नहीं है क्योंकि साधन प्रकरण से ही यह वाक्य उत्कर्ष के योग्य है, न कि इस फल प्रकरण में किसी भी अंश से सम्बन्ध रखता है. क्योंकि आप ही सर्व पुरुषार्थ रूप हैं, धर्म आदि पुरुषार्थ आपके अवयवों में रहते हैं, जैसे गङ्गा में जल, जल से गङ्गा महान् है, वैसे ही आप पुरुषार्थों से महान् हैं, इसलिये[1] 'पुरुषार्थमय' पद मे मयट् प्रत्यय दिया है, पुरुषार्थ, साधनों से वहाँ सिद्ध होंगे ? यह शङ्का कर उत्तर देती है कि 'फलात्मा' पुरुषार्थ साधन रूप भी होते है, यों साधन और फल रूप का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा सब फलों की आत्मा आप हैं यों भी नहीं है, कि परमानन्द में कुछ भी अपना अधिकार नहीं हैं, इसलिये विलम्ब करते हैं, आर्ष ज्ञान से यह बताया, कि भगवान् ही साधन तथा फल हैं लौकिक बुद्धि से उनको न मान कर, उनके भी अनुग्रह के लिये युक्ति कहती है, 'यद्वाञ्छया' जब फल प्राप्त करने की इच्छा होती है, तब उसकी प्राप्ति में जो विरुद्ध कर्म हैं, उनका त्याग करना पड़ता है और साधनों को ग्रहण किया जाता है न कि अन्य फल की इच्छा से सिद्ध हुए फलों का त्याग किया जाता है, फलों में विषमता है क्योंकि एक सिद्ध है दूसरा सिद्ध नहीं है. इस कारण से जो सत्य सिद्ध फल है उसका त्याग नहीं किया जा सकता है. अतः राज्य न फल है और न साधन है. इसलिये कहा है कि जिस फल की प्राप्ति की इच्छा से राज्यादि को छोड़ दिया जाता है, शङ्का होती है, कि राज्य ऐहिक फल तो है, उसके त्याग से क्या भ्रान्तपन होगा? जिसके उत्तर में कहा कि 'सुमतयः' जो राज्यादि का त्याग करते हैं, वे ज्ञानी है. अत: भ्रान्त नहीं होते हैं. अब सुमतिपन में हेतु कहती है कि, कर्त्तव्य, साधन और साध्यरूप होने से भगवान् को वह ही ग्रहण करता है न कि दूसरा कोई. इसलिये कृत्य का भावार्थ छेदन है, संसारासक्ति को तोड़ डालना, अत: आपके लिये ही जो, संसार तोड़ कर आपकी शरण लेकर सिद्ध हुवे हैं, उनका और आपका समाज ही उचित है, यद्यपि मैत्री और विवाह उनमें भी नहीं बन सकता है, तो भी एक गोष्टी में सम्बन्ध मात्र भी बन जाता है, इसलिये वह निरूपण किया जाता हैं, हे विभो ! संबोधन से सामर्थ्य प्रकट किया है, राज्य आदि का त्याग करने वाले, बहुत सुकुमारों के सन्तोष करने में यह समाज राज मन्त्रियों के समान अच्छी तरह उचित है, सर्व प्रकार उनकी समानता प्रतिपादन करने के लिये दृष्टान्त देती है, 'पुंस: स्त्रियाश्च' जैसे पुरुष और स्त्री का समाज, 'च' पद से समान शील और व्यसनवाले मित्रों का समाज, 'अश्वं न त्वा वारवन्तं' इस वाक्यानुसार, उपमार्थ को कहने वाले पदों के अभाव होते हुए भी निरुक्त की तरह उपमार्थत्व कहा जाता हैं, वैसे यहाँ भी, वहाँ भी प्रसङ्ग को 'रतयो:' कह कर निषेध करती है । सर्व प्रकार के क्लेश रहित होने पर, परस्पर प्रेम वाले, यदि प्रेम आदि होते हुए भी बाधक हो पड़े

१—पुरुषार्थों से आपकी महत्ता दिखाने के लिये,

तो, तब नहीं होता है, सुखदुःखितोर्त' एक सुखी है, दूसरा रोग आदि से दुःखी है, उनका समाज रस-जनक नहीं बन सकता है, इससे दोनों सुखी अथवा दोनों दुःखी हो तो समानताओं में समाज बनता है ॥३८॥

आभास—यदप्युक्तं 'भिक्षुभिः श्लाघिता मुधे'ति अज्ञानसमर्थनार्थम्, तत्रापि निर्णयमाह त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिरिति ।

आभासार्थ—यह भी जो आपने कहा कि भिक्षुओं ने व्यर्थ मेरी अज्ञान समर्थनार्थ बड़ाई की है, इस विषय का भी त्वं न्यस्तदण्ड श्लोक से निर्णय देती है ।

श्लोक—त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेग-
ध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये ॥३९॥

श्लोकार्थ—आपने कहा हमें भिक्षुक व्यर्थ में सराहते है, किन्तु वे साधारण भिक्षुक नहीं है, किन्तु जो सर्व त्याग कर सन्यास ले मुनि हुए हैं, वे आपकी प्रशंसा करते हैं, आपने कहा तुमने मुझे भूल से वरा है, किन्तु मैंने भूल से नहीं बल्कि उनको वरा है, जो आत्मा रूप से सबको प्रिय लगते हैं और जो आत्मा का दान भी करते हैं, आप हो वह हैं, ऐसा जान आपको वरा है। मैंने बहुत आगा-पीछा विचार कर और आपके स्वरूप को पहचान कर वरा है, दूसरों की तो बात ही क्या ? परन्तु ब्रह्मा, शिव इन्द्रादि भी जिनकी भ्रुकुटी से प्रेरित काल के वेग से नाश हो जाते हैं, ऐसे आपको जानकर, उनको छोड़, आपको वरा है ॥३९॥

सुबोधिनी—भिक्षुभिः परमहंसैरिति व्याख्येयम् । मुधेति फलाकाङ्क्षारहितैश्च । अन्यथा नारदादिषु लौकिकभिक्षुकत्वाभावात् बाधितार्थता स्यात् । अन्ये च भिक्षवः न श्लाघां कुर्वन्ति । तदाह । न्यस्तो दण्डो भूतेषु यैः। अनेन दोषाभाव उक्तः । ते च ते मुनयश्चेति गुणाः । व्यक्तवाण्या आराधकत्ववचने (उक्तः) अनुभावो यस्य । श्लाघामात्र न किन्तु यथा कृत तथेत्यनुभावपदेनोच्यते। तत्स्वानुभवसिद्धं तेषाम् । अन्यथा कथं तादृशा जाताः । अतस्तेषां वचनं सार्थकमिति तद्वाक्यैर्ज्ञात्वा भवान् सम एव वृतः । समत्वे हेतुरात्मेति । यथा बहिर्दृष्टौ समत्वापादका जन्मादयः, तथान्तर्दृष्टावात्मत्वमेव ; न हि कस्यचिदपि स्वात्मा न समः । तर्हि वरणेन किमित्यत आह आत्मदश्चेति । जीव . खण्डितात्मान एव स्थिताः । तेषामात्मानं स्व त्मान वा प्रयच्छतीति । अनेन त्वं स्वात्मान दास्यसीति ज्ञात्वैव मया वृत इत्युक्तम्। चकाराद्धर्मादीनपि । नन्वहं कथं तव.त्मेत्याशङ्क्य साधारण्येनाह जगतामिति । इति बुद्ध्यैव वृतः । अत एव तेऽपि परित्यक्ता इत्याह हित्वा भवद्-

भ्रुव उदारितकालवेगध्वस्ताशिष इति । न केवलं मयेदानीमेव भवान् वृतोऽन्यपरित्यागेन, किन्तु पूर्वमेव लक्ष्मीस्वयंवरे अब्जभवनाकरतिप्रभृतीन् परित्यज्य जन्मैश्वर्योत्कर्षयुक्तान् भवानेव वृत इति सम्बन्धः । तेषां परित्यागे हेतुमाह । भवतो भ्रूः कालजनिका, तस्याः सम्बन्धी, तेनैवोदीरितो यः कालः, तस्य वेगेन ध्वस्ताः आशिषो येषाम् । क्षणमपि विसम्मतौ भ्रूवक्रतायां सर्वनाश एव तेषां भवतीति किं तेषां वरणेन । नहि मुमूर्षुः कयाचिद्व्रियते । ब्रह्मादीनामेव चेदियमवस्था, कुतोऽन्ये वरणयोग्या भवन्तीत्याह कुतोऽन्ये इति । अतो ज्ञात्वैव भवान् वृतः । नाप्यन्ये वरणीयाः । अन्यद्भगवदुक्तं नास्माकं बाधकम्, उदासीनत्वं च आत्मात्मदत्वेन अस्मदिष्टमेव । अहमपि तथा भविष्यामीति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—'भिक्षुभि', पद का अर्थ परम हंस करना चाहिये, और 'मुधा' का अर्थ फल की इच्छा रहित करना चाहिये अर्थात् जो सांसारिक फल की इच्छा त्याग परमहंस बने है, वे भिक्षुक हैं यदि यों अर्थ किया जायेगा, तो नारद आदि मुनिओं में लौकिक भिक्षुत्त्व न होने से आपका कहना बाधित अर्थ वाला हो जायगा और जो दूसरे साधारण भिखारी हैं, वे तो आपका गुण गान नहीं करते हैं, इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं कि जिन परमहंस मुनियों ने भूतों पर भार छोड़ स्वयं दोष रहित हो गये हैं, वे मुनि स्फुट वाणी से गुणों द्वारा आपका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट कर रहे है, केवल बड़ाई नहीं कर रहे है, किन्तु जैसा भी किया है, वैसा ही अनुभाव प्रकट कर रहें हैं, वह जो कुछ उन्होंने प्रकट किया है वह उनका अपने अनुभव से सिद्ध है, यदि इस प्रकार अनुभव न किया हो तो, ऐसे मुनि परमहंस कैसे बन सकें, अतः उनके कहे हुए वचन सार्थक सत्य हैं, उनके वचनों से जानकर, आप सम हो इसलिये मैंने आपको वरा है, समान कैसे ? जिसका उत्तर देती हैं, कि आप सबकी आत्मा होने से मेरी भी आत्मा हैं, यह सम में हेतु है जिस प्रकार बाहर की दृष्टि से समानता बताने वाले जन्म आदि हैं, वैसे ही अन्तर्दृष्टि में समता सिद्ध करने वाला 'आत्मपन हो' है, किसी को भी अपनी आत्मा समान नहीं है, यों नहीं है, किन्तु सम ही है, तो फिर वरण की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर देती है कि आप केवल आत्मा नहीं किन्तु आत्मा देने वाले भी हैं,जीव खण्डित आत्मा वाले हैं क्योंकि पूर्ण आत्मा सत् चित् और आनन्द रूप हैं, जीवात्माओं में आनन्दांश तिरोहित होने से वे खण्डात्माएँ हैं, उनको[1] आत्मा को आप अपनी आत्मा, यानि आनन्दांश देते हो । इससे मैंने समझा, आप अपनी आत्मा देंगे, इसलिये मैंने आपको वरा है 'च' शब्द से से यह भी बताया कि अपने धर्मादि भी दोगे ? मैं तुम्हारी आत्मा कैसे ? इसका उत्तर साधारण रीति से देती है कि 'जगताम्' सब की आत्मा हो जिससे मेरी भी हो, इस बुद्धि से हो वरा है, इसलिये उन ब्रह्मादि को भी छोड़ आपको वरा, मैंने ही उनका त्याग कर आपको वरा यों नहीं है, किन्तु मुझ से पूर्व हो लक्ष्मी स्वयंवर में जन्म और ऐश्वर्य आदि से युक्त ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि को छोड़ लक्ष्मी ने भी आपको ही वरा था, तूने और उसने ऐसा क्यों किया ? जिसका उत्तर देती है कि क्षण भी विस्मृति होने से आपके भ्रुकुटि रूप काल के वेगसे ही उनका[2] सर्व नाश हो जाता है, उनके वरण से क्या लाभ ? कोई भी स्त्री जो मरने वाला है उसको नहीं वरती है, जब ब्रह्मा आदि को यह दशा है तो दूसरे 'वरण' योग्य कैसे होंगे, अतः जानकर ही आपको वरा है, दूसरे वरण योग्य भी नहीं है, भगवान्

१- जीवों के २- ब्रह्मादि देवों का ।

का कहा हुआ वाक्य हमको वरने में बाधक नहीं है और उदासीनत्व भी बाधक नहीं है, क्योंकि आप आत्मा और आत्मा को देने वाले होने से मुझे (हमको) इष्ट ही हो कारण कि मैं भी वैसी बन जाऊँगी ॥३९॥

आभास—एवं बाधकानि पदानि साधकत्वेन व्याख्याय, वाक्यार्थं चोक्त्वा, यथाश्रुतं भगवद्वाक्यं लोकदृष्टिपरत्वेऽपि विरुध्यते, तस्माद्वाक्यानि विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयन्तीति वक्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **जाड्यं वच** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाधक पदोंका साधनपन से विवेचन कर और वाक्य का तात्पर्य कह कर, सुने हुए भगवद्वाक्य लोक दृष्टि से भी विरुद्ध भासते हैं, इससे विपरीत होने से अपने उत्कर्ष ही प्रतिपाद करते है, यों कहना चाहिये, इस अभिप्राय से 'जाड्यं वचः' श्लोक कहती है ।

श्लोक—जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान्
विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मां त्वम् ।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं
तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे गदाग्रज ! शार्ङ्गधनुष के टङ्कार से राजाओं को भगाकर, जैसे सिंह अपना भाग पशुओं को भगाकर ले आता है, वैसे ही मुझे आप ले आए हैं, उनसे डर कर भय के मारे आपने समुद्र की शरण ली है, यह कहना वाणी की ही मूर्खता है ॥४०॥

सुबोधिनी—अतः परं पुनः सर्वे श्लोकाः लोकदृष्ट्यापि विरुध्यन्त इति व्याख्यास्यते । यतो विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयेयुः । तदा ध्वनिपरत्वेन तान्येव वाक्यानि योजितानि भवन्ति । यदुक्तं प्रथमत एव 'राजभ्यो बिभ्यत' इति, तत्रोत्तरमुच्यते । 'मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितु'मिति भगवतोक्तत्वात्तामसप्रकारेणापि क्रोधाविष्टा वाक्यानि खण्डयतीति पूर्वस्माद्विशेषः । भयं हि जडस्य भवति । जाड्यादेव कम्पो दृश्यते । तत्र भगवति भयहेतोरभावात् वक्तुर्भयवाचकः शब्दः । भट्टानामिव शब्दस्यैव शक्तिद्वयं परिकल्प्य वक्तृत्वं वाच्यत्वं च । सार्थकता सम्पादनीयेत्याह जाड्यं वच इति । वच एव जाड्यं जडता भीतत्वमिति यावत् । तवेति भेदार्थमसमासः । ननु विद्यमाने वक्तरि मुख्यार्थं परित्यज्य वचोजडता कथं सम्पाद्यत इत्यत आह गदाग्रजेति । यथा गदोत्पत्तिपर्यन्तं स्वयमभीतोऽपि क्रियां जडां सम्पादितवान्, एवं वाचमप्यत्र तथा सम्पादयति । तेन भगवदिच्छयैव तथा कायिकवाचिकयोर्जातत्वान्न किञ्चिद् दूषणम् । वच इति वाच इति वचस इति वा छान्दसम् । अथवा । केनचिद्धर्मेण ज्ञानाभावेन लोके जडो भवति । प्रकृते तु जडत्वसम्पादकत्वं वच एव । केवलं वाक्यादेव प्रतीयते जाड्यम्, न स्वर्थत इत्यर्थः । चकारात् । पूर्वं बहुधा भगवज्जयं समुच्चिनोति । यस्त्वं भूपान् शार्ङ्गनिनदेनैव विद्राव्य,पशुतुल्यान्

कृत्वा, मां जहर्थ। पशव एव हि शब्दमात्रेण पलायन्ते। पूर्वं निनदेनैवाभिभूय समाहृता, पश्चात् युद्धार्थं प्रवृत्तौ बलेन सर्वे हृता इत्यविरोधः। ये हिशब्दमात्रेण पलायन्ते, तेन तेभ्यो भयं सम्भाव्यते। शार्ङ्गनिनदेनेति हेतुरत्रोक्त इति पूर्वं धनुष्टङ्कारं कृतवानिति लक्ष्यते। राजन्यचक्रं परिभूयेत्यत्र शार्ङ्गनिनदेनेति योजनीयम्। दैवाद्गृहीत्वा अनवहितेषु तेषु समागत इति पक्षं व्यावर्तयति सिंहो यथेति। बलाद्ग्रहणदोषं व्यावर्तयति स्वभागमिति। अदत्तस्यापि ग्रहणे दोषाभावं सामर्थ्यं चाह ईशेति। यथा क्लृप्तोऽपि भागो दैवैर्न गृह्यते, अहुतश्चेत्, तथेश्वरो न भवतीत्यर्थः। लोके स्वभागस्य बलादपि ग्रहणं दृष्टेमिति। मां त्वमिति प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम्। पशूनिति सिंहव्यावृत्तिः। न हि सिंहस्य कन्या सिंहेन बलाद्ग्रहीतुं शक्या। यद्यपि स्वभागरूपा। देवादीनां रक्षाभावाय स्वबलिमिति। स्वार्थमेव देवैः क्लृप्तमिति। यथा सिंहः पशून् विद्राव्य, स्वभागभक्षकान् व्याघ्रादीन् नादेनैव निवार्य, स्वभाग कुम्भस्थलस्थमांसं हरति, एवं निःशङ्कं हृतवतः ते कथं भयमिति। भयवाक्यमनुवदति, विरुद्धार्थमिति वक्तुम् तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्न इति। यस्मात्तेभ्यो भयात्त्वमुदधिं शरणं प्रपन्नः, अस्माद्वचो जाड्यमित्यर्थः। उत्तरवाक्यगतो यच्छब्दः तच्छब्दं नापेक्षत इति न तच्छब्दाध्याहारः। पशुतुल्येभ्यो विद्रावितेभ्यो भयवचन बाधितार्थं भवत्येवेति विपरीततयैवार्थो वक्तव्य इति भावः। अनेनैव 'बलवद्भिः कृतद्वेषा'निति व्याख्यातम्। न हि पशवः पलायनपरा बलवन्तो भवन्ति। स्वयमेव त्यक्तनृपासनत्वमुत्कर्ष एव ॥४०॥

व्याख्यार्थ—इसके बाद सब श्लोक लोक दृष्टि से भी विरुद्ध हैं, इसलिए फिर उनकी व्याख्या करती है; क्योंकि वास्तव में वे श्लोक विपरीत व्याख्या से अपना उत्कर्ष ही प्रतिपादन करते हैं, तब वे वाक्य ध्वनि पर होने से उनकी योजना उसी प्रकार से करनी ही चाहिए। पहले ही जो कहा कि राजाओं से डरकर हमने समुद्र की शरण ली है, इसका उत्तर देती है- 'प्रेम प्रकोप से कम्पित अधर वाले मुख को देखने के लिए' यह भगवान् की कही हुई वाणी है, वह तामस प्रकार से क्रोधाविष्ट होकर वाक्यों को खण्ड-खण्ड करती हैं, इसलिए पहले से विशेष है। भय जड़ को होता है, जड़ता से कम्पन होता है, भगवान् में तो भय के हेतु का अभाव है, वक्ता का शब्द भयवाचक है अर्थात् शब्द में भय रहता है न कि भगवान् में। भट्टों की तरह शब्दों की दो वृत्ति वक्तृत्व और वाचत्व की कल्पना कर वाणी की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए, इसलिए कहा है 'जाड्यं वचः' वाणी में ही जड़ता और भीतत्व है न कि वक्ता में जड़ता अर्थात् भय है। 'तव' समास कर नहीं कहा, जिसका कारण है कि भेद दिखाना था यानि वाणी से भय है, वक्ता में नहीं है। 'ननु' शङ्का होती है कि वक्ता उपस्थित है तो भी मुख्य अर्थ को छोड़कर वाणी की जड़ता कैसे प्रतिपादन की जाती है? इसलिए कहती है कि गदाग्रज! आप गदाग्रज होने से जैसे गद् की उत्पत्ति तक आपने निर्भय होते हुए भी जड़ क्रिया का सम्पादन किया था, वैसे ही यहाँ वाणी का भी सम्पादन किया है, इससे भगवान् की इच्छा से ही कायिक, वाचिक की उत्पत्ति होने से किसी प्रकार दूषण नहीं है। वच, वाच वा वचस वो छान्दस है अथवा किसी धर्म से, ज्ञान के अभाव से लोक में जड़ होते हैं, प्रकृत में तो जड़पन का सम्पादकत्व वाणी का ही है, केवल वाक्य से ही भय प्रतीत होता है न कि अर्थ से। 'च' पद से यह सूचन करती है कि भगवान् की बहुत प्रकार से जय हुई है, जो आप शार्ङ्ग धनुष की ध्वनि से ही राजाओं को

डराकर पशु के समान बताकर मुझे ले आए, पशु ही केवल शब्द से डरकर भाग जाते हैं, प्रथम ध्वनि से ही दबाकर बुलाए थे, पश्चात् युद्ध के लिए प्रवृत्त होने पर बल से सबको मारा, इसलिए कोई विरोध नहीं है, जो शब्द मात्र से भाग जाते हैं, उनको उससे भय की सम्भावना होती है। धनुष के ध्वनि से ही यह हेतु यहाँ बताया है, जिससे यह जाना जाता है कि पहले धनुष की टङ्कार की है। 'राजन्य चक्रं परिभूय इति' इसमें यहाँ 'शार्ङ्ग निनदेन' इसकी योजना करनी चाहिए, वे असावधान थे, इसलिए देववश मुझे ले आए, इस पक्ष का खण्डन करती है कि जैसे सिंह बलपूर्वक बलि को ले आता है, वैसे छीन लाना तो दोष है, इसके उत्तर में कहती है कि दोष नहीं है; क्योंकि आप अपना भाग ले आए हो, दूसरे का भाग ले आते तो दोष था, नहीं दिए हुए को लाने में भी आपको दोष नहीं है और आपने इससे अपना सामर्थ्य प्रकट किया, इसको सिद्ध करती है कि 'ईश' आप स्वामी हैं, जो भाग होमा नहीं गया है, वह क्लृप्त भाग भी देवता नहीं लेते है। ईश्वर यों नहीं करते है, लोक में अपना भाग बलपूर्वक ले लेना देखा गया है जैसे आप मुझे बलपूर्वक लाए हो यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। सिंह पशुओं को ले आता है; क्योंकि वे उसका भाग है, किन्तु सिंह एक सिंह की कन्या को बल से नहीं ला सकता है, यद्यपि अपना भाग है, देवादिकों की रक्षा के अभाव से अपनी बलि है, यों समझ लाए हो, अपने लिए ही देवों से। जैसे सिंह अपना भाग ले जाकर खाने वाले पशुओं को डराकर नाद से ही भगाकर अपना भाग जो गण्डस्थल का मांस है, उसको ले जाता है। इस प्रकार बिना सङ्कोच के निडर हो ले आने वाले आपको भय कैसे? आप विरुद्ध अर्थ को बताने के लिए भय के वाक्यों का केवल अनुवाद करते हैं, उनके डर से आपने समुद्र की शरण ली है, यों कहना केवल वाक्यों का जाड्य यानि अज्ञान है, श्लोक के उत्तर भाग में जो यह शब्द आया है, वह 'तत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए यहाँ तत् शब्द के अध्याहार[1] की आवश्यकता नहीं है, पशु तुल्य जो डराये गए हैं, उनके लिए भय वचन बाधितार्थ होते हैं, इसलिए विपरीतपन से अर्थ कहना चाहिए, यह भाव है, इस कारण से ही 'बलवद्भिः कृतद्वेषात्' यों कहा है। जो पशु भाग जाते हैं, वे कभी बलवान् नहीं होते हैं, आपने आप ही 'राज्यासन' छोड़ दिया, जिसमें आपका उत्कर्ष ही है॥४०॥

आभास—यदुक्तं भगवता 'अस्पष्टवर्त्मना'मिति 'तन्मार्गानुवर्तिनः सीदन्तो'ति, तत्राप्यन्यार्थप्रतीतेः अवाक्यार्थधीजनकत्वात् ध्वनिप्रकारेणैव निर्णय इत्याह **यद्वाञ्छयेति**।

आभासार्थ—भगवन् आपने जो यह कहा कि हमारा मार्ग अस्पष्ट है और उस मार्ग पर चलने वाले दुःखी होते हैं, इन वाक्यों में भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वाक्य का अर्थ ज्ञानजनक न होने से इसका निर्णय ध्वनि प्रकार से करना चाहिए। वह 'यद्वाञ्छया' श्लोक में कहती है।

श्लोक—**यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-**
जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम्।

१- बाहर से लाने की

राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष
सीदन्ति तेऽनुपदवीं त इहास्थिताः किम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—आपने जो कहा हमारे मार्ग का जो आश्रय लेते हैं, वे दुःखी होते हैं, यों कहने का भावार्थ अन्य है; क्योंकि राजाओं के शिरोमणि अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति, गय आदि राजा आपका भजन करने के लिए चक्रवर्ती राज्य छोड़ वन में गए। हे कमल नयन! जो आपके मार्ग का इस प्रकार आश्रय लेते हैं, क्या वे दुःखी होते हैं? नहीं, किन्तु आपके स्वरूपानन्द को प्राप्त करते है ॥४१॥

सुबोधिनी—योषित इति पदमुपलक्षकम्। तेन पुरुषा अपि सीदन्तीति वक्तव्यम्। स्त्रीपदमप्रौढानन्यवृत्तीति। अवसादस्तत्रैव लयः। भगवानग्रे गत इति तेन मार्गेण जिगमिषया राज्यादिकं विसृज्य, राज्यादिभ्यो भगवद्दर्शनं महदिति तद्वाञ्छया नृपशिखामणयः अम्बरीषप्रभृतयः वनं विविशुः। भगवति समागतेऽपि ते न समागता इति पूर्वमपि न व्याघुट्याऽऽगता इति पदवीमन्वेव अवसन्नाः भगवन्मार्ग एव मार्गप्रदर्शका इव स्थिताः। अन्यथा भगवन्मार्गो न प्रवर्तेत। अतः अवसादवाक्यं यथार्थम्. तथापि बहव एव प्रवर्तन्त इति न दूषणम्। नन्वेकत्र निरूपणे कृते कथं सर्वत्र युज्यते, तत्राह ते इहास्थिताः किमिति। ते अङ्गादयः। अङ्गः पृथोः पितामहः। वैन्यः पृथुः। जायन्तो भरतः जयन्त्याः पुत्रः। नाहुषो ययातिः। गयः प्रियव्रतवंशजः। एते इह आस्थिताः किम्, आमरणान्ते किं गृह एव स्थिताः, अपि तु वने प्रविष्टाः। तत्रैवावसन्नाः। तेन विपरीतार्थे ये गृहे स्थिताः, त एवावसन्नाः, नतु त इति वाञ्छामात्रेण स्वकीयं सिद्धमपि राज्यं परित्यजन्ति। वने स्वावसादमपि सहन्ते। तत्र भगवन्तं प्राप्य अधमराज्यपरित्यागः किमाश्चर्यमिति भावः॥४१॥

व्याख्यार्थ—'योषित' यह पद उपलक्षक[1] मात्र है, इससे पुरुष भी दुःखी होते हैं, यों कहना वा समझना चाहिए। स्त्री पद प्रौढ़ा[2] में अनन्य वृत्तिवाला नहीं है, इसलिए पुरुष भी समझे जाते हैं। 'अवसादः' का अर्थ है-वहाँ ही लय होना, भगवान् आगे गए, उस मार्ग से जाने की अभिलाषा से राज्यादि का त्याग कर राजाओं के शिरोमणि अम्बरीष आदि वन में गए; क्योंकि उनको भगवद्दर्शन की इच्छा थी, भगवान् के दर्शन राज्यादि से महान् हैं। भगवान् पृथ्वी पर पधारे तो भी वे वहाँ आनन्दमग्न होने से यहां फिर लौट न आए, पहले भी पीछे लौटकर न आए, किन्तु जब आए तब प्रभु चरणारविन्द में लीन होकर भगवन्मार्ग दिखाने वालों की भाँति स्थित रहे, यदि वे न आकर यों न रहते तो भगवान् की प्राप्ति का मार्ग प्रवृत्त न होता, अतः आपका कहा हुआ दुःख का वाक्य यथार्थ

१- अन्य सम्बन्धी का भी ज्ञान कराने वाला है। जैसे कहा जाय कि कौओं से दही की रक्षा करो, जो इसका भावार्थ अन्य कुत्ते आदि से भी दही की रक्षा कीजिए। इसको 'उपलक्षक' कहते हैं।

२- प्रौढ़ा पद पाठ है, यों पुस्तक में फुट नोट में दिया है।

है, तो भी बहुत उस पर चलते हैं, इसलिए दूषण नहीं है, एक स्थान पर कहा हुआ सर्वत्र कैसे जोड़ा जाता है ? इसका उत्तर देती है कि 'ते इहास्थिता: किम्' वे अङ्ग आदि यहाँ घर में ही सदैव रहे क्या ? नहीं रहे। अङ्ग राजा पृथु का दादा था, 'वैन्य पृथु' है, 'जायन्त' जयन्ती का पुत्र भरत है, 'नाहुष' ययाति है, 'गय' प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न कोई राजा हुआ है। वे क्या मरण पर्यन्त घर में ही रहे ? घर में नहीं रहे, किन्तु आपको पाने के लिए वन में जाकर रहे, वहाँ ही मृत्यु को प्राप्त हुए, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लौकिक के लिए घर में हो रहे, सचमुच ये मरे, वे तो मरे नहीं; क्योंकि स्वत: प्राप्त राज्य का त्याग कर वन में कष्ट भी सहन करते हैं, किन्तु भगवान् के आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं, जिससे अधम राज्य का छोड़ना एवं वन के श्रम को सहन करने में उनके लिए कौनसी आश्चर्य की बात है ? यह भाव है ॥४१॥

आभास—'निष्किञ्चना वयं शश्व'दिति भयन्यायेनैव निवारितमपि लक्ष्म्याश्रयत्वेन तन्निवारयन्नाढ्याभजनमपि विपरीततया व्यावर्तयति **कान्यं श्रयीतेति ।**

आभासार्थ—'निष्किञ्चना वयं शश्वत्' यों भय न्याय से ही निवारण किया हुआ भी लक्ष्मी के आश्रयत्व से उसको हटाते हुए आढ्य के भजन न करने को भी विपरीत होते हुए दूर करती है 'कान्यं श्रयीत' इस श्लोक से।

श्लोक—**कान्यं श्रयीत तव पादसरोजगन्ध-**
माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्ग्यम् ।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालय-
स्य मर्त्यो सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टि: ॥४२॥

श्लोकार्थ—हम निष्किञ्चन हैं, इसलिए तू किसी योग्य आढ्य क्षत्रिय को वर ले, यह आपका कहना तब मैं मानूँ, जब आपके गुणों के आश्रय चरण कमल की गन्ध का रस न लिया हो, जगत् में कौनसी स्त्री है, जो आपके चरण कमल की गन्ध को लेकर फिर दूसरे का आश्रय करे; क्योंकि आपका चरण लक्ष्मी का निवास स्थान है, सत्पुरुषों ने उनकी महिमा गाई है, लोगों के मोक्ष का स्थान है और गुणों का आश्रय है, ऐसे चरणों को त्याग, सदैव मृत्यु से दबे हुए स्वार्थी अन्य को कैसे वरेगी अर्थात् नहीं वरेगी ॥४२॥

सुबोधिनी—का वा स्त्री तव पादसरोजगन्धमाघ्राय अन्यं लशुनामेध्यरूपं आश्रयेत। अनेनोत्कर्षविषय: तत्र स्वरुचिश्चे ति निरूपितम्। क्वचिन्निन्दितमप्येतादृशं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सन्मुखरितमिति। सद्भिर्मुखरवत् भगवच्चरणारविन्दो वर्णित इति। फलसाधकत्वमाह **जनतापवर्ग्यमिति।** जनताया: प्राणिमात्रस्य आपवर्ग्यमपवर्गमभिव्याप्य यावत्सुखं तत्सर्वं **यस्मादिति।**

प्रमाणं फलं चोक्तम्। किञ्च। स्त्रीणां मुख्या लक्ष्मीः सम्पत्तिरूपा च। तस्यास्तदेव गृहमिति स्त्रीभिः सर्वाभिस्तत्रैव स्थातव्यम्। नन्वेवं सति कथं सर्वासामन्य एव भर्तारः। तत्र तुशब्देन पूर्वपक्षं निराकरोति अविगण्ययेति। समागतमुपस्थितं भगवन्तमविगण्य्य क्वापि नान्यं श्रयते। किञ्च। मर्त्या स्वयं मरणधर्मा मरणनिवर्तकमात्मदं भगवन्तमेव सेवितुमर्हति, न तु सदोरुभयं सर्वदैव कालादेः सकाशात् अधिकं भयं यस्येति। महद्भयं मरणात्मकम्। स्वस्य कदाचिद्वा तद्भवेत्। सेव्यस्तु सर्वदैव तादृशभयवानित्यभजनेहेतुरुक्तः। किञ्च। गुणालयस्य तव। अनन्तगुणानामालयरूपो भवानेव। ततो या गुणरूपा भविष्यति सा त्वामेव श्रयते, दोषरूपा त्वन्यमिति स्थितिः। ननु बह्व्य एव गुणरूपाः अन्यमपि भजन्ति. अन्यथा भगवत्यमानकाले अन्येषां विवाहो न स्यात्, तत्राह। अर्थे विवक्ता दृष्टिः यस्या इति। अविचारेण अर्थविवेचनासामर्थ्येन वा अन्यभजनम्। प्रयोजनतारतम्यदृष्टौ तु मर्त्यायाः गुणरूपायाः लक्ष्म्यंशायाः पूर्वोक्तन्यायेन भगवदाश्रयणमेव युक्तमित्यर्थः। अनेन समताविवाहः साधारणः, उत्कृष्टविवाह एव कर्तव्य इति 'तयोर्विवाहो मैत्री' इति पक्षः पतिहतः। अन्यथा लक्ष्म्यादीनां विवाहो नोपपद्येत ॥४२॥

व्याख्यार्थ—कौनसी ऐसी स्त्री है, जो आपके चरण कमल की गन्ध लेकर, लहसुन की दुर्गन्ध समान अन्य को वरना चाहेगी ? इससे बताया कि, जो पदार्थ उत्तम है, उसमें ही क्वचित् रुचि होती है, ऐसा निन्दित भी होता है, इसके उत्तर में कहती है, कि इसकी निन्दा, किसी ने भी, कहीं भी, कैसे भी नहीं की है, सर्वथा अनिन्दित ही है, इतना ही नहीं किन्तु सर्वथा श्लाघ्य गुण एवं सुख निधि हैं, जैसा कि चरणों की बड़ाई तो सत्पुरुषों ने इस प्रकार बार बार की है जैसे कोई मुखर बोलते हुए रुकता नहीं है,वैसे सत्पुरुष भी आपके चरणों का गुण गान करते ही रहते हैं तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती है, आपके चरण फल को सिद्ध करने वाले हैं, इसलिये प्राणि मात्र जो भी उनका आश्रय लेता है उसको मोक्ष देते हैं साथ में सर्व प्रकार के सुख भी देते हैं, यों प्रमाण और फल हो तो आपके चरणाश्रय से प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध किया, किन्तु. स्त्रियों में मुख्य लक्ष्मी सम्पत्ति रूपा है, उसका गृह वह चरण कमल ही है इसलिये सर्व स्त्रियों को वहाँ ही स्थिति करनी चाहिये, ननु शङ्का होती है कि यदि यों है, तो सर्व के अन्य पति कैसे हैं ? इस शङ्का निवारण के लिये 'तु' शब्द कहा है, 'अविगण्य्य' आये हुए वा प्राप्त हुए भगवान् का विचार न कर, कोई भी स्त्री, दूसरे का आश्रय न लेगी, विशेष में कहती है कि जो स्वयं मरण धर्म वाले हैं, वे तो, मरण मिटा कर आत्मा देने वाले भगवान् की ही सेवा करने के लिये योग्य हैं। न कि जिनको सदैव काल रूप मरण का महान् भय बना रहता है उनका भजन आश्रय नहीं करना चाहिये, किन्तु गुणालय भय रहित आनन्द रूप एवं आत्मानन्द देने वाले आपका करना चाहिये, अतः जो गुणरूपा होगी वह तो आपका ही आश्रय लेगी,जो दोषरूपा होगी वह दूसरे का आश्रय ग्रहण करेगी, शङ्का होती हैं कि देखा जाता है कि बहुत गुण वालियाँ भी अन्य को वरण करती है यदि यों न होवे तो भगवान् के विराजते हुए दूसरों का विवाह ही नहीं होना चाहिये, किन्तु वह तो होता ही है, इसके उत्तर में कहती है कि, जो तात्पर्य का विचार नहीं कर सकती है,यथार्थ को नहीं जान सकी हैं वे अन्य भजन करती हैं। लक्ष्मी की अंशरूपा होने से जो गुणरूपा स्त्री अन्य को वर लेती है उसके प्रयोजन स्वार्थ में तारतम्य रहता है, किन्तु वास्तव में उसको भगवदाश्रय करना ही उचित है, इससे यह सिद्ध कर बताया कि समानता में विवाह करना यह साधारण नीति विवाह है, इसलिये साधारण ही करते हैं, किन्तु उत्कृष्ट विवाह करना चाहिये, 'उन दोनों का विवाह और मैत्री' इस पक्ष का निराकरण किया है, यदि आपका कहा हुआ यह पक्ष

लिया जाय तो लक्ष्मीजी आदि का विवाह बन नहीं सके, क्योंकि लक्ष्मी आदि और आपकी समानता कहां है ॥४२॥

आभास—'वैदर्भ्येतदविज्ञाये'त्यस्योत्तरमाह तं त्वानुरूपमिति ।

आभासार्थ—'वैदर्भ्येतदविज्ञाय' इस श्लोक का उत्तर 'तं त्वा' श्लोक में देती है ।

श्लोक—तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमा-
त्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रमन्-
त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥

श्लोकार्थ—अतएव सर्व प्रकार योग्य जगत् के स्वामी इस लोक तथा परलोक की कामनाओं के पूरक, आत्मरूप आपको ही मैं वरी हूँ, चाहे मैं अनेक प्रकार की योनियों में भटका करूँ तो भी मेरी यही प्रार्थना है कि वहाँ भी संसार का नाश करने वाला भक्तों को अपना बनाने वाला, आपका चरण कमल ही मेरा आश्रय हो ॥४३॥

सुबोधिनी—अज्ञानेन विवाहे हि अन्यवरणं कर्तव्यं भवेत् । ज्ञात्वैव वृत इति स्वज्ञातमर्थमनुवदति । तं पूर्वोक्तलक्ष्मीपतित्वादिधर्मयुक्तम् । त्वामिति तादृश एवावतारेऽपि न प्रच्युतस्वरूपस्त्वम् । ननु तथापि समविवाह एवोचित इतिचेत् । तत्राह **अनुरूपमिति** । मम तु त्वमनुरूप एव, उत्कृष्टत्वात्, तव परमहं नानुरूपा । तस्मादयमुपालम्भः न मां प्रति वक्तव्यः । किञ्च । अतिनिकृष्टैरपि ईश्वरः सेव्य एव स्वशक्त्यनुसारेण, तदाह **जगतामधीशमिति** । किञ्च । सर्वेषामात्मा सेव्यः । सर्वं स्वार्थमिति । भवांस्त्वात्मा । किञ्च । पुरुषार्थप्रदः सेव्यः । स भवानित्याह **अत्र च परत्र च** कामपूरमिति । चकारादिह लोके परलोकसुखानि प्रयच्छति । स्वर्गादिसुखानि । परलोके च जातिस्मरणादिना ऐहिक फल प्रयच्छतीति चकारौ । काममभिलषितार्थं तस्य पूररूपं पूरयति प्रवाहरूपं वा । ननूक्तं 'वयमुदासीना' इति, अतः कामाभावात् कथं त्वत्कामपूरणमिति चेत् । तत्राह **स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणमिति** । संसारे निराश्रये परिभ्रमन्त्या मम तव चरणः आश्रयोऽस्तु । कामनापूरणाद्यभावेऽपि चरणे आश्रयत्व न विहन्यते । नन्वाश्रयमात्रेण भगवांश्चेन्न किञ्चित्कुर्यात् तदा किं भवेदित्याशङ्क्याह **यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्ग इति** । **अनृतापवर्गो मोक्षः**, विशेषेण **अप्रार्थितोऽपि भगवता** अदत्तोऽपि, भगवद्भक्तमुपयाति, भगवच्चरणामोद इव । अनृतस्य भगवत्यपवर्ग एव । तत्र गतः सीमान्ते गत इव तदभावमवश्यं प्राप्नोति । अतो विशेषफलाभावेऽपि मोक्षस्तु सिद्ध एव इति । ॥४३॥

व्याख्यार्थ—यदि मैंने अज्ञान से वरण किया होता तो आपको न वर कर दूसरे को वरती किन्तु मैंने समझ कर ही वरण किया है, इसलिये अपना जाना हुआ अर्थ कहती है, जो पहले कहे हुए लक्ष्मीपतित्व आदि धर्म से युक्त हैं, उसको वरा है, वह आप अवतार दशा में भी वैसे ही स्वरूप वाले

हैं किसी प्रकार वह स्वरूपच्युत नहीं हुआ है यदि कहो कि तो भी समान में विवाह करना उचित है, जिसका उत्तर यह है कि उत्कृष्ट होने से आप मेरे अनुरूप[1] ही हैं, किन्तु, मैं आपके अनुरूप नहीं हूँ, इस कारण से यह उलाहना मुझे नहीं देना चाहिये, क्योंकि बहुत जो निकृष्ट हैं वे भी अपनी शक्ति के अनुसार ईश्वर की सेवा कर सकते हैं, कारण कि आप समस्त जगतों के ईश है, आप सबकी आत्मा होने से सेव्य है, सब सेवा से स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है, आप तो आत्मा हैं और पुरुषार्थ देने वाले हैं, जिससे सेव्य ही हैं, वह हो आप इस लोक और परलोक की कामनाओं के पूरक हैं, दो चकार देने का भावार्थ यह है कि, एक चकार से बताया कि आप इस लोक में परलोक के सुख भी देते है और परलोक में जाति स्मरण आदि से इह लोक के फल देते हो, एवं अभिलाषित अर्थ को जलरूप से वा प्रवाह रूप से पूरण करते हो, यह जो कहा कि हम उदासीन हैं, अतः हम से कोई कामना नहीं है तो आपकी वा शरण आये हुवों की कामनाऐ कैसे पूरण करूंगा ? यदि यों कहो तो इस पर मेरा प्रार्थना पूर्वक यह कहना है कि संसार में निराश्रय हो कर भ्रमण करती हुई जो मैं हूँ उसका आपके चरण ही आश्रय होवे. कामनाओं की पूर्ति आदि न होने पर भी चरण का आश्रयत्व नहीं टूटता है. अथवा चरण का आश्रय आप नहीं छुड़ाते हैं । यदि केवल आश्रय से भगवान् कुछ भी न करे तो क्या होगा ? यह शङ्का कर कहता है कि, जो भगवद्भक्त भजन करता है उसको यदि भगवान् न देवें और भक्त याचना भी न करे, तो भी मोक्ष स्वतः भगवद्भक्त को पा लेता है अर्थात् शरणागत भक्त का मोक्ष हो ही जाता है जैसे शरणागत को चरण कमल की गन्ध स्वतः मिल जाती है जो भगवान् की शरण गया वह सोमा के अन्त में पहुँचने वाले के समान पार हो ही जाता है, अतः विशेष फल नहीं भी मिले तो भी मोक्ष तो सिद्ध ही है ॥४३॥

आभास—नन्वेतावदेव चेत् प्रार्थ्यम्, तदा विषयभोगानन्तरमन्यभजनेऽपि शास्त्रार्थानुसारेणापि भजने मोक्षो भवेत्. अत उभयं परित्यज्य विषयाधिकारिणः कथं मद्भजनमिति चेत् । तत्राह **तस्याः** स्युरिति ।

आभासार्थ—यदि यों इतना ही है तो प्रार्थना करनी चाहिये, तब विषय भोग के अनन्तर अन्य के शास्त्रानुसार भजन करने से भी मोक्ष होगा, अतः विषयाधिकारी के दोनों कार्यों को छोड़ कर, मेरा भजन कैसे ? यदि यों कहते हो तो जिसका उत्तर 'तस्याः स्युः' श्लोक में है ।

श्लोक—**तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः ।**
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयाता युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीताः ४४

श्लोकार्थ—हे अच्युत! हे शत्रु दमन! आपने कहा कि बड़े बड़े वैभव वाले राजा तुम्हें चाहते थे, उनको न वर मुझे वरा वह उचित नहीं किया, यह आपका कहना उनके लिये योग्य है, जिनके कर्णमूल में आपके गुण न गाये हों वैसी स्त्रियों के वे नृप

१—समान ।

भले योग्य हो, आपने जिन राजाओं का उपदेश दिया, ये तो स्त्रियों के घरों में गधे के समान केवल भार उठाने वाले बैल के समान क्लेश पाने वाले, श्वान के सदृश अपमान सहन करने वाले, बिड़ाल की तरह कृपण एवं क्रूर, सेवक की तरह पराधीन होकर रहते हैं ऐसे वे पति तो मन्द भागिनी जो हो उसको मिलना चाहिये, मैंने तो ब्रह्मादि की सभाओं में गाये हुए आपके गुण सुने हैं, ऐसी मैं आपको छोड़ दूसरों को कैसे वर सकती हूं ॥४४॥

सुबोधिनी—सत्यं या तादृशी प्राकृती, तस्याः पतयः त्वया गणिताः चैद्यादयो भवन्तु सर्वथा विषयपूरकाः। या केवलं विषयानपेक्षते। सर्वा एवापेक्षन्त इति चेत् तत्राह **यत्कर्णमूलं नोपयाता युष्मत्कथा** इति। कथानां कर्णप्रवेशे यथा विषयाभिलाषा गच्छति, तद्वक्ष्यति। कथं राज्ञां सर्वथा विषयपोषकत्वम्, न भगवत इति वैलक्षण्यं निरूपयति **स्त्रीणां गृहेष्विति**। स्त्रीणां शयनभोजनविहारमलत्यागादिगृहेषु ये स्वोत्कर्षं परित्यज्य तत्सेवापरा भृत्या भवन्ति, यथा गृहदासाः। दास्येऽपि चतुर्धा विशेषमाह **खरादिपदैः**। गर्दभो हि तदपेक्षितं जलादिकं तत्कर्तव्यं स्वयं करोति। तथा ये भार्याकर्तव्यं स्वयं कुर्वन्ति निरालस्याः। यथा वा गावो वृषभाः शकटैस्ता वहन्ति दुह्यन्ति वा, स्वसर्वस्वं प्रयच्छन्ति, इष्टदेशेषु स्वयं भारमूढ्वा, तथा ताः प्रापयन्ति। यथा वा श्वानः रात्रौ गृहस्वामिनि शयाने स्वयमनिद्रः तत्पालनं करोति, तथा नीचा भूत्वा शरीरेण पालयन्ति। एवं स्थितिगतिशयनेषु सेवकत्वमुक्तम्। एवमपि सति यदि भोगस्तुल्यो भवेत्, भोगार्थं वा भवेत्, तदा न काचिच्चिन्ता, किन्तु तच्छेषस्य निकृष्टस्यैव तदुच्छिष्टस्य तदनुपयुक्तस्य वा भोग इति बिडालदृष्टान्तमाह। स हि स्त्रीणां पादयोः भक्षणयाचनार्थं अनेकां चेष्टां करोति, ततस्ता दुग्धं पीत्वा भाण्डनिर्यासमिव प्रयच्छन्ति कदाचित्, तथा ये निकृष्टा नियतभोगाः तादृशैरेव स्त्रीणां भोगः सम्पादयितुं शक्यते। विषयाभिलाषिण्यः तादृशमेवापेक्षन्ते। कथः कर्णे साधारण्येन प्रविशन्ति सर्वेषामेवेति यादृशप्रवेशेन कार्यं कुर्वन्ति तद्वक्तुमाह **कर्णमूलमिति**। अन्तःप्रवेशे मूलसम्बन्धः कथानाम्। विषयाभिलाषनाशकत्वे हेतुमाह **अरिकर्षणेति**। विषं यान्तीति विषयाः अरयः तान् कर्षत इति शत्रुनाशको विषयनाशको भवति। तत्कथास्तद्रूपाः। ता अप्यच्युताः स्वनाशशङ्कारहिताः। विषयैस्तन्नाशः कर्तुं न शक्यत इति। तत्रापि बहुरूपाः एकरूपाद्भगवतोऽतिबलिष्ठाः। तत्राप्युप समीपे स्वयमेव समागता बह्व्यः। **युष्मत्कथा** इति समासेन तासां नित्यं भगवत्सहभाव उक्तः। तासां विषयनिवर्तकत्वे युक्तिमुक्त्वा, प्रमाणमाह **मृडविरिञ्चसभासु गीता** इति। प्रलयोत्पत्तिकर्तारौ तौ। तदुभय तदधीनमेवेति तेषामपेक्षितम्। तत्सभासु गीयते, यत्तयोर्दुर्लभमभिलषितं च। प्रत्यहं क्रियमाणासु सर्वास्वेव सभासु भगवत्कथा एव गीयन्ते। अनेन तयोरपि उत्कृष्टो भगवानिति निरूपितम्। ताभ्यां कथानां फलं निर्णीतमिति प्रमाणनिरूपणे तथोक्तम्। तावेव हि मुख्याविति। अनेन स्त्रीणां शापो निरूपितः। या भगवत्कथा न शृणोति, सा तादृशं पतिं प्राप्नोतीति। समान्यतः स्त्रियो दुष्टा इति हि योनिदोषं मत्वा, भगवानेवं निराकरोतीति सा मन्यते। अन्यथा पुरुषानसमानपि भजने अनिषिध्य मामेव कथं निषेधतीति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—आपका कहना सत्य है, जो वैसी प्राकृती हो उसके, आपने जो चैद्य आदि कहे, वे सर्वथा विषयों की ही पूर्ति करने वाले राजा पति होवे, जो केवल विषयों को ही चाहती है, यदि

सब स्त्रियां विषय को ही चाहती है; इस पर मेरा कथन यह है कि वे विषय को तथा विषयी पुरुषों को चाहती हैं जिन के कर्णमूल में आपको कथा न पड़ी है, कथा कर्ण मूल में प्रवेश कर जैसे विषयाभिलाषा को दूर करती है वह प्रकार कहती है, राजा सर्वथा विषयों के पोषण कैसे हैं, और भगवान् नहीं है, यह दोनों में विलक्षणता है, जिसको सिद्ध कर दिखाती है 'स्त्रीणां गृहेण' स्त्रियों के सोने, भोजन, विहार और मल त्याग आदि घरों में, जो राजा अपना उत्कर्ष छोड़, उन स्त्रियों के भृत्य हो सेवा करते हैं, जैसे घर के सेवक हो सेवा करें, दासता में भी चार प्रकार विशेष कहती है, जल आदि ले आना जो स्त्रियों का कर्त्तव्य है वह उनसे न करा कर स्वयं करते हैं, इसलिये गर्दभ[1] के समान हैं, तथा जो स्त्रियों का अन्य कर्त्तव्य भी आलस्य त्याग कर स्वयं करते है, वे उनके गर्दभ ही हैं इसी प्रकार गायों को दुहने का स्त्रियों का कार्य भी आप ही करते हैं और शकटों[2] में बिठाकर, बैलों को तरह आप खींच कर ले जाते हैं, अपना सर्वस्व दे देते है, जिन देशों में जाना चाहती है उन देशों में उनका भार भी उठा कर उनको वहां पहुँचा देते हैं, जैसे कुत्ते रात्रि को घर के स्वामी के सो जाने पर स्वयं जाग कर घर की रक्षा करते है, वैसे ये भी नीचे बन कर शरीर से स्त्रियों की पालन करते हैं, इस प्रकार उपरोक्त कार्यों से इनका सेवक पन बताया, इस प्रकार होते हुए भी यदि भोग समान होवे वा भोग के लिये होवे तो कोई चिन्ता नहीं, किन्तु उसके शेष, एवं निकृष्ट उच्छिष्ट तथा अनुपयुक्त का ही भोग होता है इसलिये विडाल का दृष्टान्त दिया है, जिस कारण से वह भोजन की माँग करता हुआ स्त्रियों के चरणों में पड़ कर अनेक चेष्टाएं करता है, यों चेष्टाएँ करने के अनन्तर ही स्त्रियां स्वय दूध पीकर बाद में बर्तन में बचा हुआ कदाचित् उसको देती है। जो निकृष्ट सदा भोग चाहने वाले हैं, उनसे ही स्त्रियों का भोग सम्पादन किया जा सकता है, विषय को चाहने वाली ही ऐसे पुरुषों को चाहती हैं, भगवत्कथाएँ सब के कानों में साधारण रूप से प्रवेश करती ही हैं, जिस प्रकार के प्रवेश से कार्य करती है वह बताती है कर्णमूलम्' भीतर प्रवेश में सम्बन्ध कथाओं का है, कथाओं के सुनने से विषय की चाहना मिट जाती है, जिसमें कारण बताती है 'अरिकर्षण' आप शत्रुओं को नाश करने वाले हैं इसलिये कथाएँ आप का ही रूप है जिससे वे 'विषय' पद का अर्थ शत्रु है वे भी इन शत्रुओं को नाश कर देती है अतः वे 'कथाएं भी अच्युत रूप है जिस कारण से उनके नाश होने की शङ्का ही नहीं है, अर्थात् विषय रूप शत्रु उन कथाओं को तो नाश नहीं कर सकते हैं, प्रत्युत उनसे स्वय नाश हो जाते हैं, इसमें भी कथाएँ बहु रूप वाली होने से एक रूप भगवान् से बलिष्ठ हैं, उसमें भी स्वयं ही समीप में आई हैं क्योंकि बहुत हैं, 'युष्मत्कथा', समास है करने का कारण यह है कि कथा और भगवान् का नित्य सह भाव रहता है, कथाएँ विषयों को नाश करती हैं इसमें युक्ति बताकर अब इसमें प्रमाण कहती है कि, आपकी कथाएँ ब्रह्मा शिव आदि की सभाओं में गाई जाती हैं, वे दो उत्पत्ति और प्रलय करने वाले हैं, वे दो उनके आधीन हैं, इस लिये उनको इन कथाओं की अपेक्षा है, जिससे वे अपनी-२ सभा में इन (कथाओं) को गाते हैं, नित्य प्रति की हुई सर्व सभाओं में भगवान् की कथाएँ गाई जाती हैं, इससे यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मा और शिव से भी भगवान् उत्तम हैं इन दोनों ने कथाओं के फल का निर्णय किया है यह प्रमाण निरूपण में कहा हुआ है, इस निर्णय करने में वे दो ही मुख्य हैं इससे स्त्रियों के शाप का निरूपण किया, जो स्त्री भगवान् की कथा नहीं सुनती है वह वैसे पति को स्वीकार करती है, सामान्य रूप से स्त्रियाँ दुष्ट हैं यों

---

१ गदहे २—छकड़े, गाडी ३ बोझा

योनि दोष मान कर भगवान् इस प्रकार निषेध करते हैं, यों वह (रुक्मणी) मानती है नहीं तो असमान पुरुषों का भजन में निषेध न कर, मुझे हों कैसे निषेध करते हैं यों ।।४४।।

आभास—तर्हि तासामैहिकं सुखं तैर्भविष्यति, ऐहिकामुष्मिकयोस्तुल्यत्वादप्रयोजकः शाप इत्याशङ्क्याह त्वगिति ।

आभासार्थ—उन स्त्रियों को ऐहिक सुख उन पुरुषों से प्राप्त होगा, ऐहिक पारलौकिक समान होने से शाप अप्रयोजक है, यों शङ्का कर इस श्लोक 'त्वक्' में उत्तर देती है ।

श्लोक—त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तक्रिमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ४५

श्लोकार्थ—जिसने आपके चरण कमल को मकरन्द गन्ध नहीं सूंघी है वह मूर्ख स्त्री, जिसका शरीर बाहर खाल, दाढ़ी, मूछ, नख केशों से मढ़ा हुआ है, उसके भीतर मांस, हड्डी, लोहू, विष्ठा, कफ़, पित्त और वायु से युक्त है ऐसे जीते हुए शव को, पति समझ भजती है ।।४५।।

सुबोधिनी—न हि शवालिङ्गने कश्चन भोगोऽस्ति । स्वप्नेऽपि तथा दर्शने मृत्युर्भवति । अग्निप्रवेशे तु शवालिङ्गने स्पष्ट एव मृत्युः । यदि तस्मिन् देहे चेतनः कश्चिदिन्द्रियवान् भवेत् तदा स न गर्दभादिभावं प्राप्नुयात् । अतः केवलं शव एव, परं जीवच्छव । प्रसिद्धात् प्राणा अत्र विशिष्टाः । न केवलं शवत्वमात्रमेव दूषणम्, किन्तु अवयवशोऽपि विचारे तत् दुष्टमित्याह । [illegible] । ऊर्ध्वलम्बितभागे श्मश्रूणि । यथाष्टदिश. पूर्वभागः । सर्वत्र लोमानि यथा तृणानि । अन्तेषु नखाः, यथा प्राकारे शृङ्गाणि शूलानि वा । पश्चात्केशाः । एवं सर्वतो बहिः पिनद्धम् । अन्तस्तु मांसम्, तस्याप्याधारभूतमस्थि च । तत्रापि मध्ये नाडीषु लोहितम् । नाड्यो बहिरप्यायान्तीति रुधिरं मांसाद्बहिरप्युपलभ्यते । वस्तुतस्त्वन्तः । तत्र च कृमयः क्षुद्रा जीवाः । ततोऽपि मध्ये पुरीषम् । कफपित्तवाताः शास्त्रसिद्धा रोगादिसूचकाः । एवं दृष्टादृष्टदोषा निरूपिताः । नन्वेतादृशं चेत्कुत्सितम्, तदा कथं भजेतेत्याशङ्क्याह कान्तमतिरिति । अयं कान्तः परमसुन्दर इति तस्मिन्नुत्कृष्टबुद्धिः । ननु प्रत्यहं मलादिरूपत्वं दृश्यत इति कथं तस्मिन् कान्तबुद्धिः स्यात्, तत्राह विमूढेति । ननु सर्वासामेव स्त्रीणामियमेव व्यवस्थेति साधारण्यादस्त्येव भोगशब्दवाच्यत्वात् सुखजनकत्वस्य दृष्टत्वात्तादृशेनैव सुखं भविष्य-[illegible] ते पदाब्जमकरन्दमिति । यथा श्रोत्रं कथा गृह्णाति, तथा घ्राणमपि भगवन्तमासेव्य भगवच्चरणारविन्दरजो गृह्णाति चेत्, तदा शवं न गृह्णाति । यो हि कमलगन्धमाजिघ्रति,स शवगन्धात् विचिकित्सते । विशेषानभिज्ञस्तु काकादिः न विचिकित्सत इति नायं सर्वात्मना भोगरूपः । स्त्रीपदं पतिव्रताप्युदासार्थम् । सा हि धर्मार्थमेव भगवद्बुद्ध्या तं भजत इति । नापि तस्या विषयापेक्षा । ।।४५।।

व्याख्यार्थ—शव का आलिङ्गन करने से कोई भोग नहीं होता है स्वप्न में यदि ऐसा दर्शन हो जावे तो मृत्यु होती है, अग्नि प्रवेश और शव का आलिङ्गन होने से तो स्पष्ट मृत्यु हो जाती है, यदि उस देह में कुछ इन्द्रियवान् चेतन हो, तब वह गर्दभादिभाव को प्राप्त नहीं होता है अतः केवल शव ही है, परन्तु जीवित होते हुए भी शव के समान है। जीवच्छव में प्रसिद्ध रूप से प्राण मौजूद हैं, केवल शवत्व के कारण ही दूषण है, किन्तु उसके अवयव के अंश भी विचार करने पर बाह्य और और भीतर दोनों भेद से दुष्ट दीखते हैं, इस जीते हुए शव के चारों तरफ, चमड़ी लपेटी हुई है, ऊपर के लम्बे भाग में दाढ़ी मूछ आदि हैं, जैसे पूर्व भाग आठ दिशाओं वाला है, जैसे सर्वत्र तृण होते हैं, वैसे लोम हैं, जैसे महल पर शृङ्ग वा त्रिशूल होते हैं, वैसे नख हैं, पश्चात् केश हैं, इस तरह इनसे बाहर लपेटा हुआ बन्द है, भीतर इसके मांस उस मांस के आधार हड्डियाँ हैं उसके मध्य नाड़ियों में लोहू है नाड़ियाँ बाहिर भी आती है इसलिये खून मांस से बाहिर भी दीखता है, वास्तविक रीति से तो भीतर है, वहाँ कीड़े क्षुद्र जीव उससे भी मध्य में विष्ठा, कफ वात और पित्त ये शास्त्र सिद्ध रोग के सूचक हैं, इस प्रकार दृष्ट अदृष्ट दोष निरूपण किये हैं यदि ऐसा है तो कुत्सित है, तब वैसे को कैसे भजती है, जिसका उत्तर देती है कि, यह मेरा कान्त[1] है, इस उत्कृष्ट बुद्धि से भजती है। हर रोज उसका मलत्व आदि देखती है फिर भी उत्कृष्ट बुद्धि कैसे होती है। जिसका निराकरण करती है कि 'विमूढ़ा' विशेष मूर्ख है, यदि कहो कि सब स्त्रियों की यह ही दशा है, साधारण रीति से इस को ही भोग कहा वा समझा जाता है: इसको ही सुख देने वाला देखने से यों करने से ही सुख होगा इसलिये इस पर दोषारोपण करना व्यर्थ है, इस पर कहती है, कि जैसे श्रोत्र[2] कथा रस को ग्रहण करता है, वैसे घ्राणेन्द्रिय[3] भी भगवान् की सेवा कर, भगवान् के चरण कमल की रज गन्ध ग्रहण करती है, ऐसी दशा में वे शव को ग्रहण नहीं कर सकती है, जो कमल की गन्ध को सूंघता है वह शव[4] की गन्ध को लेने में दूर से ही शङ्का करता हैं अर्थात् नहीं ले सकता है, विशेष उत्तम गन्ध को न जानने वाले काक[5] आदि तो शव की गन्ध लेने से शङ्कित नहीं होता है, बल्कि ले लेता है, इसलिये यह सर्व प्रकार से भोग रूप नहीं है, केवल 'स्त्री' शब्द देने का यह भाव है कि जो स्त्री पतिव्रता है उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है, कारण कि पतिव्रता तो धर्म के लिये ही, भगवद्बुद्धि से उसकी सेवा करती है, उस पतिव्रता को विषय भोग की अपेक्षा नहीं है ॥४५॥

आभास—एवमितरभजने स्त्रियं पुरुषं च निन्दित्वा, स्वस्य विषयाधिकार एवेति सर्वथा विषयाभावे केवलमोक्षाधिकारात् स्वस्यापि प्रवृत्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्याह अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग इति।

आभासार्थ—इस प्रकार अन्य के भजन करने पर स्त्री तथा पुरुष की निन्दा कर, अपने को विषयाधिकार ही है, इस सर्वथा विषयों के अभाव से तथा केवल मोक्ष में[6] अधिकार होने से अपनी प्रकृति भी व्यर्थ है, यों शङ्का कर इसका समाधान 'अस्त्वम्बुजाक्ष' श्लोक से करती है।

१—परम सुन्दर पति, २—कान, ३—नाक, ४—मृतक, मुड़दा, ५—काग, कौवा।
६—पुस्तक में, केवल मोक्षाधिकारात् पाठ है, और नीचे फुट नोट में 'केवल मोक्षाधिकारा-भावात्' पाठ है जिसका अर्थ 'केवल मोक्ष के अधिकार के अभाव से

श्लोक—अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो
मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६॥

श्लोकार्थ—आपने कहा–हम तो उदासीन है, हमें किसी की अपेक्षा नहीं है, यह आपका कथन सत्य है और आप मुझे भी उत्कृष्ट नहीं समझते हो तो भी मैं तो चाहती हूँ कि मेरा प्रेम आपके चरणारविन्द में ही होवे कारण कि यह प्रेम ही मेरे लिए बड़ा लाभदायी है, इस जगत् की वृद्धि के लिए जब रजोगुण की भारी मात्रा को लेकर माया रूप मुझ पर प्रेम से देखते हो, तब मैं कृत्यकृत्य हो जाती हूँ, यह ही मुझ पर बड़ी कृपा है ॥४६॥

सुबोधिनी – अम्बुजाक्षेति दृष्ट्यैव परमसुखदातृत्वं निरूपितम्। ते चरणानुरागो ममास्तु। उभयोरनुरागे उभयोः सुखं भवति, स्पर्शादिना, नत्वननुरागे। तत्र भगवतश्चेन्मयि नानुरागः, तदा पूर्णानन्दत्वात् मत्स्पर्शादिकृतसुखाभावेऽपि न काचित् क्षतिः। मम तु पूर्णानन्दत्वाभावात् अन्यत्र स्पर्शे धार्ष्ट्यं भवतीति चरणस्पर्शे विरोधाभावात् तत्रानुरागोऽस्तु। प्रार्थनायां लोट्। मम त इति अव्यवहितसम्बन्धः प्रार्थनाधिकारे हेतुः। भगवतो नापेक्षित इति द्वितीयस्य स्नेहः कदाचित् प्रतिबन्धकत्वेन अनपेक्षितः स्यात्। ततो भगवदिच्छाभावे रागो न भवेदिति प्रार्थना। भगवतोऽनपेक्षत्वे हेतुः आत्मन्रतस्येति। तर्ह्यात्मारामो विषयेष्विव त्वय्यपि भगवान् सम्बन्धं न करिष्यतीत्याशङ्क्याह मयि चेति। यथा भगवानात्मनि रमते, एवं प्रपञ्चेऽपि रमते। तत्र प्रपञ्चस्य मूल स्वरूपमहमिति सृष्टिप्रलययो. सिद्धत्वान्मत्सङ्गं न बाधिष्यत इत्यर्थः। नन्वेवं सति संसारिणामात्मारामाणां च को विशेष इति चेत्। तत्राह अनतिरिक्तदृष्टेरिति। सर्वात्मनो भगवतः आत्मनि वा मयि वा न अतिरिक्ता दृष्टिर्यस्य। सर्वस्यैवात्मत्वादेकैव दृष्टिः सर्वत्र। तर्हि तव कथं स्त्रीरूपः पुरुषार्थः सिध्येत्, अन्यथा स्त्रीत्वं व्यर्थं स्यादिति चेत्। तत्राह यर्ह्यस्य वृद्धय इति। यर्हि भगवान् अस्य जगतो वृद्धयै, आत्ता रजसः अतिमात्रा अधिकमात्रारूपः कामः येन। तर्हि मामीक्षिष्यते। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे'ति। तर्हि तदेव नोऽस्मभ्यं सर्वशक्तिभ्यः परमानुकम्पा। अस्मासु महती कृपेत्यर्थः। 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारते'ति वाक्यात्। ईक्षणेनैव चिच्छक्त्याधानमुक्तम्। सम्बन्धस्तु भगवता सह नित्य इतीक्षणमेव विशेषः ॥४६॥

व्याख्यार्थ– 'अम्बुजाक्ष' संबोधन से यह कहा कि आप दृष्टि से ही परम सुखदाता हैं, मेरा आपके चरणारविन्द में यानि आप में अनुराग (प्रेम) होवे, दोनों के अनुराग होने से ही दोनों को स्पर्शादि से सुख प्राप्त होता है. अनुराग न होवे तो सुख प्राप्त नही होता है, उसमें यदि भगवान् का मुझ पर अनुराग न हो तब भगवान् के पूर्णानन्द होने से मेरे स्पर्श आदि से उत्पन्न सुख के अभाव होने पर भी किसी प्रकार क्षति नहीं हैं, मुझे तो मुझ में पूर्णानन्दत्व के अभाव में दूसरे के स्पर्श में

धृष्टता होती है, इसलिये चरण स्पर्श कोई विरोध नहीं, उसमें अनुराग हो 'अस्तु' यह लोट् लकार प्रार्थना में दिया है, अर्थात् रुक्मिणी प्रार्थना करती है कि मेरा अनुराग आपके चरण में हो, प्रार्थना करने के अधिकार का हेतु मेरा आपके साथ नित्य सम्बन्ध है, भगवान् को तो अपेक्षा नहीं है, कदाचित् दूसरे का स्नेह प्रतिबन्धक होने से भगवान् को अपेक्षित न होवे, इस कारण से भगवान् को इच्छा न हो तो अनुराग भी न होगा, इसलिये ही प्रार्थना की है। भगवान् क्यों नहीं चाहता है ? जिसका हेतु देती है वे अपनी आत्मा में ही रत हैं। इस कारण से जैसे आत्माराम विषयों की अपेक्षा न कर उनसे सम्बन्ध नहीं करता है वैसे तुझ से भी सम्बन्ध न करेंगे। इस शङ्का का समाधान करती है कि, जैसे भगवान् आत्मा में रमण करते है। वैसे प्रपञ्च में भी रमण करते हैं, तो प्रपञ्च का मूल स्वरूप तो मैं हूँ सृष्टि और प्रलय दोनों सिद्ध हैं, मेरा सङ्ग किसी प्रकार भगवान् को रमणादि में बाध न करेगा, फिर शङ्का उठाती है कि यदि यों है तो संसारी और आत्मारामों में कौन विशेष है अर्थात् दोनों में क्या भेद है ? इसका उत्तर देती है कि, सर्वात्मा भगवान् का मेरे में वा आत्मा में भेद दृष्टि नहीं है। सर्व आत्मा है इसलिये सर्वत्र एक ही दृष्टि है, तब तेरा स्त्री रूप पुरुषार्थ कैसे सिद्ध कर सके ? यदि कर सके तो स्त्रीत्व व्यर्थ हो जावे, यदि यों कहो तो, इसका उत्तर यह है कि, जब भगवान् जगत् की वृद्धि के लिये रजोगुण की मात्रा को बढ़ा कर रचना की इच्छा करते हैं, तब मेरे सामने दृष्टि करते हैं, तब ही तो सर्व शक्तिरूप हम पर अनुकम्पा होती है, 'ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' सम्भवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत' इस वाक्यानुसार, हम पर महती कृपा की जाती है, दृष्टि मात्र से ही चित्शक्ति का आधान कहा है, सम्बन्ध तो भगवान् के साथ नित्य हैं ही, इसलिये ईक्षण (दृष्टि) ही विशेष है ॥४६॥

आभास—एवमुदासीनत्वेऽपि स्वस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिमुक्त्वा, सुखप्रस्तावनायां भगवानकस्मादेवं यदुक्तवान्, तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य, परीक्षार्थं तेषामुपयोग इति भावं वर्णयति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस प्रकार उदासीन होते हुए भी अपनी सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि कह कर सुख की प्रस्तावना में भगवान् ने अचानक, जो यों कहा, उसका क्या कारण है ? इस शङ्का का उत्तर, दो श्लोकों से देती है, कि परीक्षा के लिये भगवान् ने यों कहा है।

श्लोक—**नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।**
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित् ॥४७॥

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ।
बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥४८॥

श्लोकार्थ—हे मधुसूदन ! आपके कहे हुए वचन में झूठ है, यों नहीं कहती हूँ; क्योंकि जैसे काशिराज की कन्या अम्बा की कुमारिकावस्था में ही दूसरे पुरुष पर

प्रीति हुई, वैसे किसी समय कुमार अवस्था में भी कदाचित् किसी पुरुष पर प्रेम हो जाय, यह असम्भव नहीं है ॥४७॥

और कभी ब्याह होने के अनन्तर भी बड़ी स्त्री व्यभिचारिणी हो जाय तो नये-नये पति पर उसका मन जाता है, इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि ऐसी व्यभिचारिणी को घर में रखकर पालन न करे, यदि पालन करता है तो ऐसा पुरुष दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है ॥४८॥

सुबोधिनी—नैवालीकमहं मन्य इति । यथाश्रुतार्थत्वेऽपि ते वचः अहमलीकं न मन्ये । असम्भावितवचनमलीकम् । मधुसूदनत्वात् परमसमर्थस्य सर्वापेक्षारहितस्य क्लिष्टकरणे प्रयोजनाभावात् परीक्ष्यैव सम्बन्धः कर्तव्य इति सूचितम् । सम्भावनायां स्त्रीत्वमेव हेतुः । यतः महति कुले जातायाः काशिराजसुतायाः अम्बायाः कन्याया इव क्वचित् साल्वे रतिर्दृश्यते । अम्बा अम्बिका अम्बालिकेति तिस्रः काशिराजकन्याः भीष्मेण विचित्रवीर्यार्थे स्वयवरे आहृताः । ततो ज्येष्ठा भीष्मं प्रति स्वाभिप्रायमुक्तवती 'साल्वे मन्मन' इति । ततो भीष्मेण प्रेषिता, साल्वेनान्याहृतेत्यगृहीता, पुनर्भीष्मं प्राप्ता । परशुरामवाक्यादपि भीष्मेणासङ्गृहीता, तपसा देहं त्यक्त्वा शिखण्डी भूत्वा, भीष्मवधार्थमुत्पन्नेति भारतकथा । व्यूढाया अपि पुंश्चल्याः । जन्मसंस्काराद्ग्रहैर्वा बहुपुरुषसम्बन्धिनी भवति । ततस्तस्या मनः नवं नवं पुरुषमभ्येति । तदवश्यं परीक्षणेन ज्ञातव्यम् । तत्र प्रयोजनमाह बुधः असतीं न बिभृयादिति । तां बिभ्रदुभयच्युत इति बाधकम् ॥४७-४८॥

व्याख्यार्थ—यथाश्रुत होते हुए भी आपका वचन मैं झूठा नहीं मानती हूँ, झूठ उसे कहते हैं जो असम्भव होवे, मधुसूदन होने से, सर्व अपेक्षा रहित सर्व समर्थ को इस प्रकार क्लिष्ट कर्म करने में कोई प्रयोजन नहीं है, अतः इन वचनों से यह सूचना दी है कि, परीक्षा करने के अनन्तर ही सम्बन्ध करना चाहिये, अतः आपके वचनों को मैं इस प्रकार की सूचना समझती हूँ, जिससे वे झूठे नहीं हैं, इस प्रकार सम्भावना है, जिसमें कारण स्त्रीपन है, क्योंकि बड़े कुल में उत्पन्न काशिराज की बेटी अम्बा की साल्व में रति हो गई थी, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, अम्बा अम्बिका अम्बालिका तीन काशिराज की कन्याओं को भीष्म विचित्रवीर्य के लिये लाया था, पश्चात् बड़ी अम्बा ने भीष्म को कहा कि मेरा मन साल्व में आसक्त है, जब भीष्म ने उसने वहाँ भेजा, साल्व तो दूसरी ले आया था अतः इसको ग्रहण नहीं किया, जिससे वह लौट कर भीष्म के पास आई। परशुराम के कहने पर भी भीष्म ने ली नहीं, जिस कारण से तपस्या से देह का त्याग कर, शिखण्डी बन भीष्म को मरने के लिये उत्पन्न हुई, यह कथा महाभारत में है, विवाहित भी व्यभि-चारिणी होती है, क्योंकि पूर्व जन्म के संस्कारों से, व ऐसे ग्रहों के योग से, बहुत पुरुषों से सम्बन्ध वाली होती है, इस कारण से उसका मन नये नये पुरुष को चाहता है. वह परीक्षा कर इस बात को जानना चाहिये, परीक्षा करने का प्रयोजन कहती है कि, बुद्धिमान् को चाहिये कि ऐसी व्यभिचारिणी का पालन न करे अर्थात् घर में उसको न रखे, यदि उसको रख कर पालन करता है तो वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है, इस प्रकार उसको रखना बाधक है ॥४८॥

आभास—एवं साभिप्रायं प्रकारद्वयेन भगवद्वाक्यानि व्याख्यातानि। तत्र व्याख्याने सान्त्वनार्थं प्रकाशितं स्वाभिप्रायं तया वर्णितं श्रुत्वा, अनन्यत्वं परिज्ञाय, दीनत्वस्य हीनभावत्वस्य च प्रकाशितत्वात् गर्वाभावमपि ज्ञात्वा, सन्तुष्टो भगवान् तस्या वाक्यमभिनन्दति साध्व्येतदिति।

आभासार्थ—रुक्मिणी ने भगवान् के वचनों का दो प्रकार से विवेचन कर यह सिद्ध किया कि भगवान् का अभिप्राय मुझे त्यागने का नहीं था किन्तु इस प्रकार परीक्षा करना योग्य था जिसको सुनकर भगवान् ने जान लिया कि, रुक्मिणी अनन्यभाव रखती है, और दीनत्व तथा हीनत्व के प्रकाशन से इसमें गर्व भी नहीं है, जिससे भगवान् प्रसन्न हो 'साध्व्येतदभिज्ञाय' श्लोक में उसके वाक्य का अभिनन्दन करते है।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**साध्व्येतदभिज्ञाय त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता।**
मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे साध्वी राजपुत्री! मैंने जो तुमसे हँसी की, उसका भावार्थ समझकर तुमने जो कुछ कहा, वह सर्व सत्य ही है ॥४९॥

सुबोधिनी—एतद्व्याहृतमुक्तं साध्वेव। हे साध्वीति वा। पूर्वमेव त्वमेव वक्ष्यसीत्यभिज्ञाय **प्रलम्भिता** वक्रोक्त्या वञ्चिता। एवं वचने सामर्थ्यं **राजपुत्रीति**। साध्वीत्येतदमर्मेति ज्ञापितम्। व्याख्यानं यथा व्याख्यातमेवेत्याह **मयोदितं यदन्वात्थेति**। उदितस्यानुवचनं व्याख्यानम्। अतः **मयोदितं यदन्वात्थ** व्याख्यातवती, तत्सर्वं सत्यमेव। हि युक्तश्चायमर्थः। अन्यथा वाक्यानामसम्बद्धार्थता स्यात् ॥४९॥

व्याख्यार्थ—यह जो तुमने व्याख्यान किया वह ठीक ही है, हे साध्वी! तुम पतिव्रता हो। इसलिये ऐसा ही व्याख्यान करोगी, यह जान कर ही मैंने इस प्रकार वक्र उक्ति से परिहास किया था, इस प्रकार व्याख्यान करने की सामर्थ्य तो राजपुत्री होने से तुम में उत्पन्न हुई है, साध्वी तो वचनों के मर्म को इस प्रकार नही समझ सकती है, अतः मैंने जो अक्षर कहे उनका अक्षरशः अनुवाद पूर्वक व्याख्यान तुमने यथार्थ किया है, इस प्रकार का भावार्थ उचित ही है, यदि यों अर्थ नहीं किया जाय तो अर्थ असम्बद्ध हो जाता ॥४९।

आभास—प्रसन्नः सन् प्रार्थितचरणारविन्दरतिदानप्रस्तावे बह्वेव प्रयच्छति **यान्यान् कामयसे कामानिति।**

आभासार्थ—भगवान् के प्रसन्न होने से रुक्मिणी ने चरणाविंद में अनुराग मांगा था, उसके देने के प्रस्ताव में आप 'यन्यान्कामयसे' श्लोक में उससे भी विशेष देने की इच्छा प्रकट करते हैं।

श्लोक—यान्यान्कामयसे कामान्मय्यकामाय मानिनि ।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥५०॥

श्लोकार्थ—हे मानिनी ! तुम जो-जो मुझ अकाम से चाहोगी, वह सर्व एकान्त-भक्ति वाली जो तू है, उसके लिए हे कल्याणी ! नित्य ही हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—मत्सम्बन्धिनः सर्व एव सकामा निष्कामाश्च व्यवहाराः निष्कामा एव । सिद्धवदनुवादेनायं वरो दत्तः । यान् कामान् कामयसे, तानकामाय कामयस इति । यतो मयीत्यावृत्त्या योजना । वीप्सा नानाविषत्वाय । तस्मात्तव कामा निष्कामा भवन्त्वित्युक्तं भवति । मानिनीति सम्बोधनं मानापनोदनार्थमेवमुच्यत इति सूचयति निष्कामा मानवती न भवतीति । एव कामानां निष्कामत्वमुक्त्वा, सर्वानेव कामान् प्रयच्छति सन्ति होति । अर्थात् कामाः । तत्र दानव्यतिरेकेणैव विद्यमानत्वे हेतुः एकान्तभक्ताया इति । हि युक्तश्चायमर्थः । या ह्यनन्यभक्ता, सा सर्वं प्राप्नोतीति । एकान्ते वा भजते, साप्यपेक्षितं कामसुखं प्राप्नोतीति । तवेति तत्रानुभवो निरूपितः । कल्याणीति स्वरूपयोग्यता विवाहितत्वाद्भाग्यं चोक्तम् । नित्यदेति सर्वदा । छान्दसः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—मुझ से जिनका सम्बन्ध हो जाता है वे सर्व व्यवहार निष्काम हों चाहे सकाम हों तो भी निष्काम हो ही जाते हैं, यह वर सिद्ध के समान अनुवाद से वर दे दिया है, जिन कामनाओं की पूर्ति मुझ में से करनी चाहती हो, यद्यपि मैं अकाम हूँ किन्तु मुझ से ही चाहती हों। इस कारण से तेरी विशेष इच्छा अनेक प्रकार की होने से पूर्ण होगी किन्तु वह इच्छा स्वतः निष्काम बन जायगी, मानिनी, यह संबोधन मान तोड़ने के लिये ही दिया गया है, यों सूचित करते हैं, मान वाली निष्काम नहीं बन सकती है, इस प्रकार वे तुम्हारी कामनाएं निष्काम हो जावेगी, यह समझाने के अनन्तर कहते हैं कि सब कामनाएं तुझे प्राप्त होगी, देने के सिवाय, उनकी विद्यमानता में कारण बताते हैं कि तू मेरी एकान्तिक अनन्य भक्ता है अतः जो मेरी अनन्य भक्ता होती है वह सब प्राप्त करती है अथवा जो एकान्त में मेरा भजन करती है, वह भी जो काम सुख चाहती है वह प्राप्त करती है 'तव' पद से यह कहा कि मुझे अनुभव ही है, कल्याणी संबोधन से यह बताया कि तेरे स्वरूप की योग्यता है तथा मुझ से विवाहित होने से तेरा भाग्य भी उत्तम है, स्वरूप समय के लिये नहीं किन्तु 'नित्यदा' यह पद छान्दस अर्थात् वैदिक है, सर्वदा हमेशा के लिये ऐसा भाग्य है ।५०॥

आभास—तदा पतनक्रियया यज्जातं तदप्याह उपलब्धं पतिप्रेमेति ।

आभासार्थ—तब पतन क्रिया से जो हुआ वह भी 'उपलब्धं पति प्रेम' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥५१॥

श्लोकार्थ—हे निष्पापिनो ! मैंने ऐसे वाक्य कहे जिनसे बुद्धि चलायमान हो जावे, किन्तु तेरी बुद्धि मुझ में से दूर न हुई, जिससे तुमने पतिप्रेम तथा पातिव्रत्य दोनों प्राप्त किए ।।५१।।

सुबोधिनी—परित्यागसम्भावनायामेव शरीरत्यागस्य कृतत्वात् पतिप्रेम उपलब्धम् । पातिव्रत्यं चोपलब्धम् । व्रतभङ्गे मरणमेवाङ्गीकृतमिति । चकारान्मयि स्थिरापि बुद्धिः, मत्स्पर्शेनैव जीवनस्य प्राप्तत्वात् । चकारात् हेत्वन्तरमप्याह **यद्वाक्यैरिति** । यस्मात् कारणात् वाक्यैश्चाल्यमानाया अपि तव धीः **मयि नापकर्षिता**, अपकर्षं न प्राप्तवती । सर्वथाभावस्तु दूरापास्तः ।।५१।।

व्याख्यार्थ—मेरे वचनों से त्याग की सम्भावना मात्र देख शरीर का त्याग करने लगी, जिससे पति प्रेम पाया, तथा पातिव्रत्य प्राप्त किया, व्रत का भङ्ग होने पर मरण का ही निश्चय किया, 'च' शब्द का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि मुझ में स्थिर हुई भी बुद्धि, मेरे स्पर्श से जीवन को प्राप्त हुई और 'च' कहने का दूसरा हेतु भी कहते हैं, जिस कारण से मेरे वचनों से विचलित बुद्धि भी मुझ से दूर न गई, अर्थात् मुझे नहीं छोड़ा, सर्वथा अभाव तो दूर रहा ।।५१।।

आभास—तया यद्विरक्ततया भक्तिमार्गानुसारेण भक्तिमेवोररीकृत्य, कादाचित्कः कामः समर्थितः, तदेव युक्तम्, न तु लौकिकवन्मद्भजनमिति स्वयं सम्मतिं वक्तुं विपरीते बाधकमाह **ये मां भजन्तीति** ।

आभासार्थ—उस (रुक्मणी) ने जो विरक्तपन से भक्ति मार्गानुसार भक्ति को स्वीकार कर कादाचित्क काम का समर्थन किया, वह ही उचित है, न कि लौकिक की भाँति मेरा भजन उचित है, इसलिये उसने जो कहा उसमें अपनी सम्मति प्रकट करते हैं और विपरीत में बाधकता दिखाते हैं 'ये मां भजन्ति' श्लोक से ।

श्लोक—**ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया ।**
कामात्मनोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ।।५२।।

श्लोकार्थ—जो कामी पुरुष, मोक्ष के स्वामी मुझको, तप तथा व्रतों द्वारा इसीलिए भजते हैं कि दम्पतीवत् सुख भोग की प्राप्ति होवे तो वे मेरी माया से मोहित हुए हैं, यों समझना चाहिए ।।५२।।

सुबोधिनी—दाम्पत्ये दम्पत्योरिव भावार्थे । भक्तिमार्गे एवं नास्तीति, अन्यत्र भगवद्भजनं न लोकसिद्धमिति, स्वयं कर्ममार्गे तत् वक्तुं साधनमाह **तपसा व्रतचर्ययेति** । तपः पुरुषस्य, व्रतचर्या स्त्रियः । कथं भगवन्तमपि तथा भजन्ति । न हि शैत्यार्थी कश्चिद्वह्निं सेवत इति, तत्राह **कामात्मान** इति । कामात्मानः काममेव पुरुषार्थं मन्यन्ते । भगवानपवर्गेशः मोक्षदाता । एवं विरुद्धयोः सेव्यसेवकयोरपि सतोः यद्भजनं सिध्यति, तन्मायामोहनेनैवेत्याह **मोहिता मम माययेति** ।।५२।।

व्याख्यार्थ—लोक में दाम्पत्य से जिस प्रकार जैसा सुख होता है, भक्ति मार्ग में वैसा सुख नहीं है. अन्यत्र भगवद्भजन लोक सिद्ध नहीं है, आप कर्म मार्ग में उसको कहने के लिये साधन कहते हैं 'तपसा व्रतचर्य्यया' तपस्या पुरुषों का, व्रतचर्या स्त्रियों की, भगवान् को भी इस प्रकार वैसे भजते है, ठंडी हो, इसलिये कोई अग्नि का ताप नहीं लेता है. इस विषय में कहते हैं कि, जो काम को ही पुरुषार्थ मानते है, और भगवान् तो मोक्ष के दाता हैं, इस प्रकार सेवक और सेव्य दोनों परस्पर विरुद्ध देखने में आते हैं, फिर भी, जो भजन सिद्ध हुवा दीखता है, वह माया से मोहित होने के कारण है ।।५२।।

आभास—साधारणसेवकानां स्थितिमुक्त्वा, ये पुनर्विशेषेण भगवन्तं प्राप्ताः,तेऽपि चेत् सकामा भवेयुः, तदा कालेन तेषां बुद्धिर्नाश्यत इति निन्दति मां प्राप्य मानिनीति ।

आभासार्थ—साधारण सेवकों की स्थिति कह कर अब फिर कहते है कि जो विशेष प्रकार से मुझ (भगवान्) को प्राप्त हुवे हैं, यदि वे भी सकाम होने लगे, तो समझना चाहिये कि काल से उनकी बुद्धि नाश हो गई, यों कह कर उनकी 'मां प्राप्य' श्लोक से निन्दा करते है ।

श्लोक—मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ।।५३।।

श्लोकार्थ—हे मानिनी ! जिसमें मोक्ष तथा सब सम्पदाएँ भी रहती हैं, ऐसे मुझे प्राप्त करके भी जो लोग लौकिक सम्पदाएँ माँगने लगते हैं, उनको मन्दभागी समझना चाहिए; क्योंकि विषय सुख तो नरक में भी मिलता है, विषयों में आसक्त होने से उनको नरक ही सरलता से प्राप्त होगा ।।५३।।

सुबोधिनी—अपवर्गस्य सम्पद्यस्मात् । मानिनीति सम्बोधन मानस्य विद्यमानत्वान्न त्वं प्रार्थयिष्यसीति सूचितम् । ये केवलमैहिकसम्पद एव प्रार्थयन्ति, ते मन्दभाग्याः । यथा मन्दभाग्यो निधिमपि प्राप्य, पाषाण इति पदा प्रक्षिपति, एतन्मन्दभाग्यस्य लक्षणम् । ननु विषया अपि दुर्लभाः स्त्रीधनादयः, तत्कथं मन्दभाग्यत्वमिति चेत् । तत्राह । ये विषया निरयेऽपि नृणां भवन्ति । तत्र हेतुः मात्रात्मकत्वादिति । न हि क्वचिद्विषयाभावोऽस्ति । श्वादियोनावपि विषयोपभोगस्य दृष्टत्वात् । दुःखं तु विषयसम्बन्धे नियतम् । तारतम्यं त्वप्रयोजकम् । तर्हि तादृशो निरयोऽपि सम्पत्तियुक्तः समीचीन इति चेत्, तत्राह निरयः सुसङ्गम इति । सुष्ठु सङ्गमो यस्येति । न तदर्थं तपः कर्तव्यं मद्भजनं वा । अतः अक्लेशसिद्धे क्लेशकरणात् दुर्भाग्यत्वम् । पूर्णादल्पप्रार्थनायां मन्दभाग्यत्वं वा स्यादिति तथा न भावनीयमित्युपदेशः ।।५३।।

व्याख्यार्थ—जिससे मोक्षरूप सम्पदा प्राप्त होती है ऐसे मुझ से तुम वह भी नहीं माँगती हो, कारण कि तुझ में मान मौजूद है, यह 'मानिनि' संबोधन से सूचित किया है, और जो केवल लौकिक सम्पादाएँ मांगते हैं, वे तो मन्द भाग्य वाले हैं, जैसे अभागे को मणि भी प्राप्त हो, तो उसको पत्थर

समझ ठुकराता है, इसलिये यह मन्द भाग्य का लक्षण है, इसी प्रकार मोक्षदाता मुझ से मुक्ति की प्रार्थना न कर, उसको ठुकराके नाशवान् लौकिक सम्पदाएँ माँगते है, जिससे वे मन्द भागी हैं विषय स्त्री धन पुत्रादि की प्राप्ति भी दुर्लभ है उनके मांगने वाले अभागे कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, ये पदार्थ नरक आदि में भी मिलते हैं, इनका अभाव कुत्ते आदि योनियों में भी नहीं है, उनको भी विषयोपभोग करते हुए देखा जाता है, विषयों से सम्बन्ध होने पर दुःख प्राप्ति तो नियत है अर्थात् अवश्य होती ही है स्वल्प वा अधिक वह तो अप्रयोजक है, यदि कहो कि जहां इस प्रकार सम्पत्ति सुख मिलता है तो वह नरक भी अच्छा हैं, वहां कहते हैं कि नरक तो सरल स्वयं प्राप्त होता ही है, जिसके लिये तपस्या वा मेरे भजन करने की आवश्यकता नहीं है, अतः जो पदार्थ बिना क्लेश के प्राप्त होवे उसके वास्ते क्लेश करना भी मन्द भाग्य पन है, जो पूर्ण है विशेष देने वाले हैं उनसे स्वल्प के लिये प्रार्थना करनी मन्द भाग्य ही है, अतः यों न करना चाहिये. इस प्रकार उपदेश है । ५३॥

आभास—तया यदुक्तं मामीक्षसे, तर्हि नः परमानुकम्पेति तदभिनन्दति 'दिष्ट्ये'ति ।

आभासार्थ—उस (रुक्मणी) ने जो कहा आप मुझे देखते हैं, यह तो मेरा विशेष अनुग्रह है, इसलिये उसका अभिनन्दन 'दिष्टया' श्लोक से करते है ।

श्लोक—**दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।**
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो ह्यसुंभराया निकृतिजुषः स्त्रियाः ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे गृहेश्वरी ! संसार से छुड़ाने वाली, निष्काम मन की वृत्ति मुझ में बार-बार अर्पण कर लगाई है, यह बहुत अच्छा किया, यों करना प्रसन्नता का विषय है, खलजनों की चित्त वृत्ति मुझ में लगनी बहुत कठिन है; क्योंकि उनका अभिप्राय दोषों से भरा हुआ है तथा प्राणादिक के पोषण करने वाले विषयों के पोषक वृत्ति वाली वे स्त्रियां हैं ॥५४॥

सुबोधिनी—असकृन्मयि त्वया या अनुवृत्तिः कृता, सा दिष्ट्या कृता । यतः सा भवमोचनी । गृहेश्वरीति सम्बोधनं लोकप्रसिद्धसंसारसुख तव सिद्धमेवेति सूचयति। अनुवृत्तिर्नामोदासीनेऽपि भगवति तदनुसरणम् । तत्प्रथमं पत्रप्रेषणेनात्मसमर्पणरूपा । ततो रुक्मिवधे प्रार्थनया वाक्समर्पणरूपा । ततं इदानीं मूर्च्छया मनःसमर्पणरूपा । स्वाभिप्रायप्रतिपादकैर्वाक्यैश्च सर्वसमर्पणरूपा । ईश्वराद्भिन्नतया स्थितौ संसारः ईशादपेतस्ये'त्युत्तरत्र वक्ष्यते । अत इयं भवमोचनी भवति । ननु किमाश्चर्यम्, भार्या करोत्येवेति चेत् । तत्राह खलैः सुदुष्करेति । दुष्टैरुक्मिप्रभृतिभिः कृत्वा सुतरां दुष्करा । खला दुष्टस्वभावाः मात्सर्येण परकार्यनाशकाः । किञ्च । अन्तरपि तव बाधकं न जातमित्याह दुराशिष इति । दुष्टा प्राकृती आशीर्यस्य तस्याः मदनुवृत्तिः सुतरामेव दुर्लभा । तत्राप्यसावेतादृशी । तत्रापि असुंभरायाः प्राणपोषिकायाः । तत्रापि निकृतिजुषः नरक-

सेविकायाः। स्त्रियश्च। अन्तःकरणप्राणेन्द्रियशरीरदोषाणां प्रत्येकसद्भावेऽपि दुर्लभा, समुदाये किं वक्तव्यमित्यर्थः। इमामेवोपपत्तिं हिशब्द आह ॥५४॥

व्याख्यार्थ – तूने मुझ में कई बार अपने को अर्पण कर अपना अनन्य प्रेम प्रदर्शित किया है, वह बहुत प्रसन्नता का उचित कार्य है, क्योंकि ऐसी वृत्ति संसार से छुड़ाने वाली है। हे गृहेश्वरी! यह संबोधन कह कर सूचित किया है कि, लोक प्रसिद्ध सांसारिक सुख तो तुझे प्राप्त ही हैं, 'अनुवृत्ति' शब्द का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् ने इस से यह सिद्ध किया है कि मैं उदासीन हूँ, तो भी तुमने सर्व प्रकार मुझ में अपने को बार बार अर्पण कर अपनाया है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जैसे पहले पत्र लिख कर अपनी देह को मुझे अर्पण कर दिया, पश्चात् रुक्मि वध होने पर, प्रार्थना से 'वाणी' को अर्पण किया, अब मूर्च्छा से मन को समर्पण किया, और अपने अभिप्राय को प्रकट करने वाले वाक्यों से, सर्व समर्पण किया, ईश्वर से भिन्न स्थिति में संसार होता है जिसका उत्तर 'ईशादपेतस्य' श्लोक में कहा जायगा, अतः यह तुम्हारी चित्त वृत्ति संसार छुड़ाने वाली है, यदि कहो कि इसमें क्या आश्चर्य है ? पत्नी इसी प्रकार अर्पण करती है जिसके उत्तर में कहते हैं कि, दुष्ट स्वभाव वाले मत्सरता से अन्यों के कार्य को नष्ट करने वाले, रुक्मि प्रभृति जो खल है, वे यों नहीं कर सकते हैं, तेरा अन्तःकरण भी यों करने में बाधक नहीं हुआ किन्तु जिनकी प्रकृति दुष्य हे उनके अन्तः करण में मेरे लिये अनुवृत्ति बिलकुल कठिन है, उसमें भी, यह तथा वैसी होनी तो सम्भव ही नहीं, क्योंकि वे प्राणों को ही पोषण करने वाली है, जिससे वे नरक की सेविकाएं है, अन्तः करण, प्राण, इन्द्रियाँ और शरीर के दोषों का प्रत्येक में होने से भी आप जैसी वृत्ति स्त्रियों की होनी कठिन है, तो यदि सब दोष पूर्ण हो तो वहां क्या कहा जावे, इस ही उपपत्ति को 'हि' निश्चय वाचक शब्द कहता हैं ॥५४॥

आभास—एतादृश्योऽन्या अपि बह्व्यः सन्तीति स्त्रीणामपि मध्ये तामुत्कृष्टत्वेन स्तौति न त्वादृशीमिति ।

आभासार्थ – ऐसी स्त्रियां तो बहुत ही हैं किन्तु स्त्रियों में यह उत्तम है इसलिये 'न त्वादृशीं' श्लोक से इसकी प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक—न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले।
प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहो अहो प्रेम स्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥५५॥

श्लोकार्थ—हे मानिनि! यद्यपि घरों में बहुत स्त्रियाँ हैं, किन्तु तेरे समान प्रेमवाली दूसरी कोई नहीं है कारण जिस(तुम)ने अपने विवाह काल में आए हुए राजाओं को ध्यान में भी न लाकर अर्थात् तुच्छ मानकर, केवल मेरे यश सुनने के कारण मुझ को प्राप्त करने के लिए गुप्त रूप से ब्राह्मण भेज मुझे बुलाया ॥५५॥

सुबोधिनी—प्रणयिनी गृहिणी दुर्लभा । लौकिकधर्माभिनिविष्टा गृहिणी । तथाभूतापि परमप्रेमयुक्ता आत्मनोऽप्यधिकस्नेहवती दुर्लभा भवति। **गृहेषु** गृहस्थाश्रमेषु मम बहुरूपेषु। **न पश्यामीति** तादृश्या अभावे प्रमाणम्। **मानिनीति** मानसद्भावेन अन्यसक्तिनिवृत्तिः अपकीर्तिलेशस्याप्यसहनं च सूच्यते। कथमित्याकाङ्क्षायामुपपादयति। **यया स्वविवाहकाले** प्राप्तान् सर्वप्रकारेण

शिशुपालादीनविगणय्य, रहः एकान्ते द्विज प्रस्थापितः। नापि मया सह परिचयः किन्तु उपश्रुता सद्भिः कृता कथा यस्य, सत्कथा वा। अहो आश्चर्ये। नह्येतादृशं क्वचिदपि लोके जातमिति। स्वयंवरे तु वरणं युक्तम्, नत्वेतादृशम्, अन्याः सर्वा एव लौकिकप्रकारेणानीताः। अनेन सम्बन्धप्रकारः त्वत्सदृशो नान्यासामिति निरूपितम् ॥५५॥

व्याख्यार्थ - प्रेमवाली स्त्री मिलनी दुर्लभ है। स्त्री लौकिक धर्मों में आसक्त होकर भी, परम प्रेम से युक्त हो अपने से भी पति में अधिक स्नेह करे ऐसी स्त्री मिलनी बहुत कठिन है, मेरे अनेक प्रकार के गृहस्थाश्रम के घर हैं उनमें तेरे समान कोई स्त्री नहीं देखता हूँ जिसका प्रमाण यह है कि तू मानिनी है, जिससे अल्प भी अपकीर्ति सहन नहीं कर सकती है, एवं इससे यह बताती हो, कि अन्य में मेरी आसक्ति नहीं हैं यदि कहो कि आपने यह कैसे जाना ? इसका उत्तर यह है कि जिस (तुम ने अपने विवाह के समय में आये हुए शिशुपाल आदि राजाओं को सर्व प्रकार ध्यान में न लाकर तथा तुच्छ समझ कर गुप्त रीति से मेरे पास मुझे बुलाने के लिये ब्राह्मण भेजा, मेरे साथ कोई परिचय न था, केवल सत्पुरुषों द्वारा की हुई मेरे गुणों की कथा सुनी थी, यों करना आश्चर्य है, लोक में इस प्रकार कहीं भी नहीं हुआ है, स्वयंवर में वरण करना तो उचित है, न कि इस प्रकार वरण करने की रीति है, दूसरी सब स्त्रियां मैं लोक रीति से लाया हूँ इससे तुझ से जिस प्रकार सम्बन्ध हुआ है वैसा दूसरियों से नहीं हुआ है ॥५५॥

आभास—अपराधसहनं च त्वत्सदृशं नान्यासामित्याह **भ्रातुर्विरूपकरणमिति**।

आभासार्थ —अपराध का सहन भी जैसा तुमने किया है वैसा दूसरियों ने नहीं किया है, यह 'भ्रातुर्विरूप' श्लोक में कहते है।

श्लोक—भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम्।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ५६

श्लोकार्थ— तेरे भाई को युद्ध में जीतकर विरूप किया, तथा अनिरुद्ध के विवाह में जुआरियों की गोष्टी में उसको मार डाला, यह असह्य दुःख हृदय में उठते हुए भी केवल हमारे वियोग के भय से सहन कर रही हो, उसके लिये हम को कुछ भी नहीं कहा, जिससे हमको तुमने जीत लिया है ॥५६॥

सुबोधिनी—विवाहसमये रुक्मिणो ज्येष्ठभ्रातुर्**विरूपकरणं** मुण्डनम्, तत्रापि युधि निर्जितस्य। **प्रोद्वाहपर्वणी**त्युभयत्र सम्बध्यते। यद्यपीयं कथा प्रद्युम्नोत्पत्तेः पूर्वमेव, अन्यथा भगवान् अन्यभजनं न वदेत्। न हि पुत्रपौत्रादियुक्ता कचिदेवमुच्यते। प्रथमसङ्ग एवैवं भवति। सर्वथा हृदयानभिज्ञदशायां तस्या अपि पतनादिसम्भवः, न तु निरन्तरप्रवृत्तौ। अनिरुद्धविवाहे तु अक्षगोष्ठ्यां तद्वधः। तदुत्तराध्याये वक्ष्यते। तथापि यथा तया आर्षज्ञानेन सर्वं निरूपितम् तथा भगवानपि तां तादृशीं मत्वा भाव्यर्थमपि सिद्धवत्कारेण निरूपयति। भूतप्रत्ययस्तु लङ्प्रयोगः। छन्दसि लुङ्ल-

ङ्लिटः' इति दश लकारार्थेषु भवन्तीति आवृत्त्या योजनायां द्वितीयवाक्ये भविष्यदर्थे ज्ञातव्यः। ताभ्यां समुत्थं दुःखमसह इत्यपि तथा। अस्मदयोगः अस्मत्सम्बन्धो निवर्तिष्यत इति भयेन उत्पत्तिबलिष्ठभ्रातृसम्बन्धापेक्षयापि अस्मत्सम्बन्धाभावशङ्कापि महतीति सर्वोत्तमा त्वमेव। चकारान्मध्ये प्रद्युम्नविवाहादौ तदवगणनादि संगृह्यते। समुत्थ दुःखं सोढुमशक्यम्। बलभद्रोपदेशात् समुत्थमिति ज्ञायते। एकक्रियोपात्तत्वात् द्वितीयमपि तादृशमेव। तेन दुःखसहनेन ते त्वया वयं जिताः। तव वयमित्यपि। जयोऽप्यङ्गीकृतः। त्वदीयत्वं च ॥५६॥

व्याख्यार्थ—विवाह के समय युद्ध में हारे हुए तेरे बड़े भाई का मुण्डन किया, यद्यपि यह कथा प्रद्युम्न की उत्पत्ति से पहले की हो है, नहीं तो भगवान् अन्य भजन नहीं कहते, जिसके पुत्र पौत्रादि हो उसको यों नहीं कहा जा सकता हैं, प्रथम हुए मिलाप के समय ही यों कहा जा सकता है, सर्व प्रकार, हृदय के भावों के न जानने की दशा में, उसके भी पतन का सम्भव है, न कि निरन्तर प्रवृत्ति हो जाने पर, अनिरुद्ध विवाह के समय जुआ की गोष्टी प्रसंग में उसका वध हुआ वह उत्तराध्याय में कहा जाएगा, तो भी जैसे उसने आर्षज्ञान से सब निरूपण किया, वैसे भगवान् भी उसको वैसी आर्ष ज्ञान वाली समझ कर ही, भावी अर्थ को भी होते हुए की तरह निरूपण करते हैं, भूत प्रत्यय में तो लङ् का प्रयोग हुवा है, जैसे कि 'छन्दसि लुङ् लङ् लिट' इस प्रकार दश लकारों के अर्थ में होते हैं, इसलिये आवृत्ति से योजना में द्वितीय वाक्य में भविष्यदर्थ में जानना है इन दोनों कारणों से उत्पन्न दुःख इस प्रकार असह्य है किन्तु हमारा सम्बन्ध टूट जायगा, इस भय से उत्पन्न दुःख भ्राता के कारण हुए दुःख से भी तूने विशेष समझा है इसलिये तूं ही सब से उत्तम स्त्री है। 'च' पद से यह बताया है कि प्रद्युम्न विवाहादि में भी उसकी अब गणनादि की हैं,इन सर्व प्रकार के कर्म से उत्पन्न दुःख सहन करना अशक्य है, बलभद्र के उपदेश से विशेष उत्पन्न हुआ, यों जाना जाता है, एक ही क्रिया के कहने से दूसरा भी वैसा ही है, अशक्य सहने जैसे दुःख को सहन करने से तूने हमको जीत लिया है, हमने तेरी जय भी अङ्गीकार की और त्वदीयत्व भी मान लिया ॥५६॥

आभास—अन्यदेकं तव चरित्रं अनन्यदपि अनुपमेयमपि जयाद्यङ्गीकारेऽप्यप्रतीकार्यमपीत्याह **दूत** इति।

आभासार्थ—तेरा एक दूसरा चरित्र, अनन्य एवं अनुपमेय होते हुए भी तथा जयादि के अङ्गीकार करने पर भी ऐसा है, जिसका बदला चुकाया नहीं जा सकता है, जिसका निरूपण 'दूत' श्लोक में करते है।

श्लोक—दूतस्त्वयात्मलमने सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ५७

श्लोकार्थ—मेरी प्राप्ति के लिये तूंने मन से विचार पूर्वक गुप्त मन्त्रणा की, वह दूत द्वारा मुझे कहलाई, मेरे आने में विलम्ब होने पर यह सब शून्य देखने लगी, तथा उस समय यह विचार किया कि अब इस शरीर का त्याग ही करना चाहिये, कारण कि यह दूसरे के योग्य नहीं है मुझ में तेरी ऐसी अनन्यता तुझ में ही है, हम तो तेरी श्लाघा (प्रशंसा) कर तुझे प्रसन्न कर सकते हैं ॥५७॥

सुबोधिनी—आत्मलभने कृष्णप्राप्त्यर्थम् । सुष्ठु विविक्तो मस्य तादृशो द्विजः प्रस्थापितः । अनेन मयि सिद्धवद्विश्वासः प्रथमत एव कृत इति निरूपितम् । ततो मयि चिरायति विलम्बमाने एतज्जगच्छून्यमेव मत्वा, इदमङ्गं शरीरमनन्ययोग्यं केवलं भगवदेभोग्यं जिहास इति मत्वा द्विजः प्रस्थापित इति पूर्वेणैव सम्बन्धः । प्रस्थापनसमय एवैते पक्षा विचारिताः । इति एतत्त्वय्येव तिष्ठेत । विध्यर्थोऽयम् । नास्य प्रतीकारः सम्भवतीति । अप्रयोजकत्वेन तथात्वमाशङ्क्य निराकरोति त्वय्येव तिष्ठेत, वयं तु प्रतिनन्दयाम इति । अस्मिन्नर्थे वयं ऋणिन इति भावः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—मेरी प्राप्ति के लिये दूत को गुप्त मन्त्र देकर मेरे पास भेजा, यों करने से तुमने मुझ में सिद्धवत् विश्वास पहले ही प्रकट कर दिखाया है मेरे आने में विलम्ब देख इस जगत् को शून्य देख, यों विचार करने लगी कि यह देह त्याग करने योग्य है, कारण कि मेरे सिवाय दूसरे के योग्य यह अङ्ग नहीं है, ये सब प्रथम ही विचार कर दूत भेजा था, इस प्रकार प्रेम तुझमें हो रहे, 'तिष्टेत' यह क्रिया आज्ञा अर्थ में दी हुई है. आपने जो इतना ऐसा विशुद्ध प्रेम दिखाया है उसका बदला हम दे नहीं सकते ऐसा प्रेम अप्रयोजक है ऐसी शङ्का के निराकरण के लिये ही कहा है कि, यह तुझ में ही है अन्य में नहीं हो सकता हैं, हम तो इसके लिये तुम्हारी बड़ाई ही कर सकते हैं, वास्तव में तो इस प्रेम व्यक्त करने से हम तुम्हारे ऋणी हैं यों कहने का यह भाव है ॥५७॥

आभास—एवं सान्त्वनं कृतमुपसंहरन् अन्यास्वप्येवंभावमतिदिशत्येवमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार सान्त्वना देकर अब विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि दूसरियों में जो जिस प्रकार का भाव है वह दिखाते हैं 'एवं' इन श्लोकों से।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं सौरतसंलापैर्भगवान् देवकीसुतः ।**
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि, देवकी पुत्र भगवान् यद्यपि आत्माराम हैं, तो भी मनुष्य लोक की लीला का अनुकरण करते हुए, सुरति संबन्धी हंसी की बातों से लक्ष्मी[1] से रमण करने लगे ॥५८॥

श्लोक—**अथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ।**
आस्थितो गृहमेधीयान् धर्मान् लोकगुरुर्हरिः ॥५९॥

श्लोकार्थ—वैसे ही अन्य घरों में भी दूसरी रानियों से जैसे एक गृहस्थी, गृह सम्बन्धी धर्मों का आचरण करता हो, वैसे आचरण करते हुए जगत् के गुरु प्रभु हरि विराजते थे ॥५९॥

१—लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी से ।

सुबोधिनी—सौरताः सुरतयोग्याः संलापाः, येन सुरतं वर्धते। भगवानिति लीलायां योग्यता। देवकीसुत इति स्त्रीणां प्रियार्थे भक्तहितैकसाधकत्वात् तथा करोतीति सूचितम्। स्वरतोऽपि रमया लक्ष्म्या रुक्मिण्या सह रेमे। न तु वाक्यैरेव निवृत्तव्यापारः। परब्रह्मणस्तदयुक्तमाशङ्क्य लीलानुकरणमाह नरलोकं विडम्बयन्निति। अन्यथा नरोऽयमिति लोकानां प्रतीतिर्न स्यात्। अतिदिशति अथान्यासामपीति। अयमेव न तास्वपि प्रकारः, किन्त्वतिरिक्तस्तत्तद्योग्यः। तदाह अथशब्दः। अन्यासामपि रुक्मिणीव्यतिरिक्तानां गृहेषु गृहवानिव प्राकृत इव तदनुकरणं कुर्वन् गृहमेधीयान् धर्मानास्थितः, लौकिकान् वैदिकांश्च। विडम्बनार्थं लौकिकाश्रयणम्, तत्पूर्वमुक्तम्। वैदिकाश्रयणे विशेषमाह लोकगुरुरिति। तथागत्य सर्वकरणे वहुकालस्थितौ च हेतुः हरिरिति ॥५६॥

व्याख्यार्थ—जिनसे सुरत (गाढ प्रेम) बढ़े वैसे सुरत योग्य वचन कहने लगे, 'भगवान्' शब्द से आप में लीला की योग्यता कही है, 'देवकीसुत' नाम कह कर यह सूचित किया है, कि स्त्रियों के प्रिय जो अर्थ है उसमें रुचि वाले हैं, कारण कि भक्तों के हित को आप ही एक सिद्ध करने वाले हैं इसलिये यों करते हैं। अपने में ही रमण करने वाले आत्माराम हो कर भी लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी के साथ रमण करने लगे, न कि केवल शब्द ही कह कर निवृत्त हो गये, आप परब्रह्म है, इसलिये आपको यों करना उचित नहीं, जिसका उत्तर यह है, नर लोक का अनुकरण कर दिखाते हैं, यदि यों नहीं करे तो मनुष्यों को यह प्रतीति न होवे कि यह मनुष्य हैं अब अन्याओं के पास यह प्रकार नहीं है, वह कहते हैं कि वह दूसरा प्रकार जो जिसके योग्य थी वहाँ वैसी लीला करते थे, अन्य घरों में प्राकृत गृहस्थी की तरह अनुकरण करते हुए गृह मेधीय लौकिक व वैदिक धर्मों का पालन करते हुए विराजते थे, लौकिक कर्म विडम्बना के लिये करते थे वह पहले ही कहा है, वैदिक कर्मों के करने का विशेष कारण बताते हैं कि आप लोक 'गुरु' हैं यों कर लोक को शिक्षा देनी है, वैसे आकर सर्व कर्म करने में हेतु वहुत काल रहता है एवं 'हरि' हैं जिससे सब के दुःख दूर करते हैं ॥५६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेएकादशमोध्यायः ॥१०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
अवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें।

रुक्मिणी परीक्षा

राग बिलावल

भक्त बछल हरि भक्त उधारन । भक्त परीच्छा के हित कारन ॥
रुकमिनि सों बोले या भाइ । हम जानी तुम्हरी चतुराइ ॥
राउ चँदेरी को सिसुपाल । जाकों सेवत सब भूपाल ॥
तासों तेरी भई सगाई । तैं पाती क्यों हमैं पठाई ॥
जाति पाँति उन सम हम नाहीं । हम निरगुन सब गुन उन पाहीं ॥
इन सम नहिं हमरी ठकुराई । पुरुष भले तैं नारि भलाई ॥
निःकिंचन जन मैं मम बास । नारि संग तैं रहौं उदास ॥
जो कहै मोहिं काहे तुम ल्याए । ताके उत्तर द्यों समुझाए ॥
कुंडिनपुर बहु भूपति आए । तिनके हृदय गरब सौं छाए ॥
बरजोरी मैं तोहिं हरि ल्यायो । उनके मन को गरब नसायो ॥
यह सुनि रुकमिनि भई बिहाल । जानि परचौ नहिं हरि को ख्याल ॥
लै उसाँस नैननि जल ढारे । मुख तैं बचन न कछु उचारे ॥
ताकी दसा देखि हरि जानी । इन मम भक्ति भलैं पहिचानी ॥
हँसि बोले तब सांरगपानी । प्रान प्रिया तुम क्यों बिलखानी ॥
मैं हांसी की बात चलाई । तुम्हरे मन यह सांची आई ॥
आंसू पोंछि निकट बैठारी । हँसी जान बोली तब प्यारी ॥
कहँ तुम त्रिभुवन पति गोपाल । कहाँ बापुरो नर सिसुपाल ॥
कहाँ चँदेरी कहं द्वारावति । जा कैं सरवरि नहिं अमरावति ॥
तुम अनभव वह जन मैं मेरे । मूरख वह तुम सरवरि करें ॥
तुम सम और नहीं जदुराइ । यहै जानि मैं सरनहिं आइ ॥
यह सुनि हरि रुकमिनि सौं कह्यो । जो तुम मोकों चितकरि चह्यौ ॥
त्यों ही मम चित चाहत तुमकौं । नहिं अंतर कछु तुम सौं हमको ॥
जदुपति को यह सहज स्वभाव । जो कोइ भजे भजें तिहिं भाउ ॥
जो यह लीला हित करि गावे । सूर सो प्रेम भक्ति को पावें ॥

'सूरसागर से'

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६१वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५८वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १२वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"पञ्चम अध्याय"

भगवान् की सन्तति का वर्णन तथा रुक्मी का मारा जाना

कारिका—**द्वादशे रमणं प्राह पुत्रपौत्रयुतस्य हि ।**
प्रसङ्गान्मारणं चोक्तं रुक्मिणः प्रतिबन्धनुत् ॥१॥

कारिकार्थ—पुत्र तथा पौत्रवाले का रमण १२ अध्यायों में कहा है और प्रसङ्ग से रुक्मी का वध भी कहा है; क्योंकि रुक्मी भजन में प्रतिबन्ध करने वाला था, कारण कि वह अविद्या के पाँच पर्वों में अज्ञान रूप पर्व था, इसलिए उसके मारने से भजन में प्रतिबन्ध टल गया ॥१॥

कारिका—**भगवान् केवलं लोके क्रीडार्थं न समागतः ।**
किन्तु सर्वोद्धारणाय तदुद्वाहेऽपि मारणम् ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् लोक में केवल क्रीड़ा के लिए नहीं, किन्तु सबका उद्धार करने के लिए आए है, इसलिए विवाह का समय होने पर भी रुक्मी को मार डाला ॥२॥

कारिका—**कलौ शुद्धक्षत्रियो हि न स्थाप्य इति निश्चयात् ।**
पापं विवाहमकरोत् फलं तस्याप्यसूचयत् ॥३॥

कारिकार्थ—कलियुग में शुद्ध क्षत्रिय नहीं रहे, यों निश्चय करने से पाप विवाह किया, जिसका फल भी रुक्मी के वध से सूचित कर दिखाया ॥३॥

कारिका—**देवकीप्रीतये वंशः स्थाप्य एवेति तत्तथा ।**
तदानीं सर्वधर्माणां सम्यक् स्थितिनिरूपणे ॥४॥

कारिकार्थ—उपरोक्त विवाह से अशुद्ध को सम्पादन कर अर्थात् शुद्ध क्षत्रिय न रहे, यह कार्य पूर्ण करके भी फिर वंश की स्थापना क्यों की ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि देवकी को प्रसन्न करने के लिए भगवत्सदृश सुतों को स्वीकार किया, जिनसे वंश स्थापना की, यों करने से सर्व धर्मों की स्थिति के निरूपण में योग दिया ॥४॥

कारिका—**'दशास्या'मिति वाक्येन दशपुत्रनिरूपणम् ।**
यथोक्तं श्रुतिसिद्धं हि कर्तुं नान्यः क्षमो भवेत् ॥५॥
लोकवेदौ पुरस्कृत्य रमणं तत्तथोच्यते ।

कारिकार्थ—'दशास्यां' इस वाक्य से दस पुत्रों की उत्पत्ति का निरूपण किया, जैसे कहा, वैसे श्रुति से सिद्ध कार्य अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है ॥५॥

लोक और वेद के अनुसार रमण किया, वह उसी तरह कहा जाता है ॥५½॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वं लौकिकं रमणमुक्तम्, इदानीं वैदिकं रमणमाह **एकैकश** इति ।

आभासार्थ—प्रथम लोकिक रमण कहा अब वैदिक रमण 'एकैकशः' श्लोक से लेकर 'कथ रुक्म्यरि पुत्राय' तक कहते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः ।
अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि एक एक रानी में से श्रीकृष्ण को दश दश पुत्र हुए, जो सर्व प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र से न्यून नहीं थे ॥१॥

सुबोधिनी—'कथं रुक्म्यरिपुत्राये' त्यन्तेन । धर्मो हि द्विविधः, विहितकरणं निषेधपरिपालनं च । 'त्रयोद्विषो हन्तव्या' इति, नोपेक्षितव्या इति, दैत्यानां रुक्मिप्रभृतीनां वधोऽप्यतोऽग्रे निरूप्यते। तत्र प्रथमं 'दशास्यां पुत्रानाधेही'ति वेदवाक्यात् सर्वास्वेव दश पुत्रान् नाधिकान् न न्यूनांश्चोत्पादितवानिति निरूप्यते । भगवत एकैकशः स्त्रियः ताः सर्वा एव कृष्णस्य स्वप्रियस्य अबलाः स्त्रियः दश दश पुत्रान् अजीजनन् । तासु पुत्रजनने भगवतः सर्वोऽपि भवाऽस्तीति ज्ञापयति । पितुः अनवमान् अन्यूनान् । केनचिदंशेन तथात्वं वारयति सर्वात्मसम्पदेति । सर्वा याः आत्मसम्पदः शरीरेन्द्रियादिसम्पत्तयः ताः समुदिताः प्रत्येकं भवन्तीति ज्ञापयितुमेकवचनं तासामेवोत्कर्ष इति कदाचित् स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—धर्म दो तरह का है, एक शास्त्र में जो आज्ञा है उसको करना, दूसरा जिसका निषेध है, उसको न करना. 'त्रयोद्विषो हन्तव्या' इति 'नोपेक्षितव्या' इति तीन प्रकार के शत्रु हैं उनका नाश ही करना चाहिये, कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अतः रुक्मी प्रभृति दैत्यों के वध का भी निरूपण आगे किया है. वहाँ प्रथम 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इस स्त्री में दश पुत्रों का आधान कर, अर्थात् इस स्त्री द्वारा दश पुत्र पैदा कर, इस वेद वाक्यानुसार प्रत्येक स्त्री से दश पुत्र उत्पन्न किये; न कम और न विशेष, अपने प्रिय कृष्ण की अबला प्रत्येक स्त्री ने पति की इच्छानुसार दश दश पुत्रों को जन्म दिया, इससे यह जताया कि, उन स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करने के भगवान् के सर्व भाव है, अतः उन पुत्रों में सब अपनी (श्रीकृष्ण की) पूर्ण शरीर इन्द्रिय आदि सम्पदा आयी, जिससे इन अबलाओं का ही उत्कर्ष कब हो, इसकी निवृत्ति के लिये कहा कि इनमें भगवान् के सर्व भाव थे अतः इनका हमेशा उत्कर्ष है ॥१॥

आभास—प्राकृतत्वमाह पञ्चभिः ।

आभासार्थ—पांच श्लोकों से 'प्राकृतपन' कहते हैं ।

श्लोक—गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वमतत्त्वविदः स्त्रियः ॥२॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र का घर से बाहर न जाना और वहां ही स्थित रहना देख, प्रत्येक स्त्री श्रीकृष्ण को अपना ही प्यारा पति समझने लगी, कारण कि वे तत्व को नहीं जानती थीं ॥२॥

सुबोधिनी – गृहादनपगमिति । आदौ साभिमाना जाता: । तत्र हेतु: गृहादनपगं भगवन्तं वीक्ष्येति । सर्वदा गृह एव भगवांस्तिष्ठति । भगवत्सम्बन्धेऽपि तथा दोषोत्पत्तौ औत्पत्तिकराजकन्यात्वं हेतु: । अच्युतत्वात् न स्वत: सुरतविच्छेद: । अत: स्वेच्छापूरकत्वं च ताभिर्ज्ञातम् । व्यापकत्वेनागमनमाशङ्क्य, लौकिकन्यायेन तथात्वमित्याह स्थितमिति । गृहेष्वेव लौकिकवत् स्थितम् । एवं भगवतो गुणत्रयेण कृत्वा आत्मानं प्रेष्ठं भगवत: प्रियममंसत । ननु सत्यमेव आत्मा प्रेष्ठ:, भगवतोऽप्यात्मैवेति, तत्राह अतत्त्वविद इति । तस्य तत्त्वं तत्तत्त्वं च न जानन्ति । भगवदभिप्रायं वस्तुतत्त्वं च न जानन्तीत्यर्थ: । यत: स्त्रिय: ॥२॥

व्याख्यार्थ—पहले तो उनको अभिमान होने लगा, कारण कि उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण घर में ही रहते हैं बाहर दूसरी के यहा जाते ही नहीं हैं, भगवान् से सम्बन्ध होने पर भी ऐसा दोष उन में उत्पन्न हुआ जिसका कारण राजकन्याओं में उत्पत्ति का हेतु कारण था, अच्युत का सुरत सम्बन्ध अच्युत होने से उसका स्वत: विच्छेद नहीं, अत: उन्होंने अपनी इच्छा की पूर्ति करने वाला समझा, यों तो भगवान् व्यापक हैं जिससे वे कहीं न जाते हैं न आते हैं, फिर उन्होंने ऐसे क्यों समझा कि कहीं गये नहीं, हमारे ही यहां हैं । लौकिक दृष्टि से यों समझा, कारण कि, तत्वविदा नहीं है, अत: घरों में ही लौकिक की भांति स्थित समझा, भगवान् के गुणत्रय के कारण भगवान् को अपना ही प्रिय प्रेष्ठ समझने लगीं । यह तो सत्य ही है, कि आत्मा प्रेष्ठ ही है, भगवान् भी आत्मा ही हैं, यदि यों कहो कि ऐसा समझने में क्या है ? इस पर कहते हैं कि भगवान् आत्मा होने से प्रेष्ठ हैं किन्तु ये इस तत्व को नहीं जानती हैं, अर्थात् न भगवान् के अभिप्राय को और न वस्तु के तत्व को जानती है, लौकिक दृष्टि से लौकिकवत् प्रेष्ठ कहती हैं क्योंकि स्त्रियाँ हैं ॥२॥

आभास—तत्सम्बन्धाद्भगवतोऽपि कदाचित्तद्धर्मसम्बन्ध: स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति **चार्वब्जकोशेति** ।

आभासार्थ– उसके सम्बन्ध से कदाचित् भगवान् को भी उसके धर्म का सम्बन्ध हो जावे तो ? इस शङ्का का 'चार्वब्जकोश' श्लोक से निराकरण करते हैं ।

श्लोक—**चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्रसप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पै: ।**
संमोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमै: समशकन्वनिता विभूम्न: ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् के सुन्दर कमलकोश के सदृश मुख,लम्बी भुजा और विस्तीर्ण नेत्र एवं प्रेम सहित हास्य रस के साथ जो अवलोकन तथा मनोहर भाषण, इन सब से; ये स्त्रियाँ मोहित हो जाने से, अपने अनेक भ्रू विलासों से भगवान् के मन को जीत न सकीं ॥३॥

सुबोधिनी– भगवद्धर्मै: संमोहिता: भगवन्तं व्यामोहयितुं न समशकन् । स्वयं वनिता: वनं प्राप्ता:, यत्र संसाराटवी सम्पद्यत इति । स तु विभूमा । विगतो भूमा यस्मादिति । स्वयमुज्झट–

प्रायाः, स तु सर्वाधिवास इति यावत्। तासु भगवतः षड्धर्मान् मोहकानाह। चार्वब्जकोशवत् वदनम्। आयता बाहवः। नेत्रे च। सप्रेमहासः। रसपूर्वकं वीक्षितम्। वल्गुजल्पाः मनोहरकथाः। पूर्णरसाख्यापनार्थं चार्वब्जकोशत्वम्। परिष्वङ्गक्रिया पूर्णेति ख्यापयितुं आयतपदम्। नेत्रं सौन्दर्यार्थं भिन्नम्। तद्धि स्वरूपतोऽपि रसोद्बोधकम्। ऐतत्त्रयं कायिकं रसार्थम्। मानसिकमाह सप्रेमहासरसवीक्षितमिति। प्रेम हास्यं रसवीक्षितानीति त्रयम्। स्नेहाभावे तत्र रसालं भवतीति सहभावो निरूपितः। हासो रसोद्बोधकः, रसवीक्षितानि प्रलोभकानि। वाचनिकान्याह वल्गुजल्पैरिति। मनोहरार्थानि वाक्यानि स्वपक्षस्थापकानि परपक्षदूषकाणीति, तान्यपि त्रिविधानि। एवं कायवाङ्मनोभिः सम्मोहिताः, अतः एव दुर्बलाः भगवतो मनो विजेतुं वशीकर्तुं नाशकन्। अनेन भगवच्चित्तं तासु नासक्तमित्युक्तम् ।३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के धर्मों से मोहित हुई स्त्रियाँ भगवान् को मोहित न कर सकीं, ये स्त्रियाँ वनिताएँ हैं अर्थात् संसार रूप वन में घूम रही हैं अर्थात् संसारिणी हैं, किन्तु भगवान् विभूमा हैं अर्थात् जिनमें बहुतायत नहीं है, एक रस ही है और सर्व का निवास है किन्तु स्त्रियाँ प्रायः सकुचित हैं, उनको मोहित करने वाले भगवान् के जो छः गुण हैं, वे कहते हैं, सुन्दर कमल के कोश की भाँति मुखारविन्द, बड़ी भुजाएं, वैसे नेत्र, प्रेम पूर्वक हास, रस पूर्ण दृष्टि, सुन्दर व मनोहर कथाएं, इन छहों को सुन्दर कमल की उपमा का तात्पर्य है कि ये उसकी तरह पूर्ण रस देने वाले हैं, यों प्रकट करने के लिये हैं। 'आयत' पद देकर यह बताया कि आलिङ्गन की क्रिया पूर्ण हुई है, नेत्र पृथक् देकर सौन्दर्य प्रकट किया, वे नेत्र स्वरूप से भी रस प्रकट करने वाले हैं, ये तीनों कायिक रसके लिये हैं अब प्रेम, हास, ईक्षण से तीन मानसिक रस के लिये कहे हैं। स्नेह न हो तो हास्य और ईक्षण भी रसाल नहीं होते हैं इस लिये इन तीनों को साथ में कहा है, हास रस को प्रकट करता है, रस सहित देखना मोहित करने वाला है, सुन्दर मनोहर वचन, अपने पक्ष को स्थापना और पर पक्ष को अवहेलना करते हैं, वे भी तीन प्रकार के हैं, इस प्रकार काया, वाणी तथा मन से मोहित हो जाने से वे निर्बल हो गई हैं जिससे भगवान् के मन को जीतने में समर्थ नहीं हैं इसलिये भगवान् का मन उनमे आसक्त नही होता है ।।३।।

आभास—नापि क्षोभं जनयितुं शक्ता इत्याह **स्मायावलोकेति**।

आभासार्थ—क्षोभ को भी उत्पन्न करने में समर्थ न हुई, स्मायावलोक' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—स्मायावलोकलवदर्शनभावहारिभ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ।।४।।

श्लोकार्थ—मद युक्त दृष्टि से भाव को हरण करने वाले भ्रुकुटि मडल से प्रेरित सुरत सम्बन्धी विचारों प्रगल्भ जो कामदेव के बाण हैं और शास्त्र प्रसिद्ध काम की उत्पत्ति के जो उपाय है, उनसे ये सोलह हजार स्त्रियाँ भगवान् के मन को सहस्र प्रकार से भी मोहित कर न सकी तथा कपट धर्म तरीको से भी मोहित करने में समर्थ नहीं हुई ।।४।।

सुबोधिनी—आसक्तिरन्या, मनःक्षोभोऽन्यः। कदाचिद्वशीकरणार्थं भावानुत्पाद्य कथञ्चित्स्वमोहमपि प्रतिबध्य विलम्बमाना भवेयुः, तथाकरणेऽपि न क्षोभका जाता इति सम्बन्धासम्बन्धाभ्यां भगवति दोषमुत्पादयितुं न शक्ता इति निरूप्यते। स्मायावलोकः गर्वपूर्वकं दर्शनम्, तेन सम्बन्धे विलम्बं सूचयन्ति, मानापनोदनार्थमुपेक्षां बाधितुं लवदर्शनानि च कुर्वन्ति, कटाक्षैः अलसवलितादिभिः स्वासक्तिं कुर्वन्ति, ततो भावहारि भ्रूमण्डलं कुर्वन्ति, तेन यथैव भगवतो भावः मनोधर्मः, स्वस्मिन्नासक्तं भवति, तादृशं कामशास्त्रसिद्धं भ्रूमण्डलं कुर्वन्ति, तैस्त्रिभिः प्रहिता याः चेष्टाः सौरतमन्त्रैश्च शौण्डाः बलिष्ठाः। सुरतोद्बोधकानि यानि गुह्यभाषणानि। अनेन दृष्टादृष्टसाधनानि निरूपितानि। सर्वाश्च पत्न्यः यथासुखं प्रवृत्तौ सङ्कोचरहिताः प्रतिबन्धरहिताश्च। तत्रापि षोडशसहस्रं षोडशकलस्य मनसः सहस्रप्रकारेण व्यामोहनसमर्थाः। अनङ्गबाणाः चेष्टासहितावयवविशेषाः यैर्जयो भवत्येव। मन्त्रसहिता बाणा. कार्यसाधका इति ब्रह्मास्त्रादिषु प्रसिद्धिः। मण्डलीकृतकार्मुका दृष्टिमुष्टयोरेकत्वाय लवदर्शितानि। वीरसाविष्काराय स्मायावलोक इति। एवं सर्वसाधनसम्पत्तियुक्तैरपि बाणैः यस्येन्द्रियं मनश्च विमथितुं ग्लानियुक्तं अस्तम्भयुक्तं वा कर्तुं न शेकुः। सहजानामेतादृशेर्थे जयो न भवतीति कठिनदुर्गस्थेषु राजधर्मेषु कापट्यं निरूपितमिति कुहकैः कपटधर्मैरपि न शक्ताः॥४॥

व्याख्यार्थ—आसक्ति अन्य वस्तु है और मन का क्षोभ दूसरी वस्तु है कदाचित् वश करने के लिये किसी तरह अपने मोह को भी रोक कर, विशेष समय ठहर कर भावों को उत्पन्न करती थीं, तो भी भगवान् के मन में क्षोभ उत्पन्न न करा सकी, इसका निरूपण करते हैं, गर्व से देखने लगी, उससे सम्बन्ध में विलम्ब का सूचन करती हैं, मान का उपमर्दन करने के लिये, उपेक्षा का बाध करने के वास्ते लेश मात्र दर्शन करती हैं, इस प्रकार देखने से आशय यह था कि भगवान् का भाव हम में आसक्त हो जावे, वैसे ही काम शास्त्र में सिद्ध भ्रूमण्डल करने लगी, उन तीन भावों से चेष्टाएं कर दिखाई और सुरत को जगाने वाले गुप्त भाषण भी किये, जिनसे वे चेष्टाएं बलिष्ठ होने लगीं, इससे दृष्ट तथा अदृष्ट साधन निरूपण कर बताये, समस्त पत्नियाँ सङ्कोच को त्याग प्रतिबन्ध रहित होकर सुख पूर्वक मन को क्षोभ करने के कार्य में प्रवृत्त हुईं, स्त्रियाँ सोलह हजार थीं और मन १६ कला का था, उसको मोहित करने में समर्थ थीं, क्योंकि इनके पास अनङ्ग के बाण जिनसे जय होती है, वे हैं, मन्त्र सहित बाण, कार्य को सिद्ध करने वाले होते हैं यह ब्रह्मास्त्र आदि के कार्यों से प्रसिद्ध ही है, दृष्ट द्वारा, इकट्ठे किये हुए धनुष, तथा दृष्टि और मुष्टि का एकत्व दिखाने के लिये लेश मात्र देखना कहा हैं, गर्व से देखने का भाव यह है कि इस प्रकार की दृष्टि से वीर रस का आविष्कार होता है, इस प्रकार समस्त साधनों की सम्पत्ति से युक्त भी बाणों से जिसके मन और इन्द्रिय को मथन करने के लिये, अथवा ग्लानि से युक्त एवं अस्थिर करने में समर्थ न हुई सरल स्वाभाविक साधनों की एसे कार्य में जय नहीं होती है, कठिन दुर्गों में स्थित राजधर्मों में कापट्य से कार्य सिद्ध होता है, किन्तु यहां कपट धर्मों से भी मन को वश न कर सकीं ॥४॥

आभास—एवं तासां दोषं तत्सम्बन्धेन भगवति दोषाभावं च प्रतिपाद्य, भगवत्सामर्थ्येनैव तासु धर्मः स्थापित इति पुत्रोत्पादनमुक्त्वा, 'पतिमेकादशं कृधी'ति वेदवाक्यानुसारेण भगवत्सेवां कृतवत्य इत्याह द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के दोषों के सम्बन्ध से भगवान् में दोषों का प्रवेश न हुआ, यह प्रतिपादन, भगवान् के सामर्थ्य से उनमें धर्म स्थापित हुआ. इसलिये पुत्रों का उत्पादन कह कर 'पति मेकादशं कृधी'ति इस वेद वाक्य के अनुसार भगवान् की सेवा करने लगीं, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक—इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमलालसाढ्यम् ॥५॥

श्लोक—प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्तपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवी को नहीं जानते ऐसे लक्ष्मीपति भगवान् से पति पाकर, ये स्त्रियां निरन्तर बढ़ते हुए प्रेम से इस प्रकार स्नेह सहित हास्य, कटाक्ष और नव सङ्गम में, उत्सुकता इत्यादि विलासों का सेवन करती थीं ॥५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि प्रत्येक के पास सैंकडों दासियाँ थीं, तो भी, सन्मुख जाना, आसन देना, श्रेष्ठ पूजन करना, पाद धोना; बीड़ा देना, हवा करनी, चन्दन चरचना, पाँव चांपना, पुष्पों की माला पहिराना, केश सँवारना, सेज सँवारना, स्नान करवाना और भोजन करवाना, इत्यादि उपचारों से वे भगवान् की दास्य भाव से सेवा करती थीं ॥६॥

सुबोधिनी - इत्थमिति । पूर्वमेतच्छ्लोकद्वयं व्याख्यातम् । विवाहप्रसङ्गे उक्तमपि पुनः स्वस्थाने तदेवोक्तवान् । तस्मात्सर्वोऽप्यर्थः स एव । भ्रमव्यावृत्त्यर्थं पाठविशेषमाह लालसाढ्यमिति । पूर्वमनुरागादयः स्त्रीनिष्ठाः, इदानीं भगवन्निष्ठाः । अनुरागपूर्वको हासो मानसः अवलोक ऐन्द्रियः, नवसङ्गमः कायिकः । त्रिभिरपि या लालसा तदिच्छाविशेषः तया आढ्यो भगवान् । स्त्रीनिष्ठानेतान् धर्मान् स्वस्मिन् भावयतीति भगवन्निष्ठा धर्माः । प्रत्युद्गमादिभिः दास्यं च विदधुः । सेवा तदपेक्षिता कामकृता, दास्यं साधारणमिति विशेषः । स्त्रीत्वं भक्तत्वं देहमन्तःकरणं च कृतार्थीकृतवत्य इत्यर्थः ॥५-६॥

व्याख्यार्थ— इन दो श्लोकों की व्याख्या पहले विवाह प्रसङ्ग में की है, विवाह, प्रसङ्ग में कहे हुए भी यहां फिर अवसरानुसार वे ही कहे हैं, इससे इन दोनों का अर्थ वही है जो वहाँ पहले कर दिया है, भ्रम के मिटाने के लिये कुछ विशेष पाठ कह दिया है जैसा कि 'लाल साढ्यम्' प्रथम अनुराग आदि स्त्रियों में स्थित थे, अब भगवान् में है अभिमान् के साथ देखना मानस है यों ही अवलोकन ऐन्द्रिय है, नव सङ्गम कायिक है, इन तीनों से जो लालसा उत्पन्न हुई, उसकी जो इच्छा

विशेष उससे युक्त भगवान् हैं, स्त्रियों में निष्ठ इन धर्मों की भावना भगवान् अपने में करते है, इसलिये ये धर्म भगवन्निष्ठ हैं. सामने जाना आदि धर्मों से वे स्त्रियां अपना दास भाव सिद्ध करने लगी, उनको अपेक्षित कामकृत सेवा थी, दास्य तो साधारण, यह विशेष है, स्त्रीत्व, और भक्तत्व इन दोनों से देह तथा अन्त: करण को कृतार्थ कर लिया ॥६॥

आभास—विधिप्राधान्यात् विधिसिद्धानामष्टमहिषीणां पुत्रान् गणयितुमारभते । येन भगवान् धर्मरक्षार्थमेतावद्रूपो जात इति तन्नामग्रहणे राज्ञः पापक्षयो भवतीति, तदर्थं प्रसिद्धान्यपि नामानि निरूपयति ।

आभासार्थ—शास्त्र विधि प्रधान है इसलिये विधि से सिद्ध आठ पटरानियों के पुत्रों की गणना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान्, धर्म की रक्षा के लिये, इतने रूप हुवे, उनके नाम ग्रहण करने से राजा के पापों का क्षय होगा, जिसके लिये प्रसिद्ध नाम निरूपण करते हैं—

श्लोक—तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि ते ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के उन स्त्रियों से दस-दस पुत्र हुए, प्रथम कही हुई आठ पटरानियों के जो प्रद्युम्न आदि पुत्र हैं, उनके नाम तुम्हें कहता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—तासां कृष्णस्त्रीणां दशपुत्राणाम् सर्वा एव दशपुत्रयुक्ताः । तासां मध्ये याः पूर्वमुक्ता अष्टौ महिष्यः रुक्मिणीप्रभृतयः तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन्, ते त्वद्धितार्थं गृणामि । अन्याः कामकृता इति न तेषां नामग्रहणम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—उन कृष्ण की सर्व स्त्रियों से दश दश पुत्र हुए, उनमें से जो पहले कही हुई आठ रुक्मिणी प्रभृति पटरानियाँ जिनका विवाह विधिवत् हुआ है, उनसे उत्पन्न प्रद्युम्न आदि दश पुत्रों के नाम तेरे हित के लिये कहता हूं अन्य जो काम कृत हैं, इसलिये उनके नाम नही कहता हूं ॥७॥

श्लोक—चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥८॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यानवमाः पितुः ॥९॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी से प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त,

भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु; ये दस हरि के पुत्र वीर्य (पराक्रम) वाले थे तथा भगवान् से गुणों में न्यून नहीं थे ॥८-६॥

सुबोधिनी—चारुदेष्णादयो नव प्रद्युम्नानन्तरभाविनः । यथा नामावयवास्तद्गुणाः । वीर्यवानिति विशेषणं सुन्दरदेहस्य शौर्यशङ्काभावेनोक्तम् । चकाराः सर्वत्र पूर्वधर्मसमुच्चयार्थाः । अन्तिमः कन्यासमुच्चयार्थः । अन्येऽपि कन्यासमुच्चयार्था इति केचित् । यदनन्तरं कन्या, तत्र चकार इति । हत्थेति वीर्यवान् । तेन सह वीर्यवत्त्वमाशङ्क्य पृथगुपदिशति अपर इति । परः सर्वेभ्यः श्रेष्ठो वा । दशम इति क्रमोऽत्र विवक्षित इत्युक्तम् । हरेः सकाशात् प्रद्युम्न एव प्रमुखो येषाम् रुक्मिण्या जाताः । करणमात्रं रुक्मिणी, नत्वेते मातृपुत्रा इति । तत्र हेतुः यतः पितुरनवमाः । अवमो न्यूनभावः ॥८-६॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न के अनन्तर चारुदेष्ण आदि नव पुत्र हुए. नामों के अनुसार ही उन में गुण थे, 'वीर्यवान्' विशेषण से यह बताया है, कि ये सब सुन्दर एवं शूरवोर थे । इनकी वीरता में शङ्का करनी ही नहीं चाहिये, प्रत्येक के पीछे 'च' पद देकर यह जताया है कि पूर्व में कहे वीर्य आदि सब धर्म उनमे है, अन्त में कहे हुए 'च' का आशय कन्या-समुच्चय के लिये है कोई कहते हैं कि सब 'च' कन्या समुच्चय के लिये है अर्थात् जिसके बाद कन्या हुई वहाँ 'च' दिया है, वीर्यवान् भी सब का विशेषण है, इस प्रकार कोई समझे तो उस शङ्का के मिटाने के लिये 'अपर' विशेषण पृथक् दिया है, जिसका अर्थ है सब से श्रेष्ठ, अर्थात् वीर्यवान् विशेषण विशेष प्रद्युम्न के लिये ही हैं, 'दशम' अर्थात् प्रद्युम्न पहला एवं सब से उत्तम वीर्यवान् है इस प्रकार क्रम कहना चाहिये था, क्योंकि हरि से प्रद्युम्न ही प्रमुख रूप से उत्पन्न हुवे हैं रुक्मिणी से प्रकट हुए, किन्तु रुक्मिणी केवल साधन थी, ये सब माता के पुत्र नहीं, क्योंकि पिता से कम नहीं थे, उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं थी ॥८-६॥

श्लोक—**भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा ।**
चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥१०॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।

श्लोकार्थ—भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु तथा भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु तथा आठवां अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु; ये दस सत्यभामा के पुत्र हैं ॥१०½॥

सुबोधिनी—भानुप्रभृतयो दश सत्यभामायाः। तथेति यस्य कर्माणि न प्रसिद्धानि, सोऽपि प्रसिद्धवदेव ज्ञातव्य इति तथेत्युच्यते क्वचित् । अष्टम इति तस्य स्वतन्त्रता महत्त्वं च । सङ्ख्यायां पृथगुपदेशात् । सत्यभामात्मजा इति परिज्ञानार्थमेव मातृनिरूपणम् । सर्वेषां पुत्राणां सर्वासु मातृव्यवहारस्तुल्य इति ॥१०½॥

व्याख्यार्थ— भानु से लेकर प्रति भानु तक सत्यभामा के दश पुत्र हैं, जिनके कार्य प्रसिद्ध नहीं

हुवे हैं, वह भी प्रसिद्ध कार्य करने वालों के समान ही क्वचित् जानते हैं, इसलिये श्लोक में 'तथा' पद दिया है, आठवें अतिभानु की स्वतन्त्रता तथा महत्व सब से पृथक् है इसलिये उसकी संख्या 'अष्टम' दी है, 'सत्यभामात्मजा' पद केवल ज्ञान कराने के लिये माता का निरूपण किया है, यों तो सत्यभामा भी साधनमात्र ही है सर्व पुत्रों का सब में मातृ व्यवहार समान ही है ।।१०½।।

श्लोक—साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ।।११।।
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः ।
जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः ।।१२।।

श्लोकार्थ—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड़, क्रतु; ये जो दस पुत्र जाम्बवती के हुए, वे पिता को मान्य थे।।११-१२।।

सुबोधिनी—साम्बादयो दश जाम्बवत्याः सुताः । एते इति तेषां देवतात्वात् निरूपणसमये उपस्थितिमाह । पुनः **साम्बाद्या** इति वचनं दशानां द्विःस्वभावत्वं द्योतयति । ततो भगवतोऽसम्मतिमाशङ्क्य पितृसम्मतिमाह **पितृसम्मता** इति ।।११-१२।।

व्याख्यार्थ— जाम्ब से लेकर क्रतु तक दश पुत्र जाम्बवती के थे, 'एते' पद से उनके देवतापन से निरूपण के समय, उपस्थिति को कहते हैं, फिर 'साम्बाद्याः' यह वाक्य कह कर बताते हैं कि दश ही पुत्र दो स्वभाव वाले हैं, जिससे भगवान् की इसमें सम्मति नहीं है यों किसी को शङ्का उत्पन्न हो तो उसके निवारण के लिये 'पितृ सम्मताः' पद दिया है, जिसका अर्थ है पिता के मान्य हैं ।।११-१२।।

श्लोक—वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः ।
आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान्कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः ।।१३।।
श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।
शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ।।१४।।
सुघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।
माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ।।१५।।

श्लोकार्थ—नाग्नजिती के वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शङ्कु, वसु और श्रीमान् कुन्ति; ये दस पुत्र हुए ।।१३।।

कालिन्दी के श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सब से छोटा सोमक; ये दस पुत्र हुए ।।१४।।

माद्रि के सुघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह और ओज, अपराजित; ये दस पुत्र हुए ।।१५।।

सुबोधिनी - **श्रीमानिति** विशेषणं। नाग्नजितेः सत्यायाः पुत्राः। श्रुतादयो दश कालिन्द्याः। **एकल** इति विशेषणं एक एव सन् सर्वान् शत्रून् लातीति। सोमकस्त्ववरो दशमः। सङ्ख्यापूरणार्थं पश्चादुत्पन्नः। सुघोषादयः माद्रयाः लक्ष्मणायाः पुत्राः। **ऊर्ध्वग** इति नाम। महाशक्तिरेकः। सहो भिन्नः। ओजश्च। **अपराजित** इति नाम ॥१३-१४-१५॥

व्याख्यार्थ — श्रीमान् यह नाम नहीं है, किन्तु विशेषण है, नाग्नजिति सत्या का नाम है जिसके वीरादि दश पुत्र हैं, श्रुत आदि दश कालिन्दी के पुत्र हैं, इनमें 'एकल' यह विशेषण है जिसका अर्थ है, एक ही सर्व शत्रुओं को मारने में समर्थ है, दशवां सोमक अवर है, अर्थात् संख्या पूर्ति के लिये पीछे उत्पन्न हुआ सुघोष आदि माद्री अर्थात् लक्ष्मणा के दश पुत्र हैं उर्ध्वग यह नाम है महाशक्ति एक है, यह पृथक् है, और ओज, अपराजित यह भी नाम हैं ॥१३-१४-१५॥

श्लोक—**वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च ।**
महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धनु, अन्नाद, महाश, पवन, वह्नि और क्षुधि; ये मित्रविन्दा के दस पुत्र हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—वृकादयो दश मित्रविन्दायाः। महाश इति नाम। क्षुधिर्दशमः सङ्ख्यापूरकः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वृक आदि दश पुत्र मित्रविन्दा के हैं, 'महाश' यह नाम है 'क्षुधि' संख्या पूरक दशवां है । १६॥

श्लोक—**संग्रामजिद्बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।**
जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥१७॥
दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनया हरेः ।

श्लोकार्थ—भद्रा के संग्रामजित्, वृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम आयु और सत्यक; ये दस पुत्र हुए, भगवान् की रोहिणी स्त्री से दीप्तिमान् और ताम्रपत्र आदि दस पुत्र हुए ॥१७½॥

सुबोधिनी—सङ्ग्रामजिदादयो दश भद्रायाः। सत्यको दशमः। रोहिणी षोडशसहस्राणां शताधिकानां मुख्या। क्वचिदेषैवाष्टमहिषीमध्य इति भद्र याः स्थाने मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धा। तस्या दीप्तिमान् पुत्रः अष्टमहिषीपुत्रतुल्यः। तेनैकाशीति पुत्राः एकाशीति भक्तिप्रकारा इव भगवता प्रकटीकृता इति द्योतितम्। ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनयाः साधारणाः। अस्या दशपुत्रागणनमन्यासां दशपुत्रत्वख्यापकम् ॥१७½॥

व्याख्यार्थ—संग्रामजित् से लेकर सत्यक तक भद्रा के दश पुत्र हुए, सोलह हजार एक सो में रोहिणी मुख्य थी, कहीं मन्त्र शास्त्र में यह रोहिणी आठ पटराणियों में भद्रा के स्थान पर प्रसिद्ध है. उसका दीप्तिमान् पुत्र आठ पटरानियों के पुत्र तुल्य हैं, जिससे ये इक्यासी पुत्र इक्यासी भक्ति के प्रकार की भाँति प्रकट किये, यों प्रकाशित किया, रोहिणी के ताम्र, पत्र आदि पुत्र साधारण थे, इनके दश पुत्र इसलिये नहीं गिने जिससे अन्यों के दश पुत्र प्रसिद्ध देखने में आवें ॥१७½॥

आभास—पौत्रान् निरूपयन् एकं निरूप्य तत्सदृशा अन्य इत्यतिदिशति प्रद्युम्नाद्धानिरुद्धोऽभूदिति ।

आभासार्थ—पौत्रों का निरूपण करते हुवे एक का निरूपण कर यह बताते हैं कि अन्य भी इसके समान ही हुवे हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुआ, इस प्रकार निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥
पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन्नाम्ना भोजकटे पुरे ।
एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

श्लोकार्थ—प्रद्युम्न की स्त्री, रुक्मी की पुत्री रुक्मवती से भोजकट नगर में अनिरुद्ध का जन्म हुआ ॥१८॥

हे राजन् ! इनके पुत्र-पौत्र करोड़ों हुए, कृष्ण के पुत्रों की सोलह हजार माताएँ थीं ॥१९॥

सुबोधिनी—रुक्मवती रुक्मिणः पुत्री मातुलकन्या। प्रद्युम्नस्तत्रैव कियत्कालं स्थितः। तत्रैव विवाहं कृत्वा पुत्रमुत्पादितवान्। शत्रुगृहे कथमेकाकी स्थित इति शङ्कां वारयति **महाबल** इति। चरत्वर्थे। भगवदाविष्टात् प्रद्युम्नादनिरुद्धो जात इति ज्ञापयितुं चकारः। अन्यथा कामाज्जातोऽप्रयोजकः स्यात्। मायावत्यामुत्पादनं वारयति **पुत्र्यां तु रुक्मिण** इति। मायावत्या नामान्तरमावेशो वा स्यादिति तुशब्दः असम्भावनां व्यावर्तयति। राजन्निति सम्बोधनं प्रद्युम्नस्य द्वारकाप्रेषणाभावं द्योतयति। सोऽपि राजा तत्रैव जामातरं दुहितरं च स्थापितवानिति। **पुरे** स्वनगरे। नाम्ना भोजकटे। एकं पौत्रमुक्त्वा अन्याननतिदिशति। एतेषां पुत्रपौत्राश्च पुत्राः पौत्राश्च कोटिशो जाताः। न तेषु दशसङ्ख्यानियमः। सर्वेषामेकमत्यार्थमाह **मातरः कृष्णजाताना**मिति। सर्वेषामेव भगवत्पुत्राणां सर्वा एव भगवत्स्त्रियो मातरः। यथा जननी, तथैव सर्वा इति सापत्न्याभावो निरूपितः। चकारादष्टोत्तरशतम्। ॥१८-१९॥

व्याख्यार्थ—रुक्मवती, रुक्मी की पुत्री प्रद्युम्न के मामे की पुत्री थी, प्रद्युम्न कितना ही समय

वहाँ मामा के घर रहे थे, वहाँ ही विवाह कर पुत्र पैदा किये, अकेला शत्रु के घर में कैसे रहा? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'महाबल' प्रद्युम्न बहुत बल वाला था, इसलिये वहाँ रहने में इसको किसी प्रकार डर न लगा, 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है तथा 'च' पद का यह भाव है कि प्रद्युम्न में भगवान् के आविष्ट होने से ही अनिरुद्ध का जन्म हुवा है, यह जताने के लिये 'च' कहा है यदि प्रभु का आवेश न होता तो काम से उत्पन्न होने से प्रयोजक न हो सकता, रुक्मी की पुत्री कह कर मायावती का निषेध किया, 'तु' शब्द से यह जताया है कि मायावती का दूसरा नाम अथवा आवेश हो, इस असम्भावना को दूर करता है। राजन् यह सम्बोधन देकर, प्रद्युम्न का द्वारका भेजने का निषेध सूचन करते हैं, वह रुक्मी भी राजा था, इसलिये वहाँ ही जँवाई और पुत्री को अपने नगर में रखा था, जिस नगर का नाम भोजकट (वर्तमान 'भुज' जो कच्छ में है) था, एक पौत्र का वर्णन कर, दूसरों के लिये कहते हैं कि इनके पुत्र और पौत्र करोड़ों हुए, उनमें दश संख्या का नियम नहीं था, सर्व के ऐकमत्य से कहते हैं, कि भगवान् के जो सोलह हजार स्त्रियां थीं वे सब भगवान् के प्रत्येक पुत्र की माताएँ थी, जैसे जैसे जन्म देने वाली माता, वैसे ही सब माताएँ थीं, सौतिल का भाव किसी में नहीं था, 'च' से १०८ भी वैसी ही माताएँ मानी जाती थीं ॥१८-१९॥

आभास—रुक्मिकन्याविवाहः असम्बद्ध इति तत्र हेतुं पृच्छति **कथमिति**।

आभासार्थ—रुक्मी की कन्या का प्रद्युम्न से विवाह अयोग्य है, यों अयोग्य विवाह करने में क्या कारण है वह 'कथं' श्लोक में पूछता है।

श्लोक—राजोवाच—**कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि।**
कृष्णेन परिभूतस्त हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते।
एतदाख्याहि मे विद्वन्द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥२०॥

श्लोकार्थ—राजा कहता है—हे विद्वन्! रुक्मी ने अपने शत्रु के पुत्र को अपनी कन्या कैसे दी? वह युद्ध में श्रीकृष्ण से पराभव पाकर उसको मारने के लिए छिद्र देख रहा था, ऐसी स्थिति में शत्रुओं का यह विवाह सम्बन्ध किस प्रकार हुआ? यह बताईये ॥२०॥

सुबोधिनी - विवाहः स्नेहकृत. पुत्रः पितुरिति अर्थपेक्षया अरिपुत्रो द्वेष्यो भवति, दुहिता चात्यन्तं प्रिया। द्वेषकारणमाह **युधि कृष्णेन परिभूत** इति। विस्मृतो द्वेष इति चेत्। तत्राह **हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षत** इति। अद्यापि द्वेषव्यापारान्न निवृत्त.। **रन्ध्रमिति** साक्षाद्विरोधे असामर्थ्यं सूचितम्। प्रसिद्धसम्बन्धहेतोरभावात् हेत्वन्तरं पृच्छति **एतदाख्याहीति**। **विद्वन्निति** कथने ज्ञान हेतुभूतं निर्दिशति। द्विषोः परस्परं द्वेषविषययोः मिथो वैवाहिकं विवाहसम्बन्धि व्यवहरणं कारणं वा ॥२०॥

व्याख्यार्थ—विवाह प्रेम से होता है अर्थात् जिनका आपस में प्रेम होता है वे परस्पर विवाह

सम्बन्ध करते हैं, पिता का ही रूप पुत्र है, शत्रु की अपेक्षा शत्रु का पुत्र द्वेष के योग्य है, और पुत्री तो अपार प्यारी होती है, शत्रुता का कारण कहते हैं. लड़ाई में कृष्ण से हार गया था; यदि कहो कि वह द्वेष मिट गया, तो यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आज तक शत्रुता के कार्य चालू हैं, साक्षात् विरोध करने में रुक्मी असमर्थ है, सम्बन्ध करने का कोई प्रसिद्ध कारण देखने में नहीं आता है, इसलिये पूछता है कि बताईये कि क्या कारण है ? 'विद्वन्' संबोधन से यह सूचित करता है कि आप ज्ञानवान् हैं इसलिये आप इसके तत्व को जानते हैं कि, दोनों शत्रुओं का आपस में परस्पर विवाह करने का क्या कारण है, वह कृपा कर बताईये ॥२०॥

आभास—नन्वेतत्पूर्वं न श्रुतम्, समाध्यभावादधुना न चिन्त्यत इति तज्ज्ञानं कथमिति चेत्, तत्राह **अनागतमतीतं** चेति ।

आभासार्थ– यह पहले नहीं सुना, समाधि के अभाव से अब भी उसका चिन्तन नहीं कर सकते हैं, इसलिये उसका ज्ञान कैसे हुआ ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'अनागत' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।**
विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जो वस्तु भविष्य, भूत और वर्तमान तथा इन्द्रियों से अगम्य है एवं दूर और किसी की ओट में हो, उसे भी योगीजन अच्छी तरह देखते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—योगिनां देशकालव्यवधायकानि ज्ञाने न प्रतिबन्धकानि। यथा चक्षुःसन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः प्रत्यक्षे, तथा सर्वत्र योगिनां योगजधर्मः प्रत्यासत्तिः। कालो हि वस्तूनि नयति, यथा नदी जलम् । यद्यपि जलमभिज्ञानद्रव्यसहितं क्वचिद्देशे स्थितं तस्मिन् समये तद्देशस्थितः पश्यति, तथापि प्रदेशान्तरे गतं न पश्यति तद्देशस्थितः। सहगतो वा तदपि पश्यति । यथा वा मनुष्यैर्दृष्टुमयोग्यमपि देवाः पश्यन्ति, यथा सर्वैराच्छन्नं कालज्ञाः पश्यन्ति, एवं सर्वसामर्थ्ययुक्तो योग एव सर्वसमर्थः। वर्तमानस्य विशेषणमतीन्द्रियमिति। **अतीतं** यन्नानुभूतम्। **अनागतं** यत् ज्ञापकरहितम्। चकाराद्धर्मान्तरमापन्नम् । **विप्रकृष्टं** देशव्यवहितम् । निकटस्थमपि व्यवहितं भित्त्यादिना। सर्वमेव योगिनः सम्यक् पश्यन्ति । ध्यानेन ज्ञानं ज्ञानिनाम् । योगिनां तु भगवत इव योगजधर्मे प्रकटे सर्वज्ञत्वमिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—देश काल आदि में रुकावट डालने वाले, योगिओं के ज्ञान में प्रतिबन्ध नहीं डाल सकते हैं, जिस प्रकार नेत्र की निकटता प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति[1] है वैसे ही सर्वत्र योगियों का योग से उत्पन्न धर्म प्रत्यासत्ति है, काल वस्तुओं को ले जाता है, जैसे नदी पानी को ले जाती है, यद्यपि जाते हुए द्रव्य सहित जल,किसी देश में स्थित हो,तो उस समय उस देश में स्थित मनुष्य उसको देख सकता

१—बहुत पास में, निकटता कराने वाला है.

है, तो भी, दूसरे स्थान पर गये हुए को यह पहले हो स्थान पर स्थित नहीं देख सकता है, उसके साथ गया हुआ ही उसको देख सकता है, अथवा जैसे जिन पदार्थों को मनुष्य नहीं देख सकते हैं, उनको देवता देख सकते हैं, जैसे काल-ज्ञानी, सब से ढका हुआ पदार्थ जान सकते हैं, इसी प्रकार सर्व सामर्थ्य से युक्त योग ही सबको जानने में समर्थ हैं अतीन्द्रिय पद वर्तमान का विशेषण है अर्थात् चालू समय में भी जो इन्द्रियों से न जाना जा सकता है 'अतीत' पद का भावार्थ है, जिसका अनुभव नहीं किया गया है 'अनागतं' पद का तात्पर्य है जिसकी कोई खबर नहीं है 'च' पद कहने का आशय है। जो वस्तु अन्य धर्म को प्राप्त हुई हो, 'विप्रकृष्ट' उसको कहते हैं जिसमें देश का भेद हो निकट हो किन्तु दीवार से जिसमें रुकावट आई हो, इत्यादि सबको ही योगी अच्छी तरह देख सकते हैं, ज्ञानियों को ध्यान करने से ज्ञान होता है, किन्तु योगियों में तो योग से उत्पन्न धर्म के प्रकट होने पर भगवान् की भांति सर्वज्ञत्व आता है ॥२१।

आभास—तत्र प्रद्युम्नविवाहे हेतुद्वयमाह यद्यप्यनुस्मरन्निति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ— यद्यप्यनुस्मरन्' से दो श्लोकों में प्रद्युम्न के इस प्रकार विवाह होने में दो कारण देते हैं।

श्लोक—यद्यप्यनुस्मरन्वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः ।
व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥२२॥

श्लोकार्थ— श्री कृष्णचन्द्र से अपमानित रुक्मी, यद्यपि वैर को भूला नहीं था, तो भी बहिन को प्रसन्न करने के लिए उसने अपनी पुत्री बहिन के पुत्र को दे दी ॥२२॥

सुबोधिनी—'स्वसुः प्रियं कुर्वन्' इत्येकम्, 'स्वयंवरे कन्ययैव वृत' इत्यपरम् । तत्र प्रथममुपपादयति । कृष्णावमानितः वैरमनुस्मरन् यद्यपि वर्तते, यथापि स्वसुः प्रियं कुर्वन् भागिनेयाय भगिनीपुत्राय मातृपक्षपातिने सुतामदात् । अनुरोध्या स्वसा, सा पूर्वमपकृता तदभिप्रायमज्ञात्वा पश्चात् ज्ञात्वा कथं प्रसन्ना भवतीति विचार्य, प्राणाश्च तया रक्षित इति, स्वकन्यां तत्पुत्राय प्रायच्छत् । प्रियं प्रियाय चेद्दीयते, तदा प्रसन्नः सर्वोऽपि भवतीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—बहिन को प्रसन्न करना, यह एक कारण, दूसरा कारण 'स्वयंवर में कन्या ने ही स्वतः वरा', इनमें पहले का प्रतिपादन करते हैं, यद्यपि रुक्मी को कृष्ण का वैर याद था, तो भी, बहिन की प्रसन्नता के लिये, (माता के पक्ष वाले) बहिन के पुत्र को बेटी, बहिन की इच्छानुसार ही कार्य करना चाहिये जिससे वह प्रसन्न होवे, यों न कर, उसका अपमान किया, इस अभिप्राय को पहिले नहीं जाना, पश्चात् जान कर, अब बहिन कैसे प्रसन्न होगी, जिसका विचार किया, ध्यान में आया कि मेरे प्राण तो बहिन ने बचाये, वरना कृष्ण मुझे मार डालता, जब यों समझा, तब बहिन का उपकार माना, इसलिये, उसको प्रसन्न करने का यही मार्ग जान, उसके पुत्र को अपनी पुत्री दी, प्रिय पदार्थ, प्रिय को ही यदि दिया जाता है, तब सब ही प्रसन्न होते हैं ॥२२॥

आभास—द्वितीयमाह वृतः **स्वयंवरे साक्षादिति ।**

आभासार्थ—दूसरा कारण 'वृतः स्वयंवरे' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया ।**
राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारैकरथो युधि ॥२३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—उसने स्वयंवर में साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव प्रद्युम्न को वर लिया, तब वह युद्ध में एक रथी होकर भी इकट्ठे सब राजाओं को जीत कर, इसको हर ले आया ॥२३॥

सुबोधिनी—यद्वशादन्येऽपि व्रियन्ते, स एव साक्षात् पूर्वमनङ्गः । अतः कयाप्यवृतः इदानीमङ्गयुतो जात इति तयाभिज्ञया वृतः । स्वयंवरे वृतो न प्रत्याख्यायत इति स महाभिमानी कन्यायाः स्वयंवरं कृतवान्, पश्चाद्विधानपूर्वकमपि सन्तोषेण दत्तवानिति व्यतरदित्युक्तम् । तस्य रूपमेव महत्, न पौरुषं भविष्यतीत्याशङ्कयाह राज्ञः समेतान्निर्जित्य जहारेति । युधि सावधानान्, तत्रापि मिलितान् सर्वान् नितरां जित्वा । एकरथ इत्यसहायः, हृत्वा मातुलगृहमेव गत इति पूर्वश्लोकानुरोधादवसीयते । एकरथत्वादिधर्मैः प्रतीत्या पितुरधिकत्वमुक्तम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—जिस अङ्गरहित काम के वश होने पर अन्य भी वरे जाते हैं, अनङ्ग होने से जिसको किसी ने भी वरा नहीं, अब वह अङ्ग सहित हो गया है इस को रुक्मी की पुत्री ने जान लिया अतः इसको वर लिया, स्वयंवर में वर लेने से निन्दा न होगी इसलिये उस अभिमानी ने कन्या का स्वयंवर रचा, अनन्तर विधि पूर्वक सन्तोष से ही, प्रद्युम्न का रूप ही महान् अर्थात् अति सुन्दर होगा, किन्तु वीरता उसमें नहीं होगी ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते है, कि सब राजा इकट्ठे होकर लड़ने के लिये सावधान हो गये थे, किसी की बिना सहायता के आप ही एक रथी होते हुए भी उन सबको जीत कर मामे की पुत्री को हर कर मामे के घर गए, यों पूर्व श्लोक से समझा जाता है, एक ही रथ था इत्यादि धर्मों की प्रतीति से, पिता से भी अधिक बली कहा है ॥२३॥

आभास—एवं धर्मप्रस्तावे पुत्रस्योत्पत्तिं विवाहं चोक्त्वा कन्यादानमपि भगवत्कृतमाह **रुक्मिण्यास्तनयामिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म के प्रस्ताव में पुत्र की उत्पत्ति तथा विवाह कह कर भगवान् के किये हुए कन्या दान को भी 'रुक्मिण्यास्तनयां' इस श्लोक से कहते है ।

श्लोक—रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।
उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल ॥२४॥

श्लोकार्थ—बड़े नेत्रवाली चारुमती नाम वाली रुक्मिणी की कन्या को कृतवर्मा के पुत्र बली से पाणिग्रहण कराया ॥२४॥

सुबोधिनी—कृतवर्मा यादवः, बलीति नाम। विशालाक्षीमिति सौन्दर्यम्। चारुमतीमिति नाम। कन्यामाहूय दत्ताम्। रुक्मिण्यास्तनयामित्यनेन अन्यासामपि कन्या उक्ताः सन्तीति तथा तासां विवाहोऽपि ज्ञातव्यः। विशालाक्षीमिति सौन्दर्यं तस्या विवाहे प्रयोजकमुक्तम्, नतु महतः कन्यात्वम्। चारुमतीमिति नाम्ना अन्या अपि कन्याः सन्तीति सूचितम्। तेन रुक्मिण्याः पञ्च कन्याः पञ्चचकारैरुक्ताः अध्यवसेयाः, अन्यासामपि यथाचकारं कन्यका ज्ञेयाः। किलेति प्रसिद्धे। न तु व्यासादिभिरेतदुपदिष्टमिति। महत्त्वाख्यापकत्वात् केवलं लौकिकत्वात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—कृतवर्मा यादव था, उसके पुत्र का नाम बली था, रुक्मिणी की पुत्री चारुमती नाम वाली, विशाल नेत्र वाली थी जिससे वह सुन्दर थी, यह जतांया उस कन्या को बुला कर उससे पाणिग्रहण कराया, रुक्मिणी की कन्या का 'चारुमती नाम कहने से जाना जाता है कि इसको अन्य कन्याएँ भी थीं, पांच चकारों से ज्ञान होता है, कि रुक्मिणी को, पांच कन्याएं थीं, 'किल' पद प्रसिद्धि अर्थ में दिया है, रुक्मिणी की कन्या कहने से दूसरी पत्नियों की कन्याओं का भी विवाह किया यों समझना चाहिये, यह व्यासादि ने नहीं कहा है, महत्व की प्रसिद्धि के कारण केवल लौकिकपन से जाना जाता है ॥२४॥

आभास—ततोऽनिरुद्धस्तत्रैव भोजकटे जातः। तस्यापि विवाहं तत्रैवाह दौहित्रायानिरुद्धायेति।

आभासार्थ—अनन्तर अनिरुद्ध ने वहां ही भोजकट में जन्म लिया उसका विवाह भी वहां ही हुआ, जिसका वर्णन ,दौहित्रायानिरुद्धाय' इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः।**
रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया।
जानन्नधर्मं तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि रुक्मी का अब तक कृष्ण से वैर था तो भी बहिन को प्रसन्न करने के लिए तथा स्नेह के पाश में फँसा होने से अपनी पौत्री रोचना श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को योनि सम्बन्धी अधर्म जानकर भी अर्पण की ॥२५॥

सुबोधिनी—स्वकुलस्थां कन्यामन्यो विवाहं मा करोत्विति। तस्या नाम रोचनेति। साप्यनिरुद्धस्य मातुलकन्या। तावता द्वेषः शान्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह बद्धवैरोऽपीति। स्वसुः प्रियचिकीर्षयेति पूर्ववद्धेतुः। यावज्जीवं यदेव किञ्चिदुत्कृष्टम्, तदेव भगिनीप्रीत्यर्थं दत्तवानित्यध्यवसीयते। अन्यथा पुनः पुनः तद्धेतुत्वेन नोच्येत। ननु तस्मै देयं दत्तवान्, कथमेतावता स्वसा प्रीता

भवतीति चेत्। तत्राह स्वसुः प्रियचिकीर्षया जानन्नधर्मं तद्यौनमिति। स्त्रीसम्बन्धः अधर्मो भवति। 'माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही। तिस्र एककुले जाताः सोऽभिशस्तो निगद्यत' इति तस्यामुत्पन्नस्याभिशस्तिदोषात् तद्यौनमधर्मरूपं भवति। अधर्ममप्यङ्गीकृत्य स्वसुः प्रियार्थे दत्तवान्। ननु निषिद्धाचरणे कथं प्रियम्, न वा तत्प्रियं प्रियं भवतीत्याशङ्क्याह स्नेहपाशवशं गत इति। स्नेहे सर्वमेव समीचीनं भासते। उभयोः परमस्नेहात् तद्गतो दोषो न भासते। अतो जानन्नपि एवं कृते प्रियं भवतीत्युभयोर्लौकिकबुद्ध्या तथा कृतवानित्यर्थः ॥२५॥

व्याख्यार्थ – अपने कुल की कन्या से दूसरे कुल का विवाह न करे, इसलिये रुक्मि ने अपनी रोचना नाम वाली पोती श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध को दी, वह अनिरुद्ध के मामे की बेटी थी, इसके देने से द्वेष शान्त हो जायेगा, यदि कोई यों समझे तो कहते है कि वैर शान्त न हुआ वैर तो वैसा ही रहा, तब क्यों दी ? इस पर पूर्व दिया हुवा हेतु फिर भी दोहराते हैं कि बहिन को प्रसन्न करने के लिये ही, जब तक मैं जीवित हूँ तब तक जो कुछ उत्कृष्ट होवे वह बहिन को प्रसन्न करने के लिये दे जाऊँ, यदि यह इच्छा न होती तो बार बार वही हेतु न कहते जो देना था वह दे दिया, इतने से बहिन कैसे प्रसन्न होगी ? यदि यों कहते हो तो, इसके उत्तर में कहा कि यद्यपि यह यौन सम्बन्ध अधर्म है यों जानता था, तो भी भगिनी के प्रीत्यर्थ इस प्रकार किया, इस प्रकार का सम्बन्ध अधर्म है 'माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही' 'तिस्र एक कुले जाता सोऽभिशस्तो निगद्यत' जिसकी माता, दादी और परदादी एक ही कुल में जन्मी हुई हो उस कुल में जन्मी हुई कन्या से जो विवाह करता है, वह लम्पट और दोष दूषित कहा जाता है, क्योंकि वह विवाह अधर्म है, इस अधर्म को भी अङ्गीकार कर बहिन को प्रिय करने के लिये पुत्री और पौत्री दी, अधर्म आचरण तो अप्रिय लगता है, वह प्रिय कैसे ? इस पर कहते हैं कि 'स्नेहवशं गतः' स्नेह के आधीन हो गया, स्नेह होने पर सब अच्छा देखने में आता है, दोनों का परस्पर प्रेम होने से, उस कार्य में जो दोष होता है वह देखने में नहीं आता है, अतः जानते हुए भी यों करना प्यारा लगता है, यों दोनों ने लौकिक बुद्धि से इस प्रकार के विवाह किये ॥२५॥

आभास—अयं विवाहः लौकिकवदिति दत्तायां कन्यायां वरयात्रिकाः भगवदादयः सर्व एव समागता इत्याह **तस्मिन्नभ्युदय इति** ।

आभासार्थ—यह विवाह लौकिक की भाँति हुआ, इसलिये जिस समय कन्या का विवाह संस्कार होता था, उस समय वर की शोभायात्रा में भगवान् आदि सब ही आये थे, यह 'तस्मिन्नभ्युदये' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—**तस्मिन्नभ्युदये राजन्रुक्मिणी रामकेशवौ ।**
पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस विवाहोत्सव के समय साम्ब, प्रद्युम्न आदि को लेकर, रुक्मिणी, राम और केशव भी भोजकट नगर में गए ॥२६॥

सुबोधिनी—विवाहोत्सवे रुक्मिणी मुख्या। निमित्तत्वात्। ततो लौकिकमिति ज्येष्ठानुक्रमेण रामकृष्णौ पुरत्वमापन्नं भोजकटस्थानं प्रतिज्ञास्थानं जग्मुः। रामकेशवाविति ययोर्गमनमसम्भावितं तौ निरूप्य, साम्बप्रद्युम्नादयः वरयात्रिका निरूप्यन्ते। सुन्दरः साम्ब इति प्रद्युम्नादपि प्रथमं निर्दिष्टः, कप्रत्ययोऽनादरे, निषिद्धत्वात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—विवाहोत्सव में रुक्मिणी मुख्य थी, क्योंकि इस विवाह के होने में यह ही कारण थी, पश्चात् लौकिक क्रिया बताते है कि बड़े फिर छोटे इस प्रकार सब साथ हो साम्ब प्रद्युम्न आदि को लेके जिनका वहां जाना असम्भव था, वे राम और कृष्ण भी वर शोभा यात्रा बना कर भोज कट नगर को गये, वह नगर, रुक्मी का प्रतिज्ञा स्थान है, साम्ब सुन्दर था, इसलिये प्रद्युम्न से पहले उसका नाम कहा है, 'क' प्रत्यय अनादर में है निषिद्ध होने से ॥२६॥

आभास—निषिद्धाचरणस्य फलमाह **तस्मिन्निवृत्त उद्वाह** इति।

आभासार्थ— 'तस्मिन्निवृत्त' इस श्लोक में 'निषिद्ध आचरण' का फल कहते हैं।

श्लोक—तस्मिन्निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः।
दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥२७॥

श्लोकार्थ—विवाह कार्य के पूर्ण रीति से सिद्ध हो जाने के अनन्तर कालिङ्ग जिनमें मुख्य है, वैसे राजा लोग रुक्मी को कहने लगे कि पासों से खेल कर बलराम को जीत ले ॥२७॥

सुबोधिनी—कन्यादानानन्तरं वरयात्रायामपि सिद्धायां कलिङ्गदेशाधिपतिः देशनाम्नैव प्रसिद्धः। स्वतः स्नेहेन तूष्णींभूतमपि रुक्मिणं प्रोचुः। यतो दृप्ताः। नापि तस्य तथा करणे किञ्चित्प्रयोजनमस्ति ॥२७॥

व्याख्यार्थ— कन्यादान के अनन्तर, वर की शोभा यात्रा भी पूर्ण हो जाने के पीछे कलिङ्ग देश का राजा,जो देश के नाम से प्रसिद्ध है वे अभिमानी कालिङ्ग आदि राजा, स्वतः स्नेह के कारण चुप रहे थे, तो भी रुक्मी को कहने लगे के पासों से बलराम को जीत ले, यद्यपि उनका इस प्रकार होने में कुछ प्रयोजन नहीं था ॥२७॥

आभास—नन्वक्षजयः कथमेकान्ततो ममैव भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **अनक्षज्ञ** इति।

आभासार्थ— मेरी ही पासों की क्रीड़ा में जय होगी ऐसा रुक्मी को कैसे निश्चय हुआ! इसका उत्तर 'अनक्षज्ञो' श्लोकों से देते हैं—

श्लोक—अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ।
इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥
शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् ।
तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ।
दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्धलायुधः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! यह बलराम जुआ खेलना नहीं जानते थे, किन्तु इनको जुआ खेलने का बहुत व्यसन है; इस प्रकार कालिङ्ग राजा ने कहा तब रुक्मी बलरामजी को बुलाकर, उनसे जुआ खेलने लगा, बलरामजी ने प्रथम सौ, फिर हजार पीछे दस हजार के दाव लगाए, ये सब दाव रुक्मी जीत गया, तब कालिङ्ग दाँत दिखाता हुआ जोर से बलराम पर हँसने लगा, राम इस हँसी को सहन न कर सके ॥२९॥

सुबोधिनी—ये हि वैदिककर्मपरा धर्मपरा वा ते ह्यक्षज्ञा भवन्ति । बलस्यानुभयरूपत्वात् युक्तमेवाक्षाज्ञानमिति हिशब्दः । राजन्निति सम्बोधनात्त्वमक्षज्ञ इति । अपि तद्व्यसनं महदिति अज्ञो न क्रीडिष्यतीति शङ्कां वारयति । अत आदौ प्रवृत्तः पश्चान्न निवर्तिष्यत इति पराजितो भविष्यति । एवमुपपत्त्या प्रबोधितः तथा कृतवानित्याह इत्युक्त इति । बलः पूर्वं ज्ञानोपदेशात् सान्त्वनात् हित इति बलमेवाहूय, भगवतः सकाशात् पृथक्कृत्य, रुक्मी दुर्बुद्धिरदीव्यत, तत्राक्षान्गृहीत्वा रुक्मी प्राह 'पणः क्रियता'मिति । भिन्ना सङ्ख्या चतुर्दिक्ष्वक्षेषु लिख्यते । तत्र कस्यचित् समसङ्ख्या, कस्यचिद्विषमसङ्ख्येति पूर्वमेव प्रतिज्ञाय, क्रीडार्थं प्रवृत्तौ । ततोऽक्षहस्तेन रुक्मिणा आज्ञप्तः शतं सहस्रमयुतं उत्तरोत्तरं दशगुणं रामस्तत्र पणमादधे । तं तु पणं स्वानुकूलतया अक्षान् पातयित्वा रुक्मी अजयत् । तत्रानक्षज्ञता कालिङ्गेन प्रथमतो निरूपितेति बलं प्राहसत् । तदपि हसनं प्रकटमित्याह दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैरिति । तन्मनसि कापट्येन हसतीति हलायुधो नामृष्यत् । ननु नीतिज्ञेनावश्यं हास्यं सोढव्यम्, तत्राह हलायुध इति ॥२८-२९॥

व्याख्यार्थ—जो वैदिक कर्म के परायण हैं अथवा धर्म पर हैं वे ही जुआ करना (खेलना) जानते हैं बलराम में ये दोनों धर्म नहीं थे इसलिये वे जुआ खेलना नही जानते थे यह योग्य ही है। हे राजन् ! संबोधन से बताया है, कि आप राजा होने से जुआ खेलना जानते हैं. जब बलरामजी जुआ खेलना नही जानते हैं तो फिर खेलेंगे कैसे ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि उनको खेलने का बहुत व्यसन है,इसलिये खेलेंगे,प्रथम जुआ खेलने में प्रवृत्त हुए तो पीछे हटेंगे नहीं,इसलिए वे हारेंगे, इस प्रकार उपपत्ति पूर्वक समझाने पर रुक्मी ने बलरामजी से खेलने का निश्चय किया, बलराम मेरा हितकारी है, क्योंकि ज्ञानोपदेश देकर शान्ति कराई थी, यह विचार कर रुक्मी ने बल को ही बुला लिया,जिससे वह भगवान् से पृथक् हो कर अकेले आये,तब दुर्बुद्धि रुक्मी उनसे जुआ खेलने लगा,रुक्म ने पासा लेकर बलरामजी को कहा कि दाव लगाईये, पासों के चारों तरफ अलग-२ संख्या लिखी जाती है

वहां कोई संख्या समान कोई विषम संख्या होती है यों पहले ही प्रतिज्ञा कर, खेलने में दोनों प्रवृत्त हुए, पश्चात् हाथ में पासा लिये हुए रुक्मी ने कहा कि अब दाव लगाईये, तब राम ने सौ, हजार और दश हजार के दाव लगाये, उन दावों को रुक्मी ने कपट (चालाकी) से पासों को अपनी जीत हो इस प्रकार गिराये, जिससे जीत गया, कालिङ्ग ने प्रथम ही बता दिया था कि राम खेलना जानते नहीं, अतः वह दाँतों को दिखाता हुआ जोर से ऐसे हँसने लगा जैसे बलराम का अपमान देखने में आवे, बलरामजी ने मन में समझा कि हंसना कापट्य से है, अर्थात् मेरी हँसी करता है, अतः इस हँसी को राम सहन न कर सके, नीति को जानने वाले तो हँसी को सहन करते हैं अतः नीतिज्ञ राम को भी सहन करनी चाहिये, जिसके उत्तर में कहते हैं कि ये हलायुध हैं इसलिये सहन नही कर सकते हैं ॥२८-२९॥

श्लोक—ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद्बलः ।
जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥

श्लोकार्थ—पीछे रुक्मी ने लक्ष का दाव लगाया, वह बलरामजी जीत गए, तब रुक्मी छल से कहने लगा कि मैं जीत गया हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—ततो वारत्रयानन्तरं जये वा पराजये वा विपर्यस्य अन्यः पातयेदित्यक्षशास्त्रात् कपटादिशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलः स्वयमक्षान् गृहीत्वा अपातयत् । ततः अयुतादृशगुणं रुक्मी लक्षं ग्लहं पणात्मकं द्रव्यं प्रतिज्ञातवान् । तत्र तस्यां क्रीडायां बलः अजयत् । एकान्ते क्रीडतीति न स्वकीयाः साम्बादयः साक्षिणः, परं तदीया एव सर्वे । अत एकवारमेव भूयान् पराजयो जात इति, द्यूते मृषा भाषणं न विगीतमिति, जितवानहमित्याह रुक्मी । तानक्षान् विपरीततया धृत्वा प्रदर्श्य कैतवमाश्रितः कपटेनैव जेष्यामीति निश्चित्य मृषोक्तवान् ॥३०॥

व्याख्यार्थ— जुए के शास्त्र की यह विधि है कि तीन बार दाव हो जावे तो इसके पीछे विरुद्ध पक्ष वाला पासों से खेले, अतः अब बलरामजी ने पासे हाथ में लिए रुक्मी ने लक्ष का दाव लगाया बलरामजी ने पासे फेंके तो पासे इस प्रकार गिरे जिनसे बलरामजी, जीत गये, यह खेल तो एकान्त में हो रहा था, जिससे अपने साम्ब आदि साक्षी तो थे नहीं, किन्तु सब उसके ही पक्ष के थे, अतः एक बार ही बड़ा भारी पराजय हुआ, क्यों कि जुए में झूठ बोलने से निन्दा नहीं होती है, इसलिये रुक्मी ने कहा कि मैंने जीता है, उन पासों को उलटा कर दिखाने लगे कि देखो मैंने जीता है; कपट कर भी मैं जीतूंगा यह ही निश्चय कर जुआ खेलना प्रारम्भ किया था, अतः झूठ कहने लगा ॥३०॥

श्लोक—मन्युना क्षुभितः श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।
जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमादधे ॥३१॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार पूनम के दिन समुद्र क्षोभयुक्त होता है, वैसे ही श्रीमान्

बलदेवजी क्रोध से क्षोभयुक्त हो गए, स्वभाव से लाल नेत्रवाले बलदेवजी ने अतिशय क्रोध से दस करोड़ का दाव लगाया ॥३१॥

सुबोधिनी—तदा मन्युना क्षुभितस्तदसहमानः। देयाभावादसहन भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति श्रीमानिति। पूर्णधनः। निवार्यमाणोऽपि सहज एव तादृश इति। तस्मिन् काले तथैव युक्तमिति दृष्टान्तमाह। समुद्रः पौर्णमास्यामिवेति। स हि पूर्णं चन्द्रमभिमुखो गच्छति, तथायमपि मच्छिष्य एव मत्तोऽप्युत्कर्षं वाञ्छति, अनृतं च वदतीति चन्द्रमिव जिघृक्षुर्जातः। जात्या स्वभावेन च अरुणाक्षः, अक्रुद्धोऽपि क्रुद्ध इव प्रतीयते, क्रोधे तु का वार्त्तेत्यर्थः। अतिरुषा सुतरामरुणाक्षो जातः। अतो मनसि मारणीयोऽयमिति भावो निरूपितः। ततो वारत्रयं क्रोडितव्यमिति पुनरक्षान् बलो गृहीतवान्। तदा रुक्मी न्यर्बुदं ग्लहमादधे. प्रतिज्ञातवान् दशकोटिमितम्। वारत्रयेण यावद्दशगुणं तावत्सकृदेवादधे. यथैकानृतेनैव सर्वमनृत भवति ॥३१॥

व्याख्यार्थ— तब क्रोध से क्षुभित हृदय बलरामजी इसको सहन न कर सके, इतने पैसे दे नहीं सके होंगे इसलिये क्रोध में आये होगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'श्रीमान्' बलदेवजी पूर्ण धनवान् हैं, अतः न दे सकने से क्रोध नही आया था, रुके हुवे भी, स्वभाविक ही जुआ खेलने में रुचिवाले हैं, उस समय यों करना ही उचित था, जिसमें दृष्टान्त देते हैं, कि पूनम के दिन समुद्र जैसे क्षुभित होता है, वह पूर्ण चन्द्र के सन्मुख जाता है वैसे यह भी मेरा शिष्य होकर मुझसे भी ऊँचा बनना चाहता है, और झूठ बोलता है, इसलिये चन्द्र की तरह हुए, स्वभाव से तो आपके नेत्र लाल थे ही, जिनसे क्रोध न होता तो भी क्रोध वाले जाने जाते, क्रोध हो तो फिर क्या कहना ? विशेष क्रोध से बहुत ही लाल नेत्र वाले हो गये, बहुत लाल नेत्र वाले होने से मन का यह भाव बताया कि इस (रुक्मी) को मारना ही चाहिये, पश्चात् बलराम ने फिर पासे हाथ में लिये क्योंकि तीन बार खेलना चाहिये, तब रुक्मी ने दश करोड़ का दाव लगाया। तीन बार जितना दश गुणा हो, उतना एक ही बार दाव लगाया, जैसे एक अनृत (झूठ) कहने से ही सब अनृत जाना जाता है। ॥३१॥

आभास—पूर्ववत् तं चापि रामो जितवान्, अभिज्ञतया न, किन्तु दैवगत्येत्याह धर्मेणेति।

आभासार्थ— अब भी राम ने पहले की भांति जीत लिया, जुआ खेलना जानते हैं इसलिये नहीं किन्तु, धर्म से, यह 'धर्मेण' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तं चापि जितवान्रामो धर्मेण च्छलमाश्रितः।
रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति ॥३२॥

श्लोकार्थ—यह दाव भी धर्म से बलरामजी ने ही जीता, परन्तु रुक्मी कपट कर के कहने लगा कि मैंने जीता है, इस विषय में ये सभासद् निर्णय देवें ॥३२॥

सुबोधिनी—तदा महतीं विनष्टिं दृष्ट्वा, छलमाश्रितः कापट्यमेव कर्तव्यमिति निश्चित्य, रुक्मी आह। चकारेण आहेति पूर्वक्रिया आकृष्यते। मया जितमत्रेमे प्राश्निका ब्रुवन्त्वित्याह। प्राश्निकानामपि। स्वानुगुण्यवचने बलस्य स्वज्ञानमेव भ्रान्तमिति प्रतीतिः स्यात्, तदर्थं प्राश्निकानां सभासदाम्। येषामग्रे प्रश्नः सम्भवति सन्दिग्धे, ते प्राश्निकाः। तत्र देशादिदेवाः साक्षिण इति, कालिङ्गादिषु ते अनिविष्टाः, दुष्टत्वात्तेषाम्। ॥३२॥

व्याख्यार्थ— रुक्मी ने देखा अब तो बड़ी हानि होगी अतः निश्चय किया कि कापट्य ही करना चाहिये, जिससे फिर भी कहने लगा कि यह दाव भी मैंने जीता है ये सभासद कहेंगे कि किसने जीता है ? बलरामजी ने जैसा समझा है वह भ्रान्ति है, अतः सभासद ही कहेंगे, जिनके आगे निर्णय के लिये प्रश्न रखा जावे, वे सभासद कहे जाते हैं, उसमें देशादि देव साक्षी हैं, कालिङ्ग आदि में वे प्रविष्ट नहीं हुवे हैं क्योंकि वे दुष्ट हैं ॥३२॥

आभास—तत्रत्यानां वचनात् पूर्वमेव आकाशवाणी सर्वदेवतामयी सन्देहनिवृत्त्यर्थमाह **बलेनैव जितो ग्लह** इति।

आभासार्थ— सभा सदों के कहने से **प्रथम** ही सर्व देवतारूप आकाश वाणी ने कह दिया कि, यह दाव बलरामजी ने ही जीता है, जिससे सन्देह की निवृत्ति हो गई।

श्लोक—**तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः।**
धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥

श्लोकार्थ—तब आकाशवाणी ने कहा कि मैं धर्म से कहती हूँ कि रुक्मी झूठ बोलता है, धर्म से यह दाव बलरामजी ने ही जीता है ॥३३॥

सुबोधिनी—यद्यप्यक्षक्रीडां न जानाति, तथापि धर्मतः जितवान्। वचनेनैव केवलेन धर्मरहितेन रुक्मी वदति। वै निश्चयेन। नात्र सन्देहः कर्तव्यः। लौकिकत्वमपि तद्वाक्यस्य निवारयति मृषेति। लौकिकाः अप्येतादृशे न मृषा वदन्ति। ॥३३॥

व्याख्यार्थ— यद्यपि बलरामजी जुआ खेलना नहीं जानते हैं, तो भी धर्म से ही जीता है, रुक्मी केवल अधर्म से ये वचन कह रहा है, 'वै' पद देकर यह बताया है, कि रुक्मी जो कुछ कहता है वह बिना सन्देह झूठ है, इसका वाक्य केवल लौकिक है, जिसका भी 'मृषा' शब्द से निवारण करता है, लौकिक मनुष्य भी ऐसे प्रसङ्ग पर झूठ नहीं बोलते हैं॥३३॥

श्लोक—**तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः।**
संकर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥३४॥

श्लोकार्थ—दुष्ट राजाओं का सिखाया हुआ रुक्मी आकाशवाणी का अनादर कर काल से प्रेरित होने से बलदेवजी की हँसी करता हुआ, यों कहने लगा ॥३४॥

सुबोधिनी—ततः को वायं कृत्रिमः शब्दः प्रमाणम्, साक्षात् प्राश्निकेषु विद्यमानेष्विति तामनादृत्य दुष्टराजन्यैः तथैव वक्तव्यम्, इदं नाङ्गीकर्तव्यमिति प्रेरितः सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे। यतो वैदर्भः, न धर्मप्रधानदेशस्थः दुःसङ्गश्च। स हि जगदेवाकर्षति लयार्थम्। तादृशसामर्थ्यवन्तं परिहसन् कटाक्षहास्यादिभिः अयुक्तमुक्तवान्। ननु वचनस्य किं प्रयोजनम्, तूष्णीं स्थातव्यम्, उत्थाय वा गन्तव्यमिति तत्राह कालचोदित इति ॥३४॥

व्याख्यार्थ— आकाश वाणी सुन कर दुष्ट राजाओं ने रुक्मी को सिखाया कि, जब कि, यहां सभासद निर्णय करने वाले हैं तो इस कृत्रिम शब्द को ध्यान में नहीं लाना चाहिये जैसे आपने कहा है, उस पर ही डटे रहो आकाश वाणी के कहे शब्द मत मानो इस प्रकार प्रेरित रुक्मी बलदेव को हँसी करता (मजाक उड़ाता) हंसता हुआ कहने लगा, रुक्मी जिस देश में जन्मा है वह देश, धर्म प्रधान देश नहीं है जिससे और दुःसङ्ग के कारण, जो समग्र जगत् को लय के लिये खेंच सकते हैं, ऐसी सामार्थ्य वाले सङ्कर्षण पर, कटाक्ष हास्यादि करता हुआ अनुचित कहने लगा, कहने की क्या आवश्यकता थी, चुप हो कर बैठ जाना था अथवा उठकर चला जाता, यों नहीं किया, जिसका कारण यह है कि इसके सिर पर काल सवार था जिसने इसको ऐसी बुद्धि दी ॥३४॥

आभास—भगवता गोपालत्वं समर्थितमिति तदन्तर्याम्यपि तथैव प्रेरितवान्। बाल्ये हि विद्याभ्यासः, क्षत्रियाणां च शस्त्राभ्यासः, तस्मिन् समये वने गोचारणमेव कृतमिति लोकविश्वासार्थं मर्मभेदमाह।

आभासार्थ— भगवान् ने कहा है, कि हम गोपाल हैं, इसलिये रुक्मी को अन्तर्यामी ने एसी ही प्रेरणा की, जिससे उसने कहा कि बचपन में विद्याभ्यास करते है, परंतु क्षत्रिय शस्त्राभ्यास करते हैं और गोप बचपन में वन में गौओं को चराते हैं, इस प्रकार लोकों को विश्वास कराने के लिये मार्मिक वचन कहने लगा, जिनसे बलराम को क्रोध हो—

श्लोक—नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।
अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—तुम पासा खेलना नहीं जानते हो; क्योंकि गोपाल होने से वन में गौओं को चराना ही जानते हो, पासों से और बाणों से खेलना तो राजा लोग जानते हैं, आप जैसे नहीं ॥३५॥

सुबोधिनी—यूयं नाक्षकोविदाः, यतो गोपालाः। न हि सर्वविद्यासु सर्वे अभिज्ञाः, तस्माद्वने गोचरा एव। उभयमपि ज्ञायत इति चेत्। तत्राह अक्षैर्दीव्यन्ति राजान इति। अभ्या-

सव्यतिरेकेण न विद्या समायातीति अक्षाणामप्रयोजकत्वमाशङ्क्य द्यूतक्रीडापरा अधमा इति शङ्काव्युदासार्थं जयसाधकत्वात् बाणे तुल्यतां वक्तुमाह बाणैश्चेति । ननु क्षत्रिया वयमित्युभयं जानीम इति चेत् । तत्राह न भवादृशा इति । परगृहे पुष्टा आबाल्यं नीचकर्मणि नियुक्ताः नाक्षबाणकोविदा भवन्तीति निषेधति न भवादृशा इति ।।३५।।

व्याख्यार्थ – तुम पासा खेलना नहीं जानते हो क्योंकि गोपाल हो, सब विद्याओं में सब निपुण नहीं होते हैं। इसी कारण से, तुम बन में गौओं चराना जानते हो, यदि कहो कि हम दोनों ही काम जानते हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं, राजा लोग पासों से खेलते हैं, बिना अभ्यास के विद्या नहीं आती है, पासों के सीखने के लिये अभ्यास करना आवश्यक नहीं क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है ? तथा जो जुए के परायण होते हैं, वे अधम कहे जाते हैं इस शङ्का को मिटाने के लिये, जुआ भी जीत कराती है इसलिये राजाओं के वास्ते बाणों के समान है, इसलिये कहा है कि क्षत्रिय दोनों का अभ्यास कर दोनों में प्रवीण होते हैं। यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं इसलिये दोनों जानते हैं, इसका उत्तर देता है 'न भवादृशाः' आप जैसे क्षत्रिय नहीं, आपने दूसरे के गृह में पोषण पाया है। बचपन से नीचे कर्म में प्रवृत्त हुवे हैं, जिससे आप पासा और बाण चलाना नहीं जानते हैं, इसलिये रुक्मी ने कहा है, कि 'न भवादृशाः' ।।३५।।

श्लोक—एवमर्णवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः ।
क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृप संसदि ।।३६।।

श्लोकार्थ—रुक्मी ने जब इस प्रकार तिरस्कार किया और दूसरे राजा इस पर हँसे, तब बलदेवजी क्रुद्ध हो, परिघ उठाकर, सभा में ही उसको मार डाला ।।३६।।

सुबोधिनी—ततः सर्वैरेव 'सत्यं वदती'त्युक्ते, उपहासे च कृते, कालप्रेरितो बल तत्रैव दैवगत्या कालमुद्गररूपं परिघमुद्यम्य, संसदि सभायामुपविष्टं एव तं जघ्ने। पक्षपातिभिः तस्य पक्षः पोषणीय इति ज्ञापयन्निव सभायामेव जघ्ने। नृपेति। राज्ञां तथाकरणं युक्तमिति ज्ञापयति। क्रुद्ध इत्यविचारः। परिघमुद्यम्येत्यन्या क्रिया निवर्तिता। चकारात्तदीयैः सेवकैरप्युपहसितः ।।३६।

व्याख्यार्थ – पश्चात् सर्व सभासदों ने कहा कि रुक्मी सत्य कहता है, यों कहने और हँसी करने लगे, तब काल प्रेरित बलरामजी वहां ही दैव की गति से काल रूप मुद्गर (परिघ) उठा कर सभा में बैठे हुवे हो उस (रुक्मी) को मार डाला, पक्षपातियों को उसका पक्ष लेना ही चाहिये, मानों यह जताते हैं इसलिये सभा में ही मारा, नृपः संबोधन से यह बताया है कि राजाओं को यों करना उचित हो है, विचार क्यों नहीं किया ! इतनी शीघ्रता क्यों की ! जिसके उत्तर में कहा है, कि 'क्रुद्ध' इन अनर्गल वचनों के सुनने से एवं हँसी आदि से अपमानित होने के कारण 'क्रुद्ध' हो गए, अर्थात् क्रोध आ जाने से परिघ ही लेकर मारा, जिससे दूसरी कोई क्रिया नहीं की 'च' पद से यह भाव बताया है, कि उनके सेवक भी हँस कर हँसी करने लगे ।।३६।।

आभास—वाक्यापराधे वधं कृत्वा, मानसिकापराधे ताडनमाह **कलिङ्गराजमिति।**

आभासार्थ— वाणी के अपराध कर्त्ता रुक्मी को मार डाला, जिन्होंने मानसिक अपराध किया उनकी ताड़ना की, यह 'कलिङ्गराजं' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक—**कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।**
दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽहसद्विवृतैर्द्विजैः ।।३७।।

श्लोकार्थ—जो कलिङ्ग का राजा दाँत खोलकर हँसा था, उसको शीघ्र दसवें पैर (कदम) में पकड़ कर, क्रुद्ध बलराम ने उनके दाँत गिरा दिए ।।३७।।

सुबोधिनी—येनोपहसितः, पलायमानं तं दशमे पदे धृत्वा, क्रियाशक्तिः प्राणस्येति, 'नव वै पुरुषे प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानुरोधेन नव प्रयत्नानुपेक्ष्य, दशमे पदे तं गृहीतवान् । ततो लोकेभ्यः दन्ताः प्रदर्शिता इति पुनः प्रदर्शननिवृत्तये दन्तानपातयत् । अत्रापि क्रुद्ध इत्यविचारः । तस्य दोषमाह **योऽहसदिति । विवृतैर्द्विजैरिति** दन्तानामेव पातने हेतुः ।।३७।।

व्याख्यार्थ— जिसने हँस कर हँसी की थी, वह भाग रहा था उसको दशवें कदम पर पकड़ के उसके दान्त इसलिये गिरा दिये, कि वह फिर इस प्रकार दाँत दिखाकर हँस न सके, क्योंकि वह लोकों को दांत दिखाते हुवे हँसा था, क्रोध आ जाने से यहां भी कुछ विचार नहीं किया, दशवें कदम पर क्यों पकड़ा ? जिसको समझाने के लिए आचार्य श्री इसका रहस्य प्रकट करते हैं, क्रिया शक्ति प्राणों में रहती है, 'नव वै पुरुषे प्राणाः' इति श्रुतेः पुरुष में नव प्राण रहते हैं, यों श्रुति कहती है, इसलिये प्राणों के अनुरोध से प्रयत्न रूप नव कदमों की उपेक्षा कर दशवें कदम पर उसको पकड़ लिया ।।३७।।

श्लोक—**अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः ।**
राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ।।३८।।

श्लोकार्थ—बलरामजी के परिघ से पीड़ित और जिनके भुज, ऊरु और मस्तक टूट गए हैं तथा रुधिर से जो लबालब हो गए हैं, वे डरकर भाग गए ।।३८।।

सुबोधिनी—**अन्येऽप्यनुमोदनकर्तारः** निर्भिन्नाः बाहवः ऊरवः शिरांसि च येषां तादृशा जाताः । तत्राभिज्ञानं **रुधिरोक्षिताः** रुधिरेणोक्षिता इति । ततो भीताः सन्तः दुद्रुवुः । स्वतोऽपि भयेन पलायने बलोत्कर्षो न भवतीति पलायने तत्क्रियां साधनमाह **परिघार्दिता** इति ।।३८।।

व्याख्यार्थ— दूसरे जो इसके पक्ष पाती थे जो इसकी राय का अनुमोदन करते थे, उनके भी भुजा, ऊरु और मस्तक परिघ से टूट गये थे, जिससे समग्र शरीर रक्त से लबालब देखने में आ-

रहा था, एवं निश्चय हो गया कि इनके अङ्ग टूटे हुवे हैं, अतः डर कर भाग गये, अपने आप भय से भाग जाने में बल का उत्कर्ष नहीं होता, इसलिये कहते हैं, कि भागने की क्रिया में साधन यह था कि परिघ से पीड़ित थे ॥३८॥

आभास—नन्वेवमनर्थे पौत्रविवाहे जाते भगवता किं कृतमित्यत आह निहत इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार पौत्र के विवाह में अनर्थ होने पर भगवान् ने क्या किया ? वह 'निहत' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—निहते रुक्मिणी श्याले नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥३९॥

श्लोकार्थ—साले रुक्मी के मर जाने पर भगवान् ने अच्छा हुआ अथवा बुरा हुआ, कुछ नहीं कहा । हे राजन् ! भगवान्, रुक्मिणी तथा बलदेवजी में से किसी का मुझ से स्नेह न टूट जाए, इस भय से चुप हो गए ॥३९॥

सुबोधिनी— एक एव श्यालो हतः । विवाहे श्यालः पावित्र्यहेतुर्भवति । अतः किञ्चिद्वक्तव्यम् । धर्मस्थापनायां दुष्टो मारणीय एव । अतो न वक्तव्यमेव । तदुभयं निषेधति । श्याले निहते साधु असाधु वा नाब्रवीदिति । ननु 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतो'ति तूष्णींभावेऽपि बलभद्रपक्षः स्यात्, तत्किं साध्ववचनेनेति चेत्, तत्राह निहत इति । कृते कार्ये वचनं व्यर्थमेव स्यात् । अनेन वक्तव्यो भवति, असाधु कृतमिति, तथापि नोक्तमिति सूच्यते । तत्र हेतुः । रुक्मिण्याः स्नेहभङ्गभयादिति । भक्तत्वेऽपि मायायाः कार्यरूपा अविद्येति उत्पत्तिविचारेण स्नेहभङ्गः सम्भाव्यते । ततः प्रपन्नायाः तथात्वे ममापि तथात्वमुचितमिति सर्वथा स्नेहे भग्ने भक्तिमार्गो नश्यतीति भयम् । नन्वीश्वरस्य नष्टेऽपि मार्गे किं भयमिवेति चेत् । तत्राह हरिरिति । स हि सर्वदुःखहर्ता । अन्यथा सर्वेषां दुःखं न गच्छेदिति । तथैवासाध्ववचने बलस्य स्नेहभङ्गभयं हेतुः । तस्य स्नेहभङ्गे अवतारप्रयोजनं न भवेदिति । भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तत इति स्नेहभङ्गसम्भवः, शक्तिर्विभक्तेति ॥३९॥

व्याख्यार्थ— साला एक ही था, वह भी मर गया, विवाह में साला पवित्रता का कारण होता है अतः कुछ कहना चाहिये, धर्म की स्थापना के लिये दुष्ट को मारना ही चाहिये, अतः कुछ कहना ही नहीं, इसलिये दोनों का निषेध करते हैं, साले के मरने पर अच्छा हुवा वा बुरा हुवा कुछ नहीं कहा, चुप रहना भी सम्मति है अतः चुप रहने से यों जाना जाएगा कि आपने बलरामजी के पक्ष का समर्थन किया है, तो अच्छा किया इतना कह देने में क्या है ? यदि यों कहो, तो कहते है कि 'निहत' वह तो मारा गया, कार्य होने के पीछे कहना व्यर्थ ही है, इससे कहना चाहिये कि अच्छा नहीं किया, ऐसा भी नहीं कहा यों सूचित होता है, वहाँ कारण है कि रुक्मिणी के स्नेह टूटने के भय से शान्ति धारण कर ली, भक्ता होते हुए भी, माया की कार्य रूपा अविद्या है, यों उत्पत्ति के विचार से स्नेह भङ्ग की सम्भावना होती है, इस कारण से शरणागत जैसी हो मुझे भी वैसा ही

होना चाहिये, यों ही उचित है, यदि सर्वथा स्नेह टूट जावे तो भक्ति मार्ग ही नाश हो जावे, यह भय था, मार्ग नष्ट हो जावे तो भी ईश्वर को कौनसा भय है ! यदि यों कहो तो कहते हैं, 'हरिः' वे ही सर्व के दुःख हर्ता हैं, मार्ग नष्ट हो जाने से सर्व का दुःख नष्ट न होगा, इस कारण से भय था, अच्छा नहीं किया, यों भी न कहने का कारण यह था कि बलरामजी के स्नेह टूटने का भय था, यदि उनका स्नेह टूट जावे तो अवतार का प्रयोजन ही न रहे, भगवान् से भिन्न अन्य धर्म की प्रवृत्ति हो जावे, इस प्रकार स्नेह भङ्ग का सम्भव है, केवल शक्ति विभक्त है स्वरूपत्व तो एक है ।।३९।।

आभास—उभयोर्विनियोगमुक्त्वा, त्रिषूत्साहरहितेषु सत्सु शिष्टानां कृत्यमाह **ततोऽनिरुद्धमिति** ।

आभासार्थ— दोनों का विनियोग कह कर तीन उत्साह रहित हो गये शिष्टों का कृत्य 'ततोऽनिरुद्ध' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद्दशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ।।४०।।

श्लोकार्थ—नवीन बहू के साथ अनिरुद्ध वर को रथ में बिठाकर राम आदि यादव, मधुसूदन के आश्रय से सर्व कार्य सिद्ध कर भोजकट से कुशस्थली को गए ।।४०।।

सुबोधिनी—तदीयानां प्रतिबन्धनिवृत्तये रामः पुनरादित्वेन गृहीतो वरयात्रिकाणाम् । **सूर्यया** नवोढया सह । **रथं समारोप्येति** दुःखितत्वात् बलात् समारोपणमुक्तम् । मातामहः पितामहो मारित इति । **कुशस्थलीमिति** प्रदेशस्य विषमत्वं सूचितम् । दशार्हा यादवविशेषाः । तां दशामर्हन्तीति । शिष्टानामुभयमपीष्टमित्याह **सिद्धाखिलार्था** इति । शत्रुमरणमिष्टप्राप्तिश्च अखिलार्थाः । तथात्वे हेतुः **मधुसूदनाश्रया** इति । एवं धर्मप्रस्तावे अनिरुद्धो धर्मरक्षक इति तत्कथायां दुष्टनिवारणमुक्तम् । ४० ।

व्याख्यार्थ— तदीयों के प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये, बरातियों में श्री बलदेवजी को अगुवा बनाया, 'सूर्यया' शब्द का भावार्थ नवीन बहू के साथ, दुःखी होने से बल पूर्वक बहू को रथ में बिठाया, क्योंकि दुःखित थी ! इस पर कहते हैं, कि नाना 'कुशस्थली' पद से बताया कि वह प्रदेश विषम (ऊँचा नीचा) है दशार्ह पद से यादव विशेष कहे हैं, उस दशा के योग्य हैं, शिष्ट अर्थात् सदाचारियों को दोनों कार्य इष्ट हैं, सम्पूर्ण अर्थ सिद्ध हो गये, जैसे कि शत्रु मारा गया, और इष्ट की प्राप्ति हुई अर्थात् दुलहिन मिल गई, यों दोनों में कारण भगवान् का आश्रय है, धर्म प्रस्ताव में धर्म रक्षक अनिरुद्धजी हैं, इसलिये उनकी कथा से दुष्ट का निवारण कहा है ।।४०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वादशमोऽध्यायः ।।१२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल अवान्तर प्रकरण का पाँचवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६२वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५९वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १३वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"छठा अध्याय"

ऊषा - अनिरुद्ध - मिलन

कारिका—**निरोधे राजसफले देवानां विजयः स्फुटः ।**
निरूप्यते यतो रुद्धाः नान्य सम्भावयन्ति हि ॥१॥

कारिकार्थ—भागवत् के राजस फल प्रकरण में देवों की विशेष जय प्रकट, निरूपण की जाती है; क्योंकि जो विरुद्ध हैं, वे अन्य का ध्यान नहीं रखते हैं ॥१॥'

कारिका—**त्रयोदशे ततोऽध्याये हेतुस्तस्य निरूप्यते ।**
अनिरुद्धप्रसङ्गेन धर्मः सिध्यति तेन हि ॥२॥

कारिकार्थ—पश्चात् उत्तरार्ध के तेरहवें अध्याय में उसका कारण कहा जाता है, उस अनिरुद्ध के प्रसङ्ग से निश्चय धर्म सिद्ध होता है ॥२॥

कारिका—**सर्वथाप्युपकारित्वात्सर्वतो भयशङ्कया ।**
परमानन्दरूपत्वात्सफलो राजसः स्मृतः ॥३॥

कारिकार्थ—सर्व प्रकार से उपकारी होने से, सब तरफ से भय की शङ्का होने पर भी परमानन्द रूप होने के कारण राजस सफल हुआ ॥३॥

कारिका—**अनिरुद्धो निरोद्धव्यो निरुद्धो येन केनचित् ।**
तन्मूलाः सर्व एवैते विनिरुद्धा भवन्ति हि ॥४॥

कारिकार्थ—जिस किसी से निरुद्ध हुआ, अनिरुद्ध भगवान् को अपने में निरुद्ध करना ही चाहिए; कारण कि मन का आधिदेव होने से भक्तों की इन्द्रियादि सबकी जड़ अनिरुद्ध है, जिससे अनिरुद्ध का भगवान् में निरोध हो जाने से, अब इन्द्रियादि का भी निरोध स्वतः भगवान् में ही हो जाएगा ॥४॥

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

आभास—सर्वदेवजयार्थं प्रथममनिरुद्धस्य बन्धनं निरूप्यते । निरुद्धं मनः सर्वहेतुर्भवतीति । तत्रानिरुद्धबन्धनं कालेनैवेति उषोपाख्यानमुच्यते । कालेऽपि विषयवैचित्री हेतुरिति चित्रलेखा नेत्री ।

आभासार्थ— सर्व देवों की जय के लिए प्रथम अनिरुद्ध के बन्धन का निरूपण किया जाता है, निरुद्ध मन सर्व के निरोध का कारण होता है, वहाँ अनिरुद्ध का बन्धन काले के सेवक दैत्य, काल रूप होते हैं, अतः दैत्य की पुत्री उषा कालरूप है, इससे उषा से अनिरुद्ध का बन्धन काले का ही बन्धन कहा है, इसलिये उषा की कथा कहते हैं, काल में भी विषय विचित्रता कारण है, जिसके होने पर मन का बन्धन अच्छी तरह होता है यों यहाँ चित्रलेखा चलानेहारी है—

कारिका—**स्वप्नेऽपि चेत्प्रसङ्गः स्याद्बद्धो भवति मानवः ।**
अन्येन वा तथा ज्ञातः किमु साक्षात्तथाविधः ॥१॥

कारिकार्थ—यदि स्वप्न में भी कालोपासक असत्य दैत्यों से सम्बन्ध हो जावे, तो मनुष्य बन्धन में आ जाता है अथवा अन्य से वैसा जाना जाय तो भी बद्ध हो जाता है, तब साक्षात् सम्बन्ध होने पर बन्धन होवे, इसमें कहना ही क्या है ! ॥१॥

आभास—प्रथममनिरुद्धबन्धनहेतुसम्बन्धनिरूपकनयनार्थं प्रस्तावनामाह **बाणः पुत्रशतज्येष्ठ** इति सप्तदशभिः ।

आभासार्थ— प्रथम अनिरुद्ध के बन्धन का हेतु जो उषा है और उसके निश्चयात्मक सम्बन्ध की निरूपिका चित्रलेखा है जिसको 'बाण: पुत्रशत' श्लोक से सत्रह श्लोकों से प्रस्तावना कहते है।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—बाण: पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥१॥

श्लोकार्थ—महात्मा बली राजा के सौ पुत्रों में बड़ा पुत्र बाणासुर था, जिसने ताण्डव क्रीड़ा के समय वाद्य से महादेव को प्रसन्न किया था, उनकी कृपा से सहस्र-बाहु हुआ था ॥१॥

सुबोधिनी— पुत्राणां शतमध्ये ज्येष्ठ आसीत्। भगवता स बद्ध इति तन्निष्कृतिसूचनार्थं भगवदंशोऽनिरुद्धः तत्पुत्रेण बद्ध इति सूचयितुं बलेः पुत्रत्वं निरूप्यते। ननु तेनैव कथं न बध्यते, तत्राह महात्मन इति। स हि महात्मा नापकरोति। पुत्रशतज्येष्ठ इति तत्कृतं पितृकृतमेवेति ज्ञापयति। बलेरिवास्यापि बन्धशङ्कापि व्यावर्त्यते, पार्ष्णिग्राहा बहवः सन्तीति। तथापि भगवता सह विरोधे न सामर्थ्यं भवतीति तस्य महादेवोपासनमाह सहस्रबाहुरिति। सहस्रबाहुत्वं च तत्कृपयैव। तेन बहुधा लब्धप्रसादः महादेवात् स इति सूचितम्। ताण्डवे उत्साहवृद्ध्यर्थं वाद्यभूयस्त्वमपेक्ष्यते। तत्र बहुभिर्वादने व्यधिकरणप्रयत्नानां समता न भवतीति एकेन बहुवाद्यकरणं तोषहेतुर्भवतीति, सहस्रबाहुभिर्वाद्यैः ताण्डवे मृडमतोषयत् ॥१॥

व्याख्यार्थ — बलि राजा के सौ पुत्रों में यह बाणासुर बड़ा था, यहाँ केवल बाणासुर नाम न देकर बलि का पुत्र कहा जिसका आशय है, कि भगवान् ने बलि को बान्धा था, उसके बदला लेने को सूचना के लिए भगवान् के अंश अनिरुद्ध को उसके पुत्र ने बांधा है। बलि स्वयं ने क्यों नही बान्धा? इसके उत्तर में कहा है कि वे महात्मा थे, महात्मा अपकार नहीं करते हैं, बड़ा पुत्र जो करता है वह पिता का किया हुवा है, यों जनाता हैं, बलि को तरह भगवान् इसको बान्ध देगें यह शङ्का भी मिटा देने के लिए कहते हैं कि, पीछे रहने वाले के शत्रु बहुत हैं, तो भी भगवान् के साथ विरोध करने में सामर्थ्य नहीं है, इसलिए उसकी महादेव की उपासना कहते हैं, सहस्रबाहु महादेवजी को कृपा से ही हुआ हैं, उसने महादेव से बहुत प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया है, यों सूचन किया, ताण्डव क्रीड़ा के समय उत्साह बढ़ाने के लिये अनेक वाद्यों को अपेक्षा होती है, वहां यदि बजाने वाले बहुत हो तो सब की समानता हो नहीं सकती है, एक ही बहुत वाद्य की क्रिया करे तो वह प्रसन्नता का कारण बनता है, बाणासुर एक ने ही बहुत वाद्यों से ताण्डव नृत्य में महादेव को प्रसन्न किया था ॥१॥

आभास—तुष्टस्य कृत्यमाह भगवानिति।

आभासार्थ— प्रसन्न हुए महादेव ने जो किया वह 'भगवान्' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः।
वरेण छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥२॥

श्लोकार्थ—सर्व भूतों के स्वामी शरण देने वाले भक्तवत्सल भगवान् महादेव ने वर लेने को कहा, जिससे उसने यह वर माँगा कि आप मेरे पुर के पालक बनो ।।२।।

सुबोधिनी - वरदानसामर्थ्यं भगवच्छब्देनोक्तम् । तद्दत्तं कोऽप्यन्यथा न करिष्यतीति सूचयितुमाह सर्वभूतेश इति । सर्वनियामकः । स एव भूतश्चेत् शरीरसम्बन्धेन जातः साहङ्कारः, तदावश्यमहङ्कारनियामकवश्यो भवति । अहङ्कारे सात्त्विकादिव्युदासं मत्वा आह सर्वेति । सामर्थ्याप्रतिघातो निरूप्य दातृस्वभावं निरूपयति शरण्य इति । शरणार्हः स एव भवति, यः प्रपन्नदुःखनिवारकः । तथाप्युचितदाता चेत् परिमितमेव यच्छेदिति, विशेषदानार्थमाह भक्तवत्सल इति । यथा वत्सला गौरन्तःस्थितमपि दुग्धं तल्लोभेनान्येभ्योऽपि यच्छति, तथा भगवान् भक्तेभ्यः अदेयमपि यच्छतीति 'वरं ब्रूही'ति छन्दयामास । छन्दनं कामचारनियोगः । ततः स गुह्यं चिकीर्षुर्बाणः सर्वत्र स्वयं गच्छन् शत्रुबाहुल्याद्गृहरक्षार्थं चिन्ताकुलितः तं महादेवं पुराधिपं पुररक्षकं वव्रे । अनेन तस्य पुरस्य सर्वाभेद्यता निरूपिता । तेन देवादीनामपि तत्र प्रतीकारो निवर्तितः ।।२।।

व्याख्यार्थ – 'भगवान्' पद से यह बताया कि आप में वर देने की सामर्थ्य है। वर जो आपने दिया है, उसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता है, इसलिये आपको 'सर्वभूतेशः' सबके नियामक कहा है यदि केवल भूत कहा हो, तो शरीर से सम्बन्ध होने से उत्पन्न अहङ्कारी हो, तब अवश्य अहङ्कार के नियामक के आधीन हो जाते, अहङ्कार सात्त्विक आदि का निराकरण समझ कर 'सर्व' शब्द दिया है, सामर्थ्य और आपके किये का कोई भी प्रतिधान नहीं कर सकता है। ये दोनों निरूपण कर अब आपका दान देने का स्वभाव निरूपण करते हैं कि आप'शरण्य'हैं,शरण लेने के योग्य वह होता है जो शरण आये हुवे के दुःख को मिटा देवे, ऐसा हो फिर भी वह तो उचित दाता होने से परिमित ही देगा, इस पर कहते हैं कि आप तो भक्तवत्सल है जिस कारण से आप गौ की भाँति विशेष दानी हैं, जैसे गौ बछड़े को दूध पिलाने के लिए अन्तः स्थित दूध को निकाल दूसरों को भी दे देती है, वैसे ही आप भक्तों को जो नहीं दिया जा सकता है वह भी दे देते हैं, इसलिये कहा कि जो चाहिये सो मांग ले, यों सुनकर, गुप्त करने की इच्छा वाला, वह बाण बहुत शत्रु होने के कारण, स्वयं सब जगह जाता था, अतः अपने घर की रक्षा की चिन्ता से व्याकुल था, इसलिये महादेवजो से अपने घर की रक्षा के लिये उनको ही मांगा अर्थात् मेरे घर की पालना रक्षा आप करते रहो, इससे यह निश्चय हुआ कि उसके घर को कोई तोड़ न सकेगा इससे देवादि भी उसका प्रतीकार करने में समर्थ न रहें ।।२।।

आभास—तर्हि तादृशस्य कथं नाश इत्याशङ्क्य, तस्यैव क्रोधेनेति वक्तुं प्रसङ्गान्तरमाह स एकदेति षड्भिः ।

आभासार्थ— तब ऐसे का नाश कैसे ? इसका उत्तर देते हैं कि उसके ही क्रोध से यह कहने के लिए दूसरा प्रसंग 'स एकदाह' श्लोक से १२ श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—**स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।**
किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ।।३।।

नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् ।
पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥४॥

श्लोकार्थ—एक समय पराक्रम के कारण मदोन्मत्त बना हुआ बाणासुर पासमें स्थित महादेवजी के चरण कमल को अपने सूर्य समान तेज वाले मुकुट से स्पर्श करता हुआ उनको कहने लगा, हे लोकों के गुरु ! ईश्वर ! महादेव ! मैं आपको नमन करता हूँ; आप जिनकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं, उनकी कामनाओं को कल्पवृक्ष की तरह पूर्ण करते हैं ॥३-४॥

सुबोधिनी—गिरिशो महादेवः, तत्रैव गिरौ शेते इति निरन्तरस्थित्या धाष्टर्यं सूचितम् । **पार्श्वस्थमिति** तत्रापि भक्तकृपया तस्यैव पार्श्वे वर्तमानम्, तेन सुतरामेव तस्य स्मयः । वीर्यस्य दुष्टो मदो यस्य । उपजीव्यातिक्रमकर्ता । वीर्यस्मयेन विवेकरहितस्य कृत्यमाह **किरीटेनार्कवर्णेनेति** । विनीतो हि मुकुटोष्णीषादिकं स्थापयित्वा साष्टाङ्गं प्रणतः विज्ञापयेत् । अयं तु किरीटमेव परिधाय, तत्राप्यग्निवर्णं स्पर्शेऽत्यन्तपुरुषम्, तेन चरणाम्बुजमतिकोमलं स्पृशन् आह **नमस्ये इति** । स्तौति । वाचा नमस्कारो वा । **महादेवेति** न त्वत्सदृशोऽन्योऽस्ति, य उपास्यः स्यादिति । **लोकानां गुरुमिति** । उपदेष्टा फलदाता च भवानेवेति साधनफलरूपत्वं निरूपितम् । तेन त्वमेव प्रार्थनीयः, न त्वन्य इति प्रार्थनायां हेतुरुक्तः । किञ्च । प्रार्थितं सर्वमयुक्तमपि प्रयच्छति । नापि यत्किञ्चित्प्रार्थनायामपि क्रोध मन्यत इति दृष्टान्तमिवाह **पुंसामपूर्णकामानामिति** । देवतान्तरतपःप्रभृतिसाधनैः यदा कामना न सिद्धा भवन्ति, तेषां सर्वोपायपरिभ्रष्टानामाश्रयमात्रेण सर्वपूरकममराङ्घ्रिपवत् कल्पवृक्षवत् कामपूरः अमराङ्घ्रिपः यः ॥४॥

व्याख्यार्थ— गिरिश महादेव का नाम है, क्योंकि वहाँ पर्वत पर ही सोते हैं, इस प्रकार निरन्तर स्थिती से धृष्टता सूचित की है । महादेवजी पास में ही स्थित थे, जिससें जताया कि इस पर महादेवजी की कृपा थी अतः आप इसके ही पास में रहते थे इस कारण से उसको बहुत ही गर्व हो गया, पराक्रम का मद, दुष्ट होता है, जिससे आश्रय का भी अतिक्रम होता है । पराक्रम से उत्पन्न अहङ्कार से विवेकहीन बने हुये का कार्य कहते हैं, जो अहङ्कारी नहीं है, नम्रतावाला है वह तो मुकुट और पाग आदि कहीं धर कर पश्चात् साष्टाङ्ग प्रणाम कर प्रार्थना करता है इसने तो अग्नि सम स्पर्श से जलाने वाले मुकुट को धारण कर ही कोमल चरण कमल का स्पर्श कर बाद में कहने लगा कि मैं नमन करता हूँ व वाणी से स्तुति करता हुआ नमस्कार करता है, हे महादेव ! इस सम्बोधन से यह आशय प्रकट किया है, कि आप जैसा दूसरा कोई नहीं जिसकी उपासना की जावे "लोकानां गुरु" इस विशेषण से जताया कि उपदेश करने वाले तथा फल देते वाले आप ही हैं इस प्रकार कहने से सिद्ध किया कि साधन और फल रूप आप ही हैं, इसलिए आप ही प्रार्थना करने के योग्य हैं न कि कोई दूसरा । प्रार्थना करने में यह हेतु है, प्रार्थना में अयुक्त भी माँगा जाय तो वह भी देते हो, जो कुछ मांगा जाय तो भी क्रोध नहीं करते हो इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जिनकी अन्य देवताओं से तप आदि साधनों के करने पर भी, यदि कामनाएँ पूर्ण नहीं होती, वैसे निराश बने हुए शरणागतों की शरणमात्र से सब कामनाएँ कल्पवृक्ष की तरह पूर्ण करने वाले हो ॥३-४॥

आभास—एवं प्रार्थितार्थसिद्ध्यर्थं व्याजेन युद्धं याचते दोःसहस्रं त्वया दत्तमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रार्थित अर्थ की सिद्धि के लिये कपट से 'दोः सहस्र' श्लोक से युद्ध माँगता है ।

श्लोक—दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।
त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लेभे त्वदृते समम् ।।५।।

श्लोकार्थ—आपने मुझे हजार भुजाएँ दी, वे अब भाररूप हो रही हैं; क्योंकि त्रिलोकी में आपके सिवाय मेरे साथ लड़ने वाला कोई नहीं देखता हूँ ।।५।।

सुबोधिनी—क्रियाशक्तिबाहुल्यार्थं सहस्रं बाहवो दत्ताः । ते निर्विषयाः सार्थका न भवन्ति विषयस्तु समानेनाधिकेन वा सङ्ग्रामः, तदभावात् भाराय परमभवत् । यथा शीताभावे वस्त्राणि भारायन्ते, युद्धाभावे वा शस्त्राणि । ऐश्वर्यं प्रकटयति त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारमिति । तर्हि शशशृङ्गाभावे किं चक्षुः निष्फलं तद्वद्विद्यमानैरेव यथायोग्यं क्रियतामित्याशङ्क्य, समेनैव युद्धं कर्तव्यमिति समस्य तव विद्यमानत्वात्त्वदृते अन्यं समं न लेभे । अनेन भगवान् अस्ति, परं स न इन्द्रियविषय इति न लेभ इत्युक्तम् ।।५।।

व्याख्यार्थ— क्रिया शक्ति की विशेषताके लिये हजार भुजाएँ जो दी, वे अब कार्य न मिलने से निरर्थक हो रही हैं, कार्य तो यह है, कि किसी से भी युद्ध हो वह छोटा हो चाहे बड़ा होवे, उनके न होने से यह भुजाएँ भाररूप हो हैं, जैसे ठंड के अभाव में वस्त्र भाररूप लगते है वैसे ही युद्ध के अभाव में शस्त्र भाररूप हैं, यदि कहो कि शान्त क्यों हो लड़ो, खरगोश के सींग नहीं इसलिये चक्षु निष्फल नहीं होते हैं अतः जो विद्यमान हैं उनसे लड़ो जिसके उत्तर में कहता है कि समान से ही लड़ाई की जाती है, तीन लोक में आपके सिवाय कोई मेरे साथ लड़ने योग्य नही मिला है, जिससे मैं लड़ूं 'न लेभे' पद कहने का आशय है कि आप तो भगवान् हैं अतः इन्द्रियों से दीखते ही नहीं हो इसलिये कहा है कि 'न लेभे' नहीं मिला है ।।५।।

आभास—तर्हि मास्तु, सुप्यतामित्याशङ्क्याह कण्डूत्येति ।

आभासार्थ— जो कोई नहीं मिला है तो सो रहो अर्थात् शान्त रहो इसका उत्तर 'कण्डूत्या' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् ।
अन्वयां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ।।६।।

श्लोकार्थ—मेरी भुजाओं में खुजली होने लगी, तब उसको मिटाने के लिए मैं दिग्गजों से लड़ने के लिए पर्वतों को चूर्ण करता हुआ उनके पास गया, डर के मारे वे भी भाग गए ॥६॥

सुबोधिनी—निभृताः पूर्णाः, अतः स्थातुमशक्ताः। तर्हि युद्धाभावे अन्य एव कश्चित् कण्डूतिनिवृत्त्यर्थमुपायः क्रियतामित्याशङ्क्य, दिग्गजानहं युयुत्सुः चूर्णयन्नन्द्रीन् अन्वयाम्। पर्वता अपि चूर्णीकृताः। दिग्गजा अपि युद्धार्थमन्विष्टाः। बलमुभयथा क्षीणं भवति, शौर्यरूपं युद्धेन, बलरूपं पराक्रमेण, तत्राचेतनाश्चूर्णीभूताः, चेतनास्तु पलायिता इति वैयर्थ्यमेव जातमित्यर्थः ॥६॥

व्याख्यार्थ—मेरी भुजाएँ पूर्ण बल युक्त होने से युद्ध के सिवाय रह नहीं सकती हैं, यदि यों है तो युद्ध के अभाव मे दूसरा कोई मार्ग खुजली मिटाने के लिये ग्रहण कर, जिसके उत्तर में कहता हैं कि मैं दिग्गजों से लड़ने के लिये पर्वतों को चूर्ण करता हुआ उनके वहां गया, पर्वतों को भी चूर्ण कर छोड़ा, युद्ध के लिये दिग्गज भी गतिहीन देखे, दोनों प्रकार बल क्षीण होता है, शौर्य रूप युद्ध से पराक्रम से बलरूप वहां, अचेतन पर्वत चूर्ण हो गये, और चेतन दिग्गज भाग गये, इस प्रकार सर्व व्यर्थ हो गया क्योंकि खुजली मिटी नहीं ॥६॥

आभास—एवं गर्वं श्रुत्वा क्रुद्धो भगवानित्याह तच्छ्रुत्वेति।

आभासार्थ—इस प्रकार के अहङ्कार युक्त वचन सुनकर भगवान् महादेव को क्रोध उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा।**
त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥७॥

श्लोकार्थ—ये वचन सुनकर महादेवजी क्रोधित हो कहने लगे कि जब तेरी ध्वजा टूट जाय, तब हे मूर्ख! समझ लेना कि तेरे गर्व को नाश करने वाले भगवान् से तेरा युद्ध होगा, वे भगवान् मेरे समान हैं; क्योकि जो सर्व समान हैं, वे महादेव के समान भी हैं ॥७॥

सुबोधिनी—भगवान् सर्वज्ञः महादेवः क्रुद्धः आहेति पूर्वोक्तैव क्रिया अनुवर्तनीया। यदा ते केतुः भज्यते, तदेव तवाभिज्ञापकं युद्धप्राप्तौ। केतुर्ध्वजः वंशस्य। कन्या जारोपभुक्ता भग्नकेतुरुच्यते। अकस्मादस्वस्थे तस्मिन् केतुभङ्गश्च। तदा त्वद्दर्पघ्नं त्वद्दर्पहननार्थमेव संयुगं मत्समेन भगवता भविष्यति। मया समः भगवान्। सर्वसम इति महादेवेनापि समः ॥७॥

व्याख्यार्थ—सर्वज्ञ भगवान् महादेव क्रोधित हो कहने लगे – इस श्लोक में क्रिया नहीं है अतः "आह" यह क्रिया पहले दी हुई है, वह ले लेनी – जब तेरी ध्वजा टूटे, समझ लेना कि अब

तेरे साथ युद्ध करने वाले मेरे समान प्रादुर्भूत हो गये हैं. जिसका चिन्ह ध्वजा टूटना है, वह ध्वजा वंश की है, अर्थात् जिस वंश की कन्या का जार उपभोग कर लेता है, उस वंश को कहते हैं, इसको ध्वजा टूट गई अर्थात् इस कुल की मान-मर्यादा नष्ट हो गई। अचानक उसके रस में स्थित होने पर केतु का भङ्ग होता है–तब तेरे साथ युद्ध कर तुम्हारा गर्व भंग करने वाले, तेरे अहङ्कार को मिटाने के लिये ही मेरे समान भगवान् से तेरा युद्ध होगा, मेरे समान भगवान् ही हैं, जो भगवान् सर्व के समान हैं वह महादेवजी के समान भी हैं। ७।

आभास—एवं युद्धसम्भवमाकर्ण्य प्रीतो जात इत्याह **इत्युक्त** इति ।

आभासार्थ — इस प्रकार युद्ध का होना सुनकर प्रसन्न हुआ, यह 'इत्युक्तः' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—इत्युक्तः **कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।**
प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥८॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! महादेवजी ने जब ऐसा कहा, तब वह कुबुद्धि प्रसन्न हो अपने घर गया, दुर्बुद्धि वह अपने **पराक्रम** के नाशकारक, महादेव के आदेश की प्रतीक्षा (इन्तजार) करने लगा ॥८॥

सुबोधिनी—महादेवेनैवमुक्तः हृष्टो जातः, यतः कुमतिः । तस्य महादेववाक्ये विश्वासमाह **स्वगृहं** प्राविशदिति । स्वयमुद्यममकृत्वा स्वगृहं प्रविष्टः गिरिशादेशं प्रतीक्षन् आस्ते । यद्यपि स आदेशः स्ववीर्यनाशकः, तथापि कुधीः ॥८॥

व्याख्यार्थ— महादेवजी ने यों कहा तो प्रसन्न हुआ, क्योंकि कुमति था, महादेवजी के वचनों में श्रद्धा होने से प्रसन्न हो घर को चला गया, अपना कोई उद्यम न करने लगा, केवल महादेवजी की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा, यद्यपि वह आज्ञा अपने वीर्य को नाश करने वाली थी, तो भी प्रतीक्षा करने लगा, कारण कि पाप बुद्धि था ॥८॥

आभास—तस्य केतुभङ्गप्रकारमाह **तस्योषा नाम दुहितेति** ।

आभासार्थ— उसके केतु भङ्ग का प्रकार 'तस्योषा नाम दुहिता' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।**
कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन वै ॥९॥

श्लोकार्थ—उसकी उषा नाम पुत्री थी, जिसने कुँआरी अवस्था में ही, पहले नहीं देखे और न सुने प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध के साथ स्वप्न में रति को प्राप्त किया ॥९॥

सुबोधिनी—अत्र पुराणान्तरे उषा पत्यर्थं पार्वतीं प्रार्थितवती। ततः सा तुष्टा अद्य यः स्वप्ने त्वां भजिष्यति स तव पतिरिति पार्वत्योक्ता, आधिदैविकः प्राद्युम्निरूपो भगवान् स्वप्नसृष्टौ मायिक्यां तामालिङ्ग्य, स्वभाव तत्र स्थापितवान्। ततः सा वस्तुत आधिदैविकेन प्राद्युम्निना रतिमलभत। कन्याया रतिर्व्रतभङ्गहेतुर्भवति। मनोरथमात्रं वं निवारयति कान्तेनेति। तर्हि भावनयैव मनोरथतुल्य स्वप्नः तथा जात इत्याशङ्क्याह प्रागदृष्टश्रुतेनेति। प्राक् ततः स्वप्नात्पूर्वं न दृष्टः श्रुतो वा कदाचिदपि तया। वं निश्चयेनेति दैवोपपत्तिरुक्ता ॥९॥

व्याख्यार्थ— इस प्रसंग में अन्य पुराण में कथा है, कि उषा ने पति प्राप्ति के लिये पार्वती को प्रार्थना की, वह प्रसन्न हो के उषा को कहने लगी कि आज जो स्वप्न में तुझे भजेगा वह तेरा पति होगा। आधिदैविक अनिरुद्ध रूप भगवान् ने स्वप्न सृष्टि में मायिकी उसको आलिङ्गन कर उसमें अपना भाव स्थापित किया अनन्तर उसने वास्तविक आधिदैविक अनिरुद्ध के साथ रति को प्राप्त किया। कुंआरी का किसी से रतिक्रीड़ा करना प्रतिव्रत्य व्रत के भङ्ग का कारण होता है रतिक्रीड़ा हुई न होगी, केवल भावना हुई होगी, इस शंका को मिटाते हुए कहते है, कि नहीं केवल भावना नहीं किन्तु वास्तव में रति क्रीड़ा की, क्योंकि 'कान्तेन' जिससे क्रीड़ा की, वह कान्त था। तब तो भावना से ही मनोरथ के समान वैसा स्वप्न हुआ, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते है कि, स्वप्न से पहले उसको न देखा था और न सुना था कि ऐसा है कि वैसा है, जिससे कि भावना हो सके, इसलिए यह भावना आदि नहीं थी किन्तु निश्चय से दैव ही उचित कारण था ॥९॥

श्लोक— **सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी।**
सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह वहाँ उसको न देख कहने लगी कि हे कान्त कहाँ हो? सखियों के बीच खड़ी रही विह्वल होने से बहुत लज्जित होने लगी ॥१०॥

सुबोधिनी—ततस्तस्या व्रतसमाप्तिं कृत्वा गते, स्वप्नान्ते उत्थिता, तत्र शय्यायां स्वप्नस्य समानदेशे तमनिरुद्धमपश्यन्ती, 'क्वासि कान्ते'ति भाषन्ती, सखीनां मध्ये उत्तस्थौ। सा हि परितः सख्यो मध्ये शेते। गुप्तं सखीषु अन्वेषयन्तीव सा उत्थिता। उत्थितायाः अप्युपभोगलक्षणमाह विह्वलेति। अन्तर्व्रीडिता। भृशमत्यर्थं स्वावस्थां स्मृत्वा ॥१०॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् उसकी व्रत समाप्ति कर अनिरुद्ध के जाने पर स्वप्न पूर्ण हुआ तब वह जगी, वहाँ शय्या पर स्वप्न वाले स्थान पर उस अनिरुद्ध को न देख हे कान्त! कहाँ गए, यों कहने लगी, सखियों के मध्य में ही जगी थी, कारण कि चारों तरफ सखियाँ सोती थीं और बीच में वह सोती थी चुपचाप मानो गुप्त रीति से ढूंढ़ती हो, वैसे कहती थी, हे कान्त! कहाँ गये, सोने के बाद जगने के समय, भी इसके लक्षणों से मालूम होता था कि इसका अब भोग हुआ अर्थात् उपभुक्ता है, इसलिए कहा है कि विह्वला' घबराई हुई दिखती थी, और लज्जायुक्त सी अर्थात् भीतर लज्जा होने से शर्मिन्दा हो रही थी 'भृशम्' पद से कहा है कि अपनी अवस्था को याद कर हृदय में बहुत लज्जित हो रही थी ॥१०॥

आभास—पूर्वमेव पार्वत्या चित्रलेखा नाम योगिनो तस्याः सखी निष्पादिता, यया तस्या मनोरथः सर्वोऽपि सिद्धो भवति । यद्यप्यन्या अपि जिज्ञासां कृतवत्यः, तथापि सा प्रयोजिकेति चित्रलेखाया उपाख्यानमुच्यते **बाणस्य मन्त्रीति** ।

आभासार्थ – पार्वतीजी ने प्रथम ही 'चित्रलेखा' नामवाली योगिनी उसकी सखी बना दी थी जिससे इसका सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाय, यद्यपि दूसरी भी जानना चाहती थी तो भी वह प्रेरक कर्त्री थी अब चित्र लेखा की कथा कही जाती है 'बाणस्य मन्त्री' इस श्लोक से ।।

श्लोक—**बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।**
सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ।।११।।

श्लोकार्थ—बाण के मन्त्री कुम्भाण्ड की कन्या चित्रलेखा थी, वह उषा की सखी थी, उषा के इस प्रकार के कहने पर जब अचम्भे में पड़ गई, तब उससे पूछने लगी ।।११।।

सुबोधिनी—मन्त्र्यधीनं राज्यमिति स महादेवेन दत्त इति ज्ञापितम् । कुम्भाण्ड इति नाम । नतु कुम्भाकारावण्डाविति । तस्य दुहिता चित्रलेखा । चकारादन्या अपि तस्य कन्या उषासख्यः। सखी उषायाः । उभयोरन्योन्यसखित्वे न गोप्यं किञ्चिदवशिष्यते वक्तव्ये इति सखीमूषामित्युक्तम् । अद्यैव पार्वत्युक्तम्, अद्यैवेय विह्वलेति कौतुकसमन्विता ।।११।।

व्याख्यार्थ— राज्य, मंत्री के आधीन होता है, वह मंत्री महादेव ने दिया, जिसका नाम 'कुम्भाण्ड' था न कि कुम्भ के आकार के समान जिसके अण्डे हैं, वैसा होने से उसको कुम्भाण्ड कहते है, उसकी पुत्री चित्रलेखा थी; 'च' पद का आशय है कि उसकी दूसरी कन्याएँ भी उसकी सहेलियाँ थीं, किन्तु चित्रलेखा विशेष सखी थी जिससे दोनों का परस्पर प्रेम होने से कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, अतः चित्रलेखा ने सखी उषा से पूछा कि क्या है ? आज ही पार्वती ने कहा, वह हुआ ? यह आज ही घबरा गई है, इसलिए चित्रलेखा अचम्भे में पड़ गई ।।११।।

आभास—तस्या वाक्यमाह **कान्तं मृगयस** इति ।

आभासार्थ— चित्रलेखा ने जो कहा, वे अक्षर 'कान्तं मृगयसे' श्लोक में कहते है—

श्लोक—**कान्तं मृगयसे सुभ्रु कीदृशस्ते मनोरथः ।**
हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ।।१२।।

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहवाली ! तू कान्त को ढूँढ़ रही है, कैसा तेरा मनोरथ

है ? हे राजपुत्री ! अब तक तो तेरा पाणिग्रहण भी नहीं हुआ, फिर यह क्या? ॥१२॥

सुबोधिनी – सुभ्रु इति भ्रूभङ्गादिभावो दृश्यत इति अकन्यात्व तस्या आह । ननु कान्तान्वेषणं युक्तमेवेति चेत्, तत्राह कीदृशस्ते मनोरथ इति । मनोरथे कृते स्वप्ने तथा दृश्यत इति दृष्ट एवोपाय इति तं मनोरथमेव पृच्छति । कश्चिन्मनोरथो भविष्यतीति चेत्, तत्राह हस्तग्राहमिति हस्तो गृह्यते अनेनेति हस्तग्राहः पतिः, अस्मिन्निति विवाहो वा। अद्यापि ते विवाहं न लक्षये। कस्याश्चिद्बाल्य एव विवाहो भवति, पश्चात् सखीभिः सम्बन्धः, तदापि विवाहो जात इति लक्ष्यते, विवाहे तु कुलकन्यायाः तत्र मनोरथो युक्तो भवति । राजपुत्रीतिपदात् निरोधेन यथेच्छया सम्बन्धो निवारितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—भ्रूभङ्ग आदि भाव से जाना जाता है कि अब इसमें कन्यापन नहीं रहा है,कान्तको ढूँढ़ना तो उचित ही है यदि यों कहो तो कहती है, कि तेरा मनोरथ कैसा है ? जैसा मनोरथ किया जाता है वैसा ही स्वप्न में देखा जाता है अतः उपाय दृष्ट ही हैं। इसलिए उस मनोरथ को पूछती है, कोई मनोरथ होगा यदि यों है तो कहो किन्तु तेरा आज तक किसी ने हाथ नहीं पकड़ा है अर्थात् तेरा विवाह आज तक तो हुआ ही नहीं हैं. किसी का बचपन में विवाह हो जाता है, अनन्तर सखियों से सम्बन्ध होता है, तो भी विवाह हुआ है, यह समझा जाता है, विवाह हो जाने पर ही कुल की कन्या का इसकी प्राप्ति के लिये मनोरथ उचित है । हे राजपुत्री! यों सम्बोधन देने से निरोध से, यथेच्छ से विवाह सम्बन्ध करने का निवारण किया ॥१२॥

आभास—उत्तरमाह दृष्ट इति ।

आभासार्थ— 'दृष्टः' इस श्लोक से उषा उत्तर देती है ।

श्लोक—उषोवाच–**दृष्टः कश्चिन्नरवरः श्यामः कमललोचनः ।**
पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥१३॥

श्लोकार्थ—उषा ने कहा कि मैंने किसी एक श्यामवर्ण, कमललोचन, पीतपट-पहिने हुए, लम्बी भुजावाले, स्त्रियों के मनों को हरण करने वाल, सुन्दर पुरुष को देखा ॥१३॥

सुबोधिनी – कश्चिद्विशेषतो निर्वक्तुमशक्यः । नरवरः मनुष्यश्रेष्ठः । सर्वेषामाकृतिर्भिन्नेति स न देवः, नापि दैत्यः, अन्यो वा, किन्तु नरश्रेष्ठ एव । स्वप्ने कार्त्स्न्यानभिव्यक्तिरिति केवलं भ्रमः स्यात्, तत्प्रकृते नास्तीति आकृतिरूपगुणादीन् वर्णयति । सर्वलक्षणसम्पन्ननरत्वं आकृतिः । श्याम इति रूपम् । कमललोचन इति सौन्दर्यम् । पीतवासा इति भूषितत्वम् । बृहद्बाहुरिति भोगयोग्यता । योषितां हृदयङ्गम इति संभोगसामर्थ्यम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ — कोई विशेष पुरुष देखा जिसका वर्णन करना अशक्य है, वह मनुष्यों में उत्तम था, सर्व की आकृति पृथक्-पृथक् होती है, इस आकृति से जाना गया है कि वह न देव है न कोई दैत्य है और न कोई दूसरा है किन्तु मनुष्यों में ही उत्तम मनुष्य हैं, स्वप्न में सम्पूर्ण प्राकट्य नहीं होता है इसलिए केवल भ्रम हुआ होगा ? इसका उत्तर देती है कि इस प्रकृत विषय में भ्रम नहीं हुआ है, इसलिये उसकी आकृति, रूप और गुण आदि का वर्णन करती है. सर्व लक्षण युक्त मनुष्यत्व वाला आकार था, श्याम स्वरूप था, कमललोचन होने से रूप भी सुन्दर था, पीत वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य प्रकट था, बड़ी भुजा वाला था जिससे उसमें भोग की योग्यता भी थी, स्त्रियों के हृदय को हरण करने वाला था जिससे संभोग की उसमें सामर्थ्य थी ।।१३।।

आभास—ननु दर्शनमात्रेण कथं कान्तत्वम्, तत्राह **तमहं मृगये कान्तमिति ।**

आभासार्थ — केवल दर्शन होने से ही कान्तपन कैसे ? जिसका उत्तर 'तमहं मृगये' श्लोक में देती हैं।

श्लोक—तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।
क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे ।।१४।।

श्लोकार्थ—अधर की मधु पिलाकर, उस मधु की इच्छावाली जो मैं हूँ, उसको दुःख समुद्र में फेंककर कहीं भी चला गया, उस कान्त को मैं ढूँढ़ रही हूँ ।।१४।।

सुबोधिनी—स मम कान्तो जातः, अतो मृगये। कथं जात इत्याकाङ्क्षायामाह **पाययित्वाधरं मधु** इति। अनेन सर्वेऽपि सम्बन्धा निरूपिताः। बहुधा सम्बन्धे हि सामर्थ्यक्षये स्त्रियाः पुरुषाधरपानम्। अनेन बहुकालावस्थानं सूचितम्। ततः क्वापि यातः, न तु विलीनः, भोगलक्षणानां विद्यमानत्वात्। विशेषसुखमदत्वा गत इति युक्तमन्वेषणमिति वक्तुमाह **स्पृहयतीं मां वृजिनार्णवे क्षिप्त्वेति**। रसेच्छामुत्पाद्य तदपूरणाद्दुःखम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ — वह मेरा पति बन गया इसलिये मैं उसको ढूंढ रहीं हूँ, तेरा पति केवल देखने से कैसे बना ? जिसका उत्तर देती है कि उसने मुझे अधरामृत पिलाया, यों कहने से सब प्रकार के सम्बन्ध हुए यों बताया है प्रायः जब सम्बन्ध करते हुए सामार्थ्य क्षय होती है. तब स्त्री पुरुष का अधर पान करती है, जब तक सामर्थ्य क्षय नहीं होती हैं, तब तक स्त्री को सम्बन्ध की इच्छा बनी रहती है, इससे यह बताया कि केवल दर्शन नहीं हुवा है किन्तु बहुत समय वह ठहरे हैं जिससे सम्बन्ध हुवा है, अधरामृत पिलाने के बाद, कहीं ही चला गया न कि विलीन हो गया क्योंकि अब भी भोग के लक्षण विद्यमान हैं, स्वल्प सुख देकर चला गया इसलिए विशेष सुख लेने के लिए उसको ढूँढ़ना उचित ही है, यों कहने के लिए कहती है कि, रस को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न की जिससे मैं उस रस को चाह रही हूँ किन्तु वह न देकर दुःख समुद्र में फेंककर चला गया अतः मैं ढूँढ़ रही हूँ ।।१४।।

आभास—ततः सख्याः प्रतिज्ञामाह **व्यसनं तेऽपकर्षामीति।**

आभासार्थ— 'व्यसनं ते' श्लोक से सखी की प्रतिज्ञा कहते हैं।

श्लोक—चित्रलेखोवाच—**व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते।**
तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश॥१५॥
इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान्।
दैत्यविद्याधरान्यक्षान्मनुजांश्च यथालिखत्॥१६॥
मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम्।
व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता॥१७॥

श्लोकार्थ—चित्रलेखा ने कहा कि यदि त्रिलोकी में कहीं भी होगा, तब तेरा दुःख मैं मिटाऊँगी, जो मनुष्य तेरा मन हरने वाला है, वह तू बता दे तो उसको मैं ले आऊँगी; यों कहकर उसने देव, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्य आदि के चित्र लिखे, मनुष्यों में से उसने यादवों के चित्र लिखे, वसुदेवजी राम और कृष्ण के चित्र तथा प्रद्युम्न का चित्र निकाला, तब उषा उसको देख लज्जा करने लगी॥१५-१६-१७॥

सुबोधिनी—यदि त्रिलोक्यां सः, तदा ते व्यसनमपकर्षामि। कथमित्याकाङ्क्षायामाह भाव्यत इति। चित्रे मया लिख्यते। तत्र यस्ते मनोहर्ता तमादिश। तमहमानयिष्यामीति व्यसनापकर्षणप्रकारः। यद्यपि नरवर इति विशेषकथनात् देवादीनां लेखनमसङ्गतम्, तथापि देवादयो रूपान्तरेणोपभोगार्थमायान्तीति देवादयो नररूप एवात्र लिख्यन्ते। ऊर्ध्वादधःपर्यन्तं स्त्रीणां दृष्टिः। अत आदौ देवलेखनम्। एते त्रिगुणास्त्रयो गुणाः देवादयो नव सामान्यतो लिखिताः। चकारान्मनुष्येषु सर्वप्रकाराः, देवादिष्वपि वा। मनुष्येषु श्यामत्वादिधर्मा उक्ता इति तत्साम्यं यादवेष्वेव वर्तत इति मनुजेषु सा वृष्णीनलिखीत्। ततोऽपि हृदयङ्गमादिधर्मैः उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यरूपत्वात् वृष्णिषु शूरमलिखत्। तस्य च पुत्रमानकदुन्दुभिं वसुदेवम्। तत्र यद्यपि रामो न श्यामः, तथापि रूपान्तरेण तथा कुर्यादिति रामोऽपि लिखितः। रामकृष्णौ चेति। चकाराद्गदादयोऽपि लिखिताः। प्रद्युम्नं लिखितं वीक्ष्य ईषद्वैलक्षण्यात् तत्पुत्रो भवितुमर्हतीति निश्चित्य विलज्जिता। यद्यपि भगवान् तादृशमकृत्रिमं रूपं कर्तुं शक्तः, तथापि मर्यादायामेकैकस्य गुणस्याभिव्यक्त्यर्थं एक एव पदार्थो निर्णीयते। ततो यादृशो गुणोऽनिरुद्धनिदानभूतः, तेनानिरुद्धो निष्पादित एव। अन्यः क्रियमाणः कृत्रिम एव भवतीति वैलक्षण्यं भवत्येव। आधिदैविको दृष्ट इति, अनिरुद्धो वा स्वयं मायया तथा आगत इति न वैलक्षण्यं लज्जया ज्ञातवती। एतत्पुत्रो भविष्यतीति। भर्तृपितामहादिभ्यो न लज्जेति लौकिकाः॥१५-१६-१७॥

व्याख्यार्थ— यदि वह त्रिलोकी में होगा तो तेरा दुःख दूर करूंगी, कैसे मिटाओगी ? मैं चित्र बनाती हूँ, उनमें तेरे मन का हरण करने वाला हो वह मुझे बता दे, उसको मैं ले आऊंगी, यह तेरे दुःख मिटाने का उपाय है। यद्यपि 'नरवर' कहा है, तब देव आदि के चित्र लिखने व्यर्थ हैं, तो भी कदाचित् देवादि रूपान्तर धारण कर भोग-भोगने के लिये आए हों, इसलिये मैं जो देवों के चित्र बनाती हूँ वे भी मनुष्य रूप के ही बनाती हूँ, स्त्रियों की दृष्टि ऊपर से नीचे तक होती है अतः प्रथम देवादि के चित्र बनाए, गुण तीन हैं, गुणों के मिलने से देव सगुण हो नव प्रकार के होते हैं, वे नव हैं, सामान्य रूप से लिखे हैं, 'च' पद से देव तथा मनुष्य के, सर्व प्रकार लिखे, मनुष्यों में श्यामत्व आदि धर्म कहे, इसलिये इस श्यामत्व की समानता यादवों में होती है, अतः मनुष्यों में यादवों के चित्र लिखे, उससे भी जो हृदय हरण करने वाले आदि एक दूसरे से विशेष धर्म कहे, जिससे यादवों में भी श्रेष्ठ शूरसेन और उसके पुत्र वसुदेव एवं राम तथा श्रीकृष्ण के चित्र बनाये, यद्यपि राम का स्वरूप गौर है तो भी रूपान्तर से श्याम भी होते हैं, इसलिये उनका भी चित्र लिखा 'च' पद से गद आदि के भी चित्र बनाये, प्रद्युम्न का चित्र देख थोड़ा सा भेद समझ, जान लिया कि वह इसका पुत्र होगा, यों निश्चय कर इनको श्वसुर समझ लज्जित हुई, यद्यपि भगवान् वैसा अकृत्रिम रूप करने में समर्थ है, तो भी, मर्यादा में एक एक गुण को प्रकट करने के लिये एक ही पदार्थ का निर्णय किया है, इस कारण से जैसा गुण अनिरुद्ध का कारण है उससे ही अनिरुद्ध का सम्पादन किया है, अन्य किया हुआ कृत्रिम ही होता है इसलिये विलक्षणता तो होती ही है, आधिदैविक स्वरूप देखा अथवा स्वयं अनिरुद्ध माया से यों आये हैं इसलिए लज्जा के कारण विलक्षणता न जान सकी, इसका पुत्र होगा, भर्ता के पितामह आदि से लज्जा नहीं, यों लौकिक कहते है ॥१५, १६, १७।

आभास—ततोऽनिरुद्धोऽकृत्रिमो लिखित इत्याह अनिरुद्धमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अनिरुद्ध का चित्र वास्तविक निकला यह 'अनिरुद्ध' श्लोक में कहते है।

श्लोक—अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥१८॥

श्लोकार्थ—उषा अनिरुद्ध का वह चित्र देख लज्जा से नीचे मुख करने लगी और प्रसन्न हो कहने लगी कि वह यह है, यह है। हे महीपते ! सम्बोधन भ्रम निवारण के लिए है ॥१८॥

सुबोधिनी—विशेषेण लिखितं सहजरूपं स्वप्नदृष्टसमानं दृष्ट्वा, उषा तं साक्षादेव मत्वा, पूर्वसम्बन्धं स्मृत्वा, अधोमुखी जाता । तत आदरेण अन्यं मा लिखत्विति, स एवासावसाविति द्विरुक्तवती । स्मयमानेति तस्याः प्राप्स्यामीति हर्षः सूचितः । महीपते इति सम्बोधनं भ्रमाभावाय ॥१८॥

व्याख्यार्थ—विशेष प्रकार से बनाया हुआ वह अनिरुद्धजी का चित्र देख, उसका स्वप्न में देखा हुआ सहज रूप जान प्रथम हुआ सम्बन्ध स्मरण कर उषा ने नीचे मुख कर लिया, पश्चात्

आदर से यों कहने लगी कि यह ही वह है, यह ही वह है, अतः अब आप दूसरा चित्र मत बनाओं, अब इसको प्राप्त कर सकूंगी जिससे इसको, हर्ष हुआ जिसके लिये 'स्मयमाना' पद दिया है, महीपते ! यह सम्बोधन भ्रम के अभाव के लिये दिया है ॥१८॥

आभास—ततो वरं निश्चित्य तमानेतुं गतेत्याह **चित्रलेखेति** ।

आभासार्थ—वर का निश्चय कर पश्चात्, उसको ले आने के लिये गई, जिसका वर्णन 'चित्र लेखा' श्लोक से करते है।

श्लोक—चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।
ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—योगिनी चित्रलेखा उसको कृष्ण का पौत्र जानकर हे राजन् ! शीघ्र ही कृष्ण से पालन की हुई द्वारका गई ॥१९॥

सुबोधिनी—कृष्णस्य पौत्रमिति स्त्रीणां हितकारी भविष्यति। स्वयं च योगिनी तस्याग्रे रमणं योगाभ्यासेन ज्ञातवती। अत एव विहायसा ययौ। अन्यथा रक्षकैर्गमनागमनाशक्तेः। राजन्निति सावधानार्थम्। कृष्णपालितामिति। तदानीं कृष्ण एव पालकः पुराध्यक्षः स्वयं जातः, इदमेव कार्यमुद्दिश्य। अन्यथा देवैः सानुभावैश्च रक्षिता पुरीति नान्यः प्रवेशमर्हति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यह कृष्णचन्द्र का पोत्र है, इसलिये स्त्रियों का हितकारी ही होगा, स्वयं योगिनी है, इसलिये योगाभ्यास से उसके आगे रमण करना जान गई, इसी कारण से ही शीघ्र गयी, अन्य प्रकार आने-जाने की शक्ति रक्षकों में नहीं है, राजन्, यह सम्बोधन सावधान होने के लिये दिया है, इस समय इस कार्य का उद्देश्य लेकर द्वारका का स्वयं श्रीकृष्ण, पालन करने वाले थे, अर्थात् नगर के अध्यक्ष थे, यदि आप न होते, देवता आदिकों से रक्षित होती, तो दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता ॥१९॥

श्लोक—तत्र सुप्तं स्वपर्यङ्के प्राद्युम्नि योगमास्थिता ।
गृहीत्वा शोणितपुरे सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ वह अनिरुद्ध अपने पलङ्ग पर सो रहा था, यह योग धारण कर उसको लेकर शोणितपुर आगई और अपनी सखी को अपना प्रिय दिखा दिया ॥२०॥

सुबोधिनी—तत्रापि भगवदिच्छया अनिरुद्धोऽपि न जागर्ति, अन्यथा स एव न गच्छेत्। स्वपर्यङ्क इति निर्भरनिद्रात्वाय। ननु राजन्याः सावधाना भवन्ति, कथमेवं निर्भरनिद्रात्वम्, तत्राह

प्राद्युम्निमिति। स हि प्रद्युम्नस्य पुत्रो निर्भयः। प्रद्युम्नोऽपि हृतः, सोऽपि हृतो, भगवदिच्छयेति वा। पराभवः स्त्रीप्राप्तिश्चोभयत्र तुल्या। शक्तिह्रासस्तु नैमित्तिक इति बोध्यते। सापि तं नेतुं लौकिकमुपायं परित्यज्य योगमास्थिता। अलौकिक उपायो योगः। आस्थितिः सर्वभावेन तत्रातिभरं दत्वा। गृहीत्वा पर्यङ्कात्तमेव बालकमिव। अप्रबोधो योगानुभावः। शोणितपुरे इति नाम्नैव भयानकत्वमुक्तम्। सख्यै उषायै। तस्याः प्रियमनिरुद्धं 'अयं तव प्रिय' इति प्रदर्शितवती ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वहाँ भी भगवदिच्छा से अनिरुद्ध भी नहीं जागता था, यदि जागता हो तो वह स्वयं न जावे। अपने पलङ्ग पर कहने का भावार्थ है कि गाढ निद्रा में सो रहा था, राजा लोग तो सावधान रहते हैं, यह इस प्रकार कैसे सो रहे थे? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि प्रद्युम्न का बेटा है अतः जैसे पिता निर्भय थे वैसे यह भी निर्भय है, जिससे गाढ़ निन्द्रा में थे, जिस गाढ़ निद्रा के कारण प्रद्युम्न का हरण हुआ तो यह भी हरण हो रहा है अथवा भगवदिच्छा से हरण हुवा है, शत्रु का पराभव और स्त्री की प्राप्ति ये दोनों कार्य, दोनों के, समान हुवे हैं, शक्ति का ह्रास तो निमित्त मात्र हुआ है, यों समझा जाता है, वह उसको ले आने के लिये लौकिक उपाय न कर योग में पूर्ण रीति से स्थित रही, योग अलौकिक उपाय है वह करने लगी उसको ही बालक की भाँति पलङ्ग से लेकर शोणितपुर में आ के उषा को 'यह तेरा प्यारा ले आई हूँ' यों कह कर उसको 'अनिरुद्ध' दिखाया, पलङ्ग पर से उठाकर लाने से क्या वह जगे नहीं? जिस के लिये कहा है कि यह योग का प्रभाव है 'शोणितपुर' नाम से ही उसका भयानकपन दिखाया है ॥२०॥

श्लोक—**सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।**
दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वह भी उस सुन्दर पति को देखकर प्रसन्नमुखी हुई, जिस गृह को पुरुष नहीं देख सके, ऐसे अपने गृह में अनिरुद्धजो के साथ रमण करने लगी ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्र गतः प्रबुद्धः स्त्रीमण्डले। ततः सा मुदितानना तेन सह रेमे। चकारात्सोऽपि तया सह। **मुदितानने**ति तस्या भयाद्यभाव उक्तः, विषयसौन्दर्यात्। लौकिकोऽपि हेतुरस्तीत्याह दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृह इति। स्त्रियः सर्वाः कन्यायां तस्मिश्चानुरक्ताः ऐकमत्यं प्राप्ताः। मात्रादयोऽपि। **प्राद्युम्निने**ति सर्वथा कामपूरकत्वम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—शोणितपुर में पहुँच जाने के अनन्तर स्त्री मंडल में जब गया तब जगा, पश्चात् प्रसन्न मुख वाली वह उषा उसके साथ रमण करने लगी 'च' पद से यह बताया कि वह भी उषा के साथ रमण करने लगा, प्रसन्न मुखी कहने से इसका निर्भयपन प्रकट किया है, क्योंकि विषय का सौन्दर्य है, जिससे भय नहीं लौकिक भी हेतु हैं, जिसके लिये कहा है कि जिस गृह पर पुरुषों की दृष्टि न पड़ सके, ऐसे अपने घर में रमण का कार्य करने लगे, स्त्रियाँ, मातादि भी सब कन्या में एवं अनिरुद्ध में प्रेम युक्त थीं इसलिए सब का एक मत था जिससे किसी को मालूम होने न दिया। प्रद्युम्न का पुत्र कहने का भावार्थ यह है, कि सर्व प्रकार काम की पूर्ति करने वाला हैं ॥२१॥

आभास—निलीय क्लेशरमणं व्यावर्तयति **पराध्यति** ।

आभासार्थ—छिपकर जो रमण होता है, वह क्लेश रमण है उसका निषेध 'परार्ध्य' श्लोक से करते है ।

श्लोक—**पराध्यवास:स्रागन्धधूपदीपासनादिभि: ।**
पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यै: शुश्रूषयार्चित: ।।२२।।

श्लोकार्थ—अमूल्य वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, धूप, दीप और आसन आदि एवं पान, भोजन तथा भक्ष्य, मधुरवचन और सेवा से उषा ने पूजन किया ।।२२।।

सुबोधिनी—पराध्यान्यिमूल्यानि सर्वाण्येव । धूपदीपासनादिभिरिति देववत्पूजनमुक्तम् । स्नातस्य प्रथमं वस्त्रम्, तत: स्रज:, ततो गन्ध इति । केशेषु संस्कारार्थ धूप: । ततो गृहे प्रविष्टस्य आरात्रिकम् । तत उपवेशनार्थमासनम् । तत: पानभोजनभक्ष्याणि । पान मादकरुच्युत्पादकद्रव्यकृतम् । भोजनं प्रकृतम् । भक्ष्यं ताम्बूलादि । अथवा । कदाचित्पानम्, कदाचिद्भक्ष्याणि । चकारात्तत्सम्बन्धोगि । मानसस्तु सिद्ध एवेति बाह्या एते निरूपिता: । वाक्यैरिति वाचनिकी । शुश्रूषा कायिकी । सर्वभावेनार्चित: ।।२२।।

व्याख्यार्थ—सर्व, वस्त्र आदि पदार्थ, जो कुछ पूजा के लिये आवश्यक थे वे सब अमूल्य थे, धूप, दीप, आसन आदि इनसे देव की तरह पूजा हुई, स्नान किये हुए को पहले वस्त्र उसके बाद माला पीछे गन्ध, केशों कों संस्कार करने के लिये धूप, इसके बाद घर, में प्रवेश होने पर आरती पीछे बैठने के लिये आसन पश्चात् रुचि उत्पन्न करने वाले मादक पदार्थों से बनाया हुवा पेय वस्तु भोजन और ताम्बूल ये क्रमश: तृप्ति पर्यंत बार-बार देने, 'च' का भावार्थ है, उपर्युक्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ भी थे, मानस पदार्थ तो सिद्ध ही थे इसलिये वे बाहर के पदार्थ निरूपण कर बताये है, वाणी तथा काया से सेवा की, इस प्रकार सर्व भाव से पूजित हुआ ।।२२।।

आभास—सोऽपि तासां इच्छानुरोधी जात इत्याह **गूढ: कन्यापुर** इति ।

आभासार्थ—वह भी उनकी इच्छानुसार कृति करने लगा जिसका वर्णन 'गूढ: कन्यापुरे श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**गूढ: कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया ।**
नाहर्गणान्स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रिय: ।।२३।।

श्लोकार्थ—बढ़े हुए स्नेह वाली उस उषा ने अनिरुद्ध की इन्द्रियों को हर लिया, जिससे वह कन्या के अन्त:पुर में गुप्त रहने लगा, उसको यह भान न हुआ कि यहाँ

रहते हुए कितने दिन बीत गए हैं ।।२३।।

सुबोधिनी – शश्वन्निरन्तरमुपचाराणां प्रतायमानत्वादनुरोधः । प्रवृद्धस्नेहयेति निरन्तरं साधनेषु हेतुः । तस्य क्रियान्तरस्मरणाभावायाह नाहर्गणान्स बुबुध इति । ऊषयेति । पूर्वस्त्रीणामप्यस्मरणं सर्वोत्तमैषेति च द्योतितम् । आग्हृतं वशीकृतं तदधीनं जातमिन्द्रियं यस्य ।।२३।।

व्याख्यार्थ—निरन्तर सेवाओं की विविध प्रतीति होने से वहाँ रुक गये, उषा का स्नेह बढ़ने लगा जिससे निरन्तर नवीन-नवीन साधन प्राप्त होते थे, इसी कारण से उसको दूसरी किसी क्रिया का स्मरण ही नहीं रहा,इसलिए कितने ही दिन यहाँ रहते हुवे हुए हैं,इसका भान तक न रहा, उषा ने इन्द्रियों का हरण कर लिया था. जिससे पूर्व की स्त्रियों को भी भूल गया, यों समझने लगा कि सर्वोत्तम यह ही है ।।२३।।

श्लोक—तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हृतव्रताम् ।
हेतुभिर्लक्षयांचक्रुरापीतां दुरवच्छदैः ।।२४।।
भटा आवेदयांचक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् ।
विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ।।२५।।

श्लोकार्थ— यादवों में वीर अनिरुद्ध से भुक्त हो जाने से नष्ट व्रतवाली उस उषा को पहरेदारों ने लक्षणों से पहचान लिया और वे आकर कहने लगी कि हे राजन् ! हम आपकी कन्या की चेष्टाओं से पहचान गए हैं कि इस कन्या ने कुल को कलङ्कित किया है ।।२४-२५।।

सुबोधिनी—ततः पुरुषोपभुक्ता गर्भकृतैर्लक्षणैः भोगकृतैरेव वा हृतं व्रतं यस्याः । कन्याया ब्रह्मचर्यं व्रतम्, तदा हृतव्रतां तां लक्षयांचक्रुः । **यदुवीरेणेति** निर्भरो भोग उक्तः । तेन स्पष्टानि चिह्नानि । आसमन्तात् पीतां पीतवर्णां, श्रमाद्गर्भेण वा स्त्रीणां तथात्वं भवति । **दुरवच्छदैरिति** । आच्छादयितुमशक्यैः धर्मैः रूपेण च ज्ञात्वा । स्वापराधशङ्कया भटा आवेदयांचक्रुः । तेषां रक्षकाणां कन्यान्तःपुराधिकारिणां वाक्यमाह **राजन्निति** । अयुक्तं कथं श्राव्यत इत्याशङ्क्य संबोधनेन पश्चान्महदनिष्टं सूचयन्ति । **विचेष्टितं** व्यभिचारम् । **लक्षयाम** इति प्रमाणं तर्कितमात्रम् । नन्वस्तु को दोष इति चेत्, तत्राह **कुलदूषणमिति** । यद्यपि पापादिना न तेषां भयम्,तथापि दैत्याः न व्यभिचारिणो भवन्तीति । तेषां कुले व्यभिचारो दूषणम्, यथा देवानामनृतम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—पुरुष से भुक्त होने के कारण से जिस का ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट हो गया है, जिसका ज्ञान गर्भ के ठहरने के लक्षणों से अथवा भोग होने से जो कन्या में भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उन लक्षणों से जाना जाता है, कि इस कन्या ने अपना ब्रह्मचर्य व्रत तोड दिया है, उस नष्ट ब्रह्मचर्य व्रत वाली को पहरेदारों ने पहचान लिया, 'यदुवीर' पद से यह बताया कि पूर्णतया भोग हुआ है, उससे

चिन्ह स्पष्ट देखने में आते है, जैसे कि वह पीतवर्ण वाली हो गयी थी, भोग के श्रम से अथवा गर्भ स्थिति से स्त्रियों का पीतवर्ण हो जाता है, जिन लक्षणों को छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे लक्षण देख पहरेदारों ने जाकर राजा को कह दिया, क्योंकि उनको भय लगा कि हम न बतावेगें तो दोषी बनेंगें कन्या के अन्तपुर के जो पहरेदार थे उन्होंने इस प्रकार कहा,हे राजन्! इतना सम्बोधन कर क्यों कहा, इसलिये वह सम्बोधन दिया कि अब तो यह कहना अनुचित दीखता है, किन्तु इससे बाद में बहुत अनिष्ट होने वाला है, क्योंकि यह विचेष्टित है अर्थात् व्यभिचार है 'लक्षयामः' पद से बताया कि यह अब केवल तर्क मात्र से प्रमाणित है । यों है तो कोनसा दोष है ? वहाँ कहते है कि 'कुलदूषणम्' यद्यपि पापादि से उनको भय नहीं है, तो भी दैत्य व्यभिचारी नहीं होते हैं, उनके कुल में व्यभिचार दूषण है, जैसे देवकुल में झूठ बोलना दूषण है ।।२४-२५।।

आभास—तर्हि कः समायातीति शङ्कायामाहुः अनपायिभिरिति ।

आभासार्थ—तो कौन आता है ? इस शङ्का का उत्तर 'अनपायिभिः श्लोक से देते है ।

श्लोक—अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।
कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्षाया न विद्महे ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! घर में गुप्त रहने वाली कन्या के घर का हम अखण्ड पहरा दे रहे हैं, जिससे उसको कोई देख भी न सके; कन्या को दूषण पुरुष द्वारा ही लगता है, किससे, कैसे लगा; वह हम नहीं जानते हैं? ।।२६।।

सुबोधिनी—स्वतो विवाहं व्यावर्तयति । कन्याया इति । अनेन तर्कितस्यार्थस्य युक्त्या बाधोऽप्युक्तः । अत एव दूषणं लक्षयामः,न विद्महे च । अन्यथानिर्धारे तेऽपि हन्तव्याः स्युः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—अपने आप ही उसने विवाह कर लिया है,इसका भी'.कन्यायाः' शब्द कह कर निषेध करते हैं; इससे तर्क से जिस विषय का ज्ञान हुवा है, उसका युक्ति से बोध भी कहा है, विवाह न होने से ही दूषण लगा है, यों हम समझते हैं, कैसे लगा है वह हम नहीं जानते है, यदि वह कह दे कि यों लगा है तो ये भी मारने के योग्य हो जावे ।।२६।।

आभास—ततो निर्धारार्थी स्वयं प्रवृत्त इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् निर्णय करने के लिये स्वयं राजा प्रवृत्त हुवा यह 'ततः' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।
त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद्यदूद्वहम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—बाणासुर कन्या का दूषण सुन दुःखी हुआ, तुरन्त ही कन्या के घर आया तो वहाँ अनिरुद्ध को देखा ।।२७।।

सुबोधिनी—प्रकर्षेण व्यथितः शस्त्रादिभ्योऽपि । ततस्त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तः प्रथमं यदूद्वहमेव दृष्टवान् । सर्वानेव यदून् उद्वहतीति महाशूरत्व यदुकुलोत्पन्नत्वं च ज्ञातवान् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—शस्त्र आदि से जैसे कोई व्यथित होता है उससे भी बाणासुर विशेष व्यथित हुआ, इस कारण से तुरन्त कन्या के घर पहुँच गया, वहां प्रथम अनिरुद्ध को देखा, उसको यदूद्वह कहने का भावार्थ यह है कि वह महान् शूरवीर है, और यदुकुल में उत्पन्न हुआ है ।।२७।।

आभास—तद्दृष्टमनिरुद्धं वर्णयति, निर्भयत्वाय, कामात्मजमिति ।

आभासार्थ—"कामात्मज" श्लोक से देखे हुए अनिरुद्ध के निर्भयपन का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं श्याम पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम् ।**
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ।।२८।।

श्लोकार्थ—कामदेव के पुत्र, लोक में सब से विशेष, सुन्दर, श्यामवर्ण, पीताम्बर धारी, कमलसम नेत्र, लम्बी भुजावाले, कुण्डल और केशों की कान्ति से तथा मन्द-हास्य से शोभायमान मुखवाले उसको देख अचम्भे में पड़ गया, ।।२८।।

सुबोधिनी—स्त्रीणामत्यन्तहितार्थाय कामात्मजत्वमुक्तम् । भुवनैकसुन्दरमिति सर्वेषामेव मोहकम् । श्यामं पिशङ्गाम्बरम् । पीताम्बरमिति भगवत्सारूप्येण भगवदीयत्वं ज्ञापितम् । अम्बुजेक्षणमिति दृष्ट्यैव सर्वाह्लादकत्वमुक्तम् । बृहद्भुजमिति । भोगयोग्यता वीरत्वं च । स्वभावतोऽप्ययं महानिति कुण्डलकुन्तलैर्मण्डितमाननं यस्येत्युक्तम् । स्मितावलोकेनेति मनोहरस्वभाव उक्तः । अनेन सर्वलक्षणसम्पूर्णोऽयं वर इत्युक्तम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—काम का पुत्र कहने से यह बताया है, स्त्रियों का अत्यन्त हितकारी है. भुवन में ऐसा कोई दूसरा सुन्दर नही, यों कहने से बताया है. कि सबों को मोह लेता है, श्यामस्वरूप, पीत-वस्त्र वाला कहने से भगवत्सारूप्य एवं भगवदीयत्व जताया है, कमल नयन कहने से सब को आनन्द देने-वाला कहा है, बड़ी भुजा कहने वाला कहने से, वीरपन तथा भोग योग्यता प्रकट की है, स्वभाव से ही महान् है क्योंकि कुण्डल और कुन्तलों से शोभित मुख वाला है, मन्दहास्य युक्त अवलोकन से बताया है कि स्वभाव से ही मनोहर है, यों कहने से सिद्ध किया है, कि यह वर सर्व लक्षणों से पूर्ण है ।।२८।

आभास—तस्य चौर्येण व्यभिचारसम्बन्धं निवारयति ।

आभासार्थ—इसने चोरी से (छिपकर) व्यभिचार किया है, इसका भी निषेध 'दीव्यन्त' श्लोक से करते है ।

श्लोक—दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाऽभितृष्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम् ।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥२९॥

श्लोकार्थ—बहुत तृष्णावाली प्यारी के साथ पासों से (चौपड़) खेलता हुआ, उसके अङ्ग सङ्ग से जिसके स्तनों की केसर लगी थी, ऐसी माला छाती पर धारण की हुई थी, वह माला बसन्त ऋतु के पुष्पों से बनी हुई थी, इस प्रकार उषा के पास ही बैठे हुए उसको देख अचम्भे में पड़ गया ॥२९॥

सुबोधिनी—यथा कृतविवाहौ स्त्रीपुरुषावक्षैः क्रीडतः, एवं प्रियया सह तदेकनिष्ठया अक्षैर्दीव्यन्तम् । सा च क्रीडा न क्रीडार्था, किन्तु रसपोषिकेत्याह अभितृष्णयेति । अभितः तृष्णा यस्याः सर्वतः सम्बन्ध वाञ्छतीति । अभितृप्तया वा सम्भोगनितान्ततृप्तया । अभिनृम्णया वा । नृम्णमिति प्रकाशनाम । वैदिकशब्दो नृम्णं 'नृम्णाय नृम्ण'मित्यत्र प्रसिद्धम् । प्रकाशमाने प्रकाशमानमित्यर्थः । अभितः प्रकाशमानया, न तु सङ्कोचेन केनचिदप्यंशेन स्थितया । तत्सम्बद्ध एव क्रीडतीति सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थमाह तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजमिति । तस्या अङ्गसङ्गेन यत् कुचकुङ्कुमं स्रजि संबद्धं तादृशीं स्रजं बाह्वोर्मध्ये दधानम् । अत्यन्तरसालसमये दृष्टवानिति । मधुयुक्ता या मल्लिका तयाश्रितां स्रजमिति तत्र भ्रमरादिसम्बन्धो निरूपितः । गन्धेन रूपेण च मल्लिका रसपोषिका । तस्यैवाग्रेऽप्यासीनं बाणेऽप्यागते तथैवासीनमित्यर्थः । स्वस्याग्र आसीनमिति वक्तव्ये तस्य तथा विचारो न जात इति शुक एवाह तस्याग्रेऽप्यासीनमिति । अत एव विस्मितः ।२९।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार विवाह किये हुए स्त्री पुरुष आपस में पासों से खेलते हैं वैसे उसमें ही निष्ठवाली प्रिया से पासों से खेलते हुए को देखा, वह क्रीडा के लिये नहीं थी, किन्तु रसका पोषण करने वाली थी, इसलिये कहा है कि 'अभितृष्णया', वह प्रिया उषा सर्व प्रकार सम्बन्ध चाहती है, अथवा 'अभितृप्तया' सम्भोग से अत्यन्त तृप्त हुई है, अथवा सर्व प्रकार प्रकाशमान अर्थात् बिना संकोच के आनन्दित हो, रस पोषार्थ निर्भय क्रीड़ा कर रही है । ऐसी उषा से मिल कर ही अनिरुद्ध क्रीड़ा कर रहे थे, सर्व सन्देह निवृत्ति के लिये कहते है कि उसके अङ्ग के सङ्ग से स्तनों का कुंकुम जिस माला में लगा हुआ है वैसी माला को भुजाओं के मध्य अर्थात् छाती पर धारण किये हुए अनिरुद्धजी थे, जिस समय उसको देखा वह समय अतिशय रस वाला था, बसन्त के पुष्पों से बनी हुई माला थी जिस पर भ्रमर गुंजार कर रहे थे वह माला सुगन्ध और रूप दोनों से रस का पोषण कर रही थी, बाणासुर के आने पर भी उसके आगे उसी प्रकार निर्भय बैठे रहे, उसके आने से इसको किसी प्रकार का विचार व भय न हुआ, इस कारण से बाणासुर अचम्भे में पड़ गया ।२९।

आभास—ततो युद्धार्थं तदीया असहमानाः प्रवृत्ता इत्याह स तं प्रविष्टमिति

आभासार्थ—पश्चात् उसके सेवक, सम्बन्धी इस कार्य को सहन न कर सके जिससे लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'स तं प्रविष्टं' श्लोक में कहते है।

श्लोक—स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिर्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ।।३०।।

श्लोकार्थ—शस्त्रधारी अनेक योद्धों से आवृत्त उस बाणासुर को घर में आया हुआ देख अनिरुद्ध भी उनको मार डालने की इच्छा से लोह का परिघ लेकर दण्डधर यमराज के समान उठ खड़ा हो गया ।।३०।।

सुबोधिनी—अन्तःप्रविष्टम्। तं श्वशुरम्। **आततायिभिर्वृतमिति** शस्त्रपाणिभिः सह समागच्छन्तम्। मारयिष्यतीति निश्चित्य मधुवंशोत्पन्नः अन्यस्यापि स्वसम्बन्धेन मदं जनयति, किं पुनः स्वस्य साक्षात्. अतो युद्धार्थमेकाकी प्रवृत्त इत्याह **उद्यम्य मौर्वं परिघमिति**। लोहबद्धं तृणविशेषबद्धं वा। मौर्वी काचित्तृणजातिर्लोहजातिर्वा। विशेषेणावस्थितः। सर्वथा निकटगमने प्राणान् ग्रहीष्यतीति ज्ञापनार्थमाह **यथान्तको दण्डधर इति**। **जिघांसया व्यवस्थित** इति स्वरूपेण भयानकत्वं निवारितम् ।।३०।।

व्याख्यार्थ— शस्त्र हाथ में लिये सेवकों सहित श्वसुर को भीतर आया हुआ देख, यह मारेगा यों निश्चय जानकर, मधुवंश में उत्पन्न होने से, अपने सम्बन्ध होने पर मद उत्पन्न कर देता है-वह अपना मद प्रकट करे इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि आप साक्षात् स्वयं मदरूप ही हैं, अतः युद्ध के लिये आप अकेले तैयार हो गये, कैसे तैयार हुवे जिसका वर्णन करते है, लोह से बना हुवा अथवा मौर्वी कोई तृण की जाति वा लोह की जाति होती है उससे बना हुआ 'परिघ' लेकर विशेष प्रकार से खड़े हो गये, निकट आने पर सर्वथा प्राण ग्रहण कर लेंगे यों जताने के लिए कहते हैं कि 'यथान्तको दण्डधर' जैसे दण्ड धारी यमराज मारने की इच्छा से खड़ा होता है; वैसे ही ये भी खड़े हो गये ।।३०।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **जिघृक्षयेति**।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'जिघृक्षया' श्लोक से कहते है।

श्लोक—जिघृक्षया तान्परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकरयूथपोऽहरत्।
ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ।।३१।।

श्लोकार्थ—पकड़ लेने की इच्छा से चारों ओर से आते हुए इन योद्धाओं को जैसे बड़ा शूकर कुत्तों को मारे, वैसे मारने लगे, मार खाते हुए उनके सिर फूट गए

ओर हाथ-पाँव आदि टूट गए, जिससे वे योद्धा घर से बाहर निकलकर भाग गए ।।३१।।

सुबोधिनी—धर्तव्य एवायम्, न तु हन्तव्य इति परितः समागताः । ततः स्वयमपि तान् परितः प्रसर्पतः अहरत् हृतवान् । दूरे नीतवान् । अहनद्वा । यथा दन्तैर्निकटे गत्वा शुनो हन्ति । नतु केनचित्पराभूतः । दूरादेव तेषां शब्दाः, न तु निकटे समागन्तुं शक्ताः । ततो यज्जातं तदाह **ते हन्यमाना** इति । नितरां भिन्ना मूर्धा ऊरुर्बाहवश्च येषामिति हननासहने हेतुः । अतः प्रथमं सङ्कीर्णत्वाद्भवनाद्विनिर्गताः, पुनस्तत्रापि निर्भिन्नावयवाः प्रदुद्रुवु ।।३१।।

व्याख्यार्थ— इसको पकड़ना ही चाहिए न कि मारना चाहिए, इस विचार से चारों ओर से पकड़ने के लिये आने लगे, पश्चात् आप भी चारों ओर से आते हुए उनको पकड़ कर दूर ले गये अथवा मारने लगे, जैसे सूकर निकट जाकर दाँतों से कुत्तों को मारते हैं आप तो किसी से पराभूत न हुवे, वे दूर से ही शब्द करते रहे निकट आने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी, पश्चात् जो हुआ उसको कहते हैं, वे मारे गये, मस्तक फूट गये और भुजा पाँव आदि भी टूट गये यह मरने के असहन में हेतु है अतः प्रथम सङ्कीर्ण होने से घर से निकले, फिर वह भी टूटे हुवे अवयव वाले हो भाग गये ।।३१।।

आभास—तेषु निवृत्तेषु अलौकिकप्रकारेण तं निगृहीतवानित्याह **तं नागपाशै**रिति ।

आभासार्थ— वे जब भाग गये तब अलौकिक प्रकार से इस को बांध लिया यह 'तं नागपाशै' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।**
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ।।३२।।

श्लोकार्थ—अपनी सेना को मारते हुए उस अनिरुद्ध को कुपित बलवान् बाणासुर ने नागपाशों से बाँध लिया, अनिरुद्ध को बाँधा हुआ सुनकर उषा शोक और दुःख से व्याकुल हो आँखों में से आँसू डालती हुई रुदन करने लगी ।।३२।।

सुबोधिनी—**बलिनन्दन** इति पितुर्वैराद्बन्धनं कृतवान् । नागपाशा अवतारविशेषे भगवतोऽपि तथात्वं सम्पादयन्ति, किमुत तदंशानाम् । ततोऽनिरुद्धाद्बली । दैवेन बलेन बन्धने हेत्वन्तरमप्याह **घ्नन्तं स्वसैन्य**मिति । यदि न मारयेत्, तदा जिज्ञासां कृत्वा पश्चात्तथा अयुक्तत्वं नास्तीति स्वतो महादेवं वा पृष्ट्वा विवाहवदनुमोदनं कुर्यात्। अतः स्वसैन्यं मारयतीति, जामाता भवतीति विनिश्चित्य, बन्धनमेव कृतवान् । तच्च बन्धन दूरे गतस्य । तदाह **ऊषा भृश**मिति । आश्चर्यं तस्य बन्धनं निशम्य भर्तृत्वे सन्देहाभावादश्रुकलाक्षी सती स्वाभिप्रायं ज्ञापयन्ती अरोदीत् । अनेन तस्य जारत्व परिहृतम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ— नागपाशों से क्यों बान्धा ? जिसका कारण यह था कि भगवान् ने इसके पिता बलि को नागपाशों से बान्धा था, अतः इसको बान्ध कर पिता के वैर का प्रतीकार लिया, इसलिए यहां 'बलिनन्दन' नाम दिया है, अलौकिक बल से बान्धने में दूसरा कारण देते हैं कि अपनी सेना को मारते देखा इसलिये भी बान्धा कि अवतार विशेष में जो नागपाश भगवान् को भी बान्धते हैं तो उसके अंशों को बान्धे इसमें कहना ही क्या है ? नागपाश से बान्धने के कारण अनिरुद्ध से बाणासुर

वलवान था, अनिरुद्ध को न मारते तब जानने की इच्छा करके बाद में वैसा करना (मारना) अनुचित नहीं है, इस प्रकार स्वयं आप'ही महादेव से पूछकर विवाह की तरह अनुमोदन करे, अतः यदि अपनी सेना को मारता है, तो भी जामाता है, यों निश्चय कर बन्धन ही किया मारा नहीं और वह बन्धन भी दूर गये हुए का, तब ऊषा आश्चर्य से उसका बन्धन सुनकर, भर्ता होने में कोई सन्देह नहीं हैं जिससे आंखों में आंसू आ जाने से अपना अभिप्रायः प्रकट करती हुई रोने लगी, इससे अनिरुद्ध जार है, यह शङ्का मिटादी ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे त्रयोदशोध्यायः ॥१३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५९वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

५८ वे व इस अध्यायों में वर्णित लीलाओं का निम्न पदों से अवगाहन करें

"प्रद्युम्न विवाह"

राग मारू—

स्याम बलराम को सदा गाऊँ ।
यहै मम जप यहै तप यहै नेम व्रत प्रेम मम यहै फल यहै पाऊँ ॥
स्याम बलराम प्रद्युम्न के ब्याह हित, रुक्म के देस जबहीं सिधाए ।
कलिंग कौ राउ अरु रुक्म बलभद्र कौ, कपट करि सार पासा खिलाए ॥
दाउ बलराम कौ देखि उन छल कियौ, रुक्म जित्यौ कहन लगे सारे ।
देवबानी भई जीति भई राम की, ताहु पै मूढ नाहीं सम्हारे ॥
रुक्म अरु कलिंग कौ राउ मारयौ प्रथम, बहुरि तिनके बहु सुभट मारे ।
सूर प्रभु स्याम बलराम सजीत भए, ब्याहि प्रद्युम्न निज पुर सिधारे ॥

"अनिरुद्ध विवाह"

राग मारू—

कुँवर तन स्याम मनु काम है दूसरौ, सुपन मैं देखि ऊषा लुभाई ।
चित्रलेखा सकल जगत के नृपति कौ, छिनक मैं मूर्ति तब लिखि दिखाई ॥
निरखि जदुबंस कौ हरस मन मैं भयौ, देखि अनिरुद्ध कौं मूरछाई ।
जाई द्वारावती सोवतै कुँवर कौं, चित्रलेखा तहाँ तुरत ल्याई ॥
बान दरवान सौं सुनत आयौ तहां, धाई अनिरुद्ध सौं जुद्ध माँड्यौ ।
सूर प्रभु ठ्यौ ज्यौं भयौ चाहै सु त्यौं, फाँसि करि कुँवर अनिरुद्ध बाँध्यौ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६०वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १४वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

"७वां अध्याय"

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर का युद्ध

कारिका—**चतुर्दशे तु विजयः शिवादीनां निरूप्यते ।**
निरोधो राजसः पूर्णो भविष्यति यतः फले ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस चौदहवें अध्याय में शिव आदि को हराने का निरूपण है, जिससे फल में राजस निरोध पूर्ण होगा ॥१॥

कारिका—**भक्तवत्सलता दृष्टा न निरोधः कचित्तथा ।**
अतोऽन्यनाशशङ्कापि भजनान्तरबाधिका ॥२॥

कारिकार्थ—भक्तों पर वात्सल्य भाव देखा, किन्तु इस प्रकार वहां भी निरोध देखने में नहीं आया है अर्थात् किसी अन्य देव के साथ विरोध कर निरोध करना

नहीं देखा है अतः अन्य देव से नाश हो जाने की शङ्का[1] भी भजन में बाध करने वाली है ॥२॥

कारिका— **न बाधते हरिः क्वापि विरुद्धोऽपि कथञ्चन ।**
अक्लिष्टत्वाय तु हरेरुपेक्षात्र निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—विरुद्ध होने पर भी भगवान् उसको किसी भी प्रकार से कभी भी दुःख नहीं देते हैं, हरि की उपेक्षा का वर्णन इसलिये है कि वह बिना क्लेश कर्म करे ॥३॥

कारिका—**प्रद्युम्नवत्तु तस्यापि नयनेन्वेषणं नहि ।**
अत्रापि नारदः प्रोक्तः प्रमाणं चिन्तनाधिके ॥४॥

कारिकार्थ—प्रद्युम्न की तरह अनिरुद्ध का अन्वेषण (तलाश) नहीं हुआ, किन्तु अधिक चिन्तन होने पर यहाँ भी नारदजी ने सूचना दी है ॥४॥

कारिका—**सर्वभावेन युद्धाय ज्वरोपाख्यानमुच्यते ।**
तामसस्तु ज्वरोऽत्रैव समुत्पन्नस्तथोत्तमः ॥५॥

कारिकार्थ—सम्पूर्ण रीति से युद्ध का वर्णन हो, इसलिये ज्वर का उपाख्यान कहा गया है, तामस ज्वर यहाँ ही उत्पन्न हुआ है, प्रसिद्ध ज्वर आगे हीं उत्पन्न था शेष वैष्णव उत्तम ज्वर भी यहाँ ही उत्पन्न हुआ है ॥५॥

कारिका—**शीतरोरौ पृथक् पूर्वमुत्पन्नौ मिलितौ नहि ।**
अतो हि भगवानत्र मेलयामास सर्वथा ॥६॥

कारिकार्थ—शीत और उष्ण ज्वर तो पूर्व ही पृथक् उत्पन्न हुवे हैं, साथ में नहीं हैं, यहाँ तो ज्वर शिव की कला रूप तामस हुवा है अतः भगवान् ने सर्व प्रकार से उनका मेल कराया है ॥६॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते बन्धनमुक्तम् । एवं शोणितपुरकथायां जातायां द्वारका-कथा वक्तव्येति हेतुत्वेन पूर्वोक्तां कथामाह **अपश्यतां चानिरुद्धमिति** ।

१—शङ्का अर्थात् भय, इस को मिटाने के लिये अन्य देवों पर विजय पाने की कथा का निरूपण किया है ।

आभासार्थ – पूर्व अध्याय के अन्त में अनिरुद्ध के बन्धन की कथा कही है, इस प्रकार शोणितपुर की कथा हो जाने पर अब द्वारका में क्या हुआ वह कहना चाहिये, इस कारण वहां जो प्रथम हुआ वह 'अपश्यतां' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत ।**
चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ।।१।।

श्लोकार्थ—हे भारत; वर्षा ऋतु के चार मास बीत गये, किन्तु अनिरुद्धजी का कहीं भी पता न लगा जिससे उसके बान्धव शोक कर रहे थे ।।१।।

सुबोधिनी—चकारेण गमनप्रकारज्ञानादयः सङ्गृहीताः । अनिरुद्धोऽपि चेन्निरुद्धः, तदा सर्वमन्यथा भविष्यतीति शोकः तद्बन्धूनाम्, चकारादन्येषाम् । भारतेति विश्वासार्थम् । तूष्णींभावे हेतुः **चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरिति** । वर्षायां युद्धादिगमनं बाधितमिति । **अनुशोचतामि**त्यन्तः तदेकपरत्वम् । अप्रसिद्धत्वाल्लौकिकप्रकारेण न प्रमाणं सिद्धमित्यन्वेषणेऽपि नोपलब्धिः ।।१।।

व्याख्यार्थ – 'च' पद से किस प्रकार अनिरुद्ध गया जिसका भी सङ्ग्रह किया है अर्थात् उसके जाने के प्रकार को जानना चाहा किन्तु जान नहीं सके, अनिरुद्ध का भी यदि निरोध हो जावे तो सब अन्यथा हो जायगा, इसलिये शोक उसके बान्धवों को तो हुआ किन्तु दूसरों को भी हुआ यह दूसरा 'च' पद देकर कहा है, भारत ! यह सम्बोधन विश्वासार्थ कहा है, जब पता न लगा तो चुप क्यों बैठ गये ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वर्षा ऋतु थी जिससे उस ऋतु में युद्धादि के लिये जाने का निषेध है अतः वर्षा के चार मास यों ही चले गये, किन्तु सर्व का उसमें प्रेम था इसलिये सब शोक कर रहे थे, किस प्रकार गया, इसकी प्रसिद्धि न होने से लौकिक प्रकार से उसका कोई प्रमाण (सबूत) न मिल सका, इसलिये ढूंढ़ने पर भी पता न लगा ।।१।।

आभास—अतो नारदवाक्याद्वैष्णवप्रीत्यर्थं कलहार्थमुद्यता इत्याह **नारदादिति** ।

आभासार्थ— अतः नारदजी के वाक्य से, शोकमग्न वैष्णवों को प्रसन्न करने के लिये, युद्ध के लिये प्रवृत्त हुऐ, 'नारदात्' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च ।**
प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः ।।२।।

श्लोकार्थ—अनिरुद्ध के कर्म तथा बान्धे जाने का समाचार नारदजी से सुन कर, कृष्ण है देव जिनका, ऐसे यादव शोणितपुर गये ।।२।।

सुबोधिनी—तद्वृत्तान्तं फलितं वा । वार्तां आदितः कथां बद्धस्य वार्ताम् । कर्म च । तत्कन्यया सह रमणम् । चकाराद्युद्धं च । ततः शोणितपुरं प्रययुः युद्धार्थम् । ननु महादेवाधिष्ठितं तत्, अतस्त-

द्विरोधसम्भवात् कथं गता यादवा इत्याशङ्क्याह कृष्णदेवता इति । कृष्ण एव देवता येषाम् । अनेन सामर्थ्यमपि द्योतितम् ॥२॥

व्याख्यार्थ— अनिरुद्ध का वृत्तान्त, और बन्धन, प्रारम्भ से कथा अर्थात् वहां ले जाना, बाणासुर की कन्या से रमण एवं युद्ध पश्चात् बन्धन आदि नारदजी से सुन कर, युद्ध के लिये शोणितपुर गये, वह शोणितपुर महादेव से रक्षित है उनसे विरोध होने का सम्भव होने से वहां यादव कैसे गये ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहा है कि 'कृष्ण देवता:' यादवों के रक्षक-देव श्रीकृष्ण हैं अतः उनमें किसी से भी लड़कर जीत जाने की सामर्थ्य है इसलिये निःशङ्क होके गये ॥२॥

आभास—लौकिकं सामर्थ्यं वक्तुं महतां नामानि गृह्णाति प्रद्युम्न इति ।

आभासार्थ— लौकिक सामर्थ्य भी है, यह कहने के लिये महत्पुरुषों के नाम 'प्रद्युम्नो' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः ।
नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥३॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम् ॥३॥
रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्वतर्षभाः ॥४॥

श्लोकार्थ—राम, कृष्ण के अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द' उपनन्द और भद्र आदि यादवों ने बारह अक्षौहिणी सेना ले बाणासुर के पुर को चारों ओर से घेर लिया ॥३-४॥

सुबोधिनी—**युयुधान:** सात्यकिः । गदो बलभ्राता । **साम्बः** भगवत्पुत्रः । एते महारथाश्चत्वारः मुख्या गणिताः अथ भिन्नप्रक्रमेण प्रकीर्णकान् गणयति अथेति । चकारात्तदीयाः सारणादयो भगवद्भ्रातरः । तेऽपि चत्वारो गणिताः । एवमष्टविधा आदिभूता येषां मुख्यानां गौणानां च । सर्व एव रामकृष्णानुवर्तिनः, नतूद्धताः, स्वतन्त्रा वा । उभयोर्ग्रहणं सम्पूर्णशक्त्यर्थम् । तेषां स्वाभाविकं बलं द्वादशाक्षौहिणीयुतम् । **समेता** मिलिताः अन्योन्यवैमनस्यं परित्यज्य सर्वतो दिशं रुरुधुः । **बाणनगरमिति** प्रसिद्धम् । **समन्तादिति**। न क्वचित्सेनाया विच्छेदः, । **सात्वतर्षभा** इति । न तेषां कुचिद्भयमिति सूचितम् ॥३॥४॥

व्याख्यार्थ— सात्यकि, बलभद्र का भ्राता गद भगवान् का पुत्र साम्ब और प्रद्युम्न ये चार मुख्य महारथी गिनाये 'अथ' पद से भिन्न प्रकम से सामान्य यादवों को गिनते हैं, और 'च' से भगवान् के सारण आदि भ्राताओं को कहा है वे भी चार सारण, नन्द उपनन्द और भद्र आदि गिने है, इस प्रकार मुख्य तथा गौणों में आठ प्रकार के आगेवान कहे हैं, सब ही रामकृष्ण की आज्ञानुसार चलने वाले थे कोई भी उद्धत वा स्वतन्त्र नहीं था, दोनों को इसलिये कहा जिससे सम्पूर्ण शक्ति का

ज्ञान हो जावे, उनकी स्वाभाविक बारह अक्षौहिणी सेना है वह सेना ले आये, सब परस्पर का वैमनस्य छोड़ एक होके, बाणासुर के नगर को सब तरफ से घेर लिया, कहीं भी सेना का विच्छेद न हुआ 'सात्वतर्षभा' पद से यह बताया है, यादवों में श्रेष्ठ हैं जिससे उनकी निर्भयता प्रकट की है ॥३-४॥

आभास—गतमात्राः पूर्वमेव तदपराधस्य सिद्धत्वात् परितो नाशयाञ्चक्रुरित्याह **भज्यमानेति** ।

आभासार्थ – बाणासुर ने जो अपराध किया, वह तो पहले ही सिद्ध हो चुका था इसलिये जाते ही चारों तरफ नाश करने लगे, जिसका वर्णन 'भज्यमान' श्लोक से कहते हैं –

श्लोक—**भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् ।**
प्रेक्षमाणो रुषाऽविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥५॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ पुर, बगीचे, गढ़, कोठे और दरवाजे टूटने लगे, यह देख बाणासुर कोपविष्ट हो उतनी ही सेना ले बाहर आया ॥५॥

सुबोधिनी—पुराणि मध्यखण्डाः, यथा महानगरेष्ववान्तरपुराणि भवन्ति । उद्यानमुपवनम् । प्राकारः आवरणम् । अट्टालाः सौधगृहोपरिभागाः । गोपुरं पुरद्वारम् । एतानि भज्यमानानि यस्य नगरस्य । भगवदीयैः कृत स्वनगरं तथाविधं दृष्ट्वा स्वप्रौढिख्यापनार्थं तुल्यमेव बलं गृहीत्वा अभिनिर्ययौ नगरात् । हीनबलत्वे अप्रतिष्ठा स्यात् । अधिकबलत्वे पलायनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थं तुल्यबल एव निर्गतः ॥५॥

व्याख्यार्थ— नगर के बीच वाले खण्डों[1] को, जैसे बड़े नगरों में बीच में छोटे छोटे पुर होते हैं, फुलवारियाँ, कोट, महलों में ऊपर बने हुए कोठे, नगर के द्वार, इनको भगवदीयों द्वारा टूटता हुआ देख अपनी वीरता दिखाने के लिये उतनी ही सेना लेकर नगर से बाहिर आया, जो सेना कम ले आवे मान कम हो जावे, अधिक सेना ले आवे तो, कदाचित् यादव भाग जावे, इसलिये समान सेना ले आया ॥५॥

आभास—ततो भ्रान्तः स इति मत्वा कृष्णस्तत्र रक्षकः । ततः कोऽपि न हतो भविष्यतीति स्वयमप्यत्र पार्ष्णिग्राहो जातः शिव इत्याह **बाणार्थमिति** ।

आभासार्थ – शङ्कर भगवान् ने समझ लिया कि श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं, उनको यह मार न सकेगा, इसलिये यह भूला है क्योंकि मूर्ख है अतः इसकी रक्षा के लिये स्वयं शिव शत्रु बन कर आये-जिसका वर्णन 'बाणार्थं' श्लोक में करते हैं ।

१—बड़े नगरों में छोटी छोटी बस्तियां होती हैं जैसे जोधपुर में सरदारपुरा आदि

श्लोक—बाणार्थं भगवान्रुद्रः ससुतः प्रमथैर्वृतः ।
आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥६॥

श्लोकार्थ—बाणासुर के लिये भगवान् शङ्करजी आप, अपने पुत्र तथा पार्षदों को संग ले नन्दी पर सवार हो राम कृष्ण से युद्ध करने के लिये आये ॥६॥

सुबोधिनी—मिथ्यात्वाय भगवत्त्वम् । रुद्र इति रुद्रोगान् द्रावयतीति । ससुतः कार्तिकेयसहितः । तेन सर्वेऽपि देवाः अत्र समागता इति बोद्धव्यम् । स हि चमूपतिः । प्रमथैर्वृत इति स्वभूतगणावृतत्वमुक्तम् । दैत्यत्वाद्बाणस्य दैत्याः सहजाः । अनेनैकत्र भगवान् संवत्सरात्मककालसहितः, अन्यत्र सर्व एवेति बहुत्वमप्रयोजकत्वं चोक्तम् । आरुह्य नन्दिवृषभमिति । स्वस्य वृद्धं बलीवर्दमारुह्य, नाट्यमिव कुर्वन्, रामकृष्णयोर्युयुधे, ताभ्यां सह । वस्तुतस्तयोरेवायम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—रुद्र का विशेषण 'भगवान्' पद देकर यह सिद्ध किया है कि यह रुद्र बनावटी नहीं है किन्तु साक्षात् स्वयं है. 'रुद्र' पद से यह बताया है कि रोगों को नाश करने वाले होने से यह रोग भी मिटा देंगे, अकेले नहीं आये है किन्तु अपने पुत्र कार्तिकेय के साथ आये हैं जिसका भावार्थ है कि सर्व देव भी आये हैं क्योंकि कार्तिकेय देवताओं के सेनापति हैं, जहां सेनापति लड़ने जावे वहां सेना तो अवश्य जायेगी ही, देवगण तो थे किन्तु महादेवजी, अपने भूतगणों से भी आवृत्त थे, बाण दैत्य है अतः वे भूत गण इसके सहज साथी हैं, इससे एक तरफ संवत्सरात्मक काल सहित भगवान् और दूसरी तरफ सब ही थे किन्तु यह बहुत कामका नहीं था, अपने बूढ़े नन्दी पर सवार हो मानो नाट्य करते हों यों राम कृष्ण के साथ युद्ध करने लगे, वास्तविक तो शिवजी उन दोनों (रामकृष्ण) के ही हैं ॥६॥

आभास—ततो युद्धं वर्णयति द्वाभ्याम् आसीदिति ।

आभासार्थ—'आसीत्' इन दो श्लोकों से युद्ध का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।
कृष्णशङ्करयो राजन्प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥७॥
कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।
साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥८॥

श्लोकार्थ—आपस में बड़ा तुमुल (भयंकर) युद्ध ऐसा होने लगा जिसको देख रोयें खड़े हो गये, हे महाराज ! श्रीकृष्ण और महादेवजी का, प्रद्युम्न और स्वामि-कार्त्तिक का, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों का बलरामजी के साथ, सांब और बाणासुर के पुत्र का, बाणासुर और सात्यकि का द्वन्द युद्ध होने लगा ॥७-८॥

सुबोधिनी—सुतुमुलमत्यधिकं निरन्तरशस्त्र-पातसहितम् । रोमहर्षणं श्रुते रोमाञ्चो भवतीति । विशेषत आह कृष्णशङ्करयोरिति । राजन्निति कदाचिन्महान्तोऽपि युद्धं कुर्वन्तीति । प्रद्युम्न-गुहयोः उभयोः पुत्रयोः । कुम्भाण्डकूपकर्णौ दैत्य-सिद्धौ । उभाभ्यां बलेन सह संयुगः । साम्बस्य बाणपुत्रेणे त । बाणपुत्र इत्येव प्रसिद्धिः, न तु नाम्नेति । बाणेन सह सात्यकिर्महारथः ॥७॥८॥

व्याख्यार्थ— यह युद्ध ऐसा भयङ्कर होने लगा जिसमें निरन्तर शस्त्रपात हो रहा था, सुनते ही रोंये खडे जो जाते है । किनका किनसे युद्ध हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि, श्रीकृष्ण और शङ्कर से, हे राजन् ! संबोधन से बताया है, कि कदाचित् महान् भी युद्ध करते हैं, प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के पुत्र और कार्तिकेय श्री शिव के पुत्र दोनों की लड़ाई होने लगी, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों की, बलभद्र के साथ, ये दैत्य और सिद्ध थे, बाण के पुत्र के साथ साम्ब की हुई, बाण के पुत्र का नाम प्रसिद्ध नहीं है केवल बाण पुत्र ही कहा जाता है, बाणासुर के साथ महारथी सात्यकि भिड़ गये ॥७-८॥

आभास—पञ्चद्वन्द्वान्युक्त्वा तस्य युद्धस्य सर्वोत्कर्षं वक्तुं ब्रह्मादीनामप्याश्चर्य-दर्शनमित्याह ब्रह्मादय इति ।

आभासार्थ— ऊपर के श्लोक में पांच जोड़ों की आपस में युद्ध हुआ कहकर अब वह ऐसा सर्वोत्कृष्ट युद्ध हुआ जिसको देख ब्रह्मादिकों को भी आश्चर्य होने लगा, जिसका वर्णन 'ब्रह्मादयः' श्लोक में करते हैं —

श्लोक—ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥९॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा आदि देवों के स्वामी, मुनिगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ और यक्ष विमानों में बैठ देखने के लिये आये ॥९॥

सुबोधिनी—देवानामीशा इन्द्रादयः । मुनय सनकादयः । सिद्धाः कपिलादयः । एते त्रिविधा उत्तमाः । सिद्धचारणाः गन्धर्वाप्सरसो यक्षाश्चेति त्रिविधा निकृष्टाः । एवं षड्विधेषु निरूपितेषु सर्व एव निरूपिता भवन्ति । विमानैरागमन युद्धा-भिनिवेशेन देहविस्मरणेऽपि अपातार्थम् ॥९॥

व्याख्यार्थ — देवों के स्वामी इन्द्र आदि, सनकादि मुनिगण कपिल आदि सिद्ध, ये तीन उत्तम, सिद्ध, चारण, गन्धर्व अप्साराएं और यक्ष ये निकृष्ट कोटि के हैं, इस प्रकार छ प्रकार के देवों के वर्णन से सर्वदा निरूपण किया है, अर्थात् सर्व प्रकार के देव विमानों से आये, जिसका कारण यह था कि युद्ध के देखने में लीन होने पर देह का भान भूल जाने से पतन न हो जावे ॥९॥

आभास—ततः प्रतिपक्षाणां खण्डनमाह शङ्करानुचरानिति ।

आभासार्थ— पश्चात् दोनों लड़ने वाले पक्षों का आपस में लड़ने का वर्णन 'शङ्करानुचरान्' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—शङ्करानुचरान् शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।
डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान् ॥१०॥
भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् ।
द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैर्भृशम् ॥११॥

श्लोकार्थ—महादेवी के अनुचर (नौकर), जो भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, बेताल, विनायक प्रेत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस हैं, उनको श्रीकृष्ण भगवान् ने शार्ङ्ग धनुष से छूटे, तीक्ष्ण अनी वाले बाणों से मार भगाया ।१०-११।

सुबोधिनी—देवास्तु तदीया एवेति शङ्करानुचरा एव ताडिताः । यैः पूर्वं प्रतिज्ञा कृता । शौरिरिति पितृनाम्ना निर्देशः । भूताः प्रमथाः गुह्यका इति त्रयः । डाकिनीरित्यादि त्रयः ॥१०॥ भूतमातृपिशाचाश्च कूष्माण्डा ब्रह्मराक्षसाः विनायकाश्चेति द्वादशधा भवन्ति । तान् सर्वानेव कालग्रस्तान् तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैरिति समर्थैर्हेतुभिः कृत्वा भृशं द्रावयामास । तत्प्रहारैर्व्यथिताः पलायनपरा जाताः ॥११॥

व्याख्यार्थ— देव तो अपने ही हैं, इसलिये शङ्कर के इन अनुचरों को ही मारने लगे, जिनने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, 'शोरि' नाम पिता के नाम से निर्देष करने के लिये दिया है, भूत, प्रमथ और गुह्यक ये तीन और डाकिनी आदि तीन, भूत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड, ब्रह्म राक्षस और विनायक, इसी तरह ये बारह प्रकार के महादेव के गण हैं, कालग्रस्त इन सबों को; शार्ङ्ग धनुष से फेंके हुए तीखी अनी वाले समर्थ बाणों से बहुत दूर भगाने लगे, क्योंकि, बाणों के प्रहारों से व्यथित हो गये थे इसलिये ये भागने लगे ॥१०-११॥

श्लोक—पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे ।
प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥१२॥

श्लोकार्थ—महादेवजी पिनाक धनुष में अस्त्रों को चढा कर श्रीकृष्ण पर फेंकने लगे, किन्तु शार्ङ्ग धनुषधारी भगवान् कृष्ण ने अचम्भे में न पड़ कर हर एक अस्त्र को अपने अस्त्रों से शान्त कर दिया ॥१२॥

सुबोधिनी—ततो भृत्येषु निवृत्तेषु पिनाकी पिनाकेन पृथग्विधान्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे भगवते प्रायुङ्क्त । आदौ तुल्यतानिरूपणार्थं धनुर्द्वयग्रहणम् । भगवान् पुनस्तस्य निराकरणमेव कृतवान्, न तु तं दूरीकृतवानित्याह प्रत्यस्त्रैरिति । लौकिकत्वाय शार्ङ्गपाणिरिति । अविस्मित इति जयेऽपि गर्वाभाव उक्तः । लौकिकाभिनिवेशद्योतकः ।११-१२।

व्याख्यार्थ— महादेवजी ने देखा मेरे भृत्य भाग गये तब स्वयं महादेव अपने पिनाक धनुष से अनेक प्रकार के अस्त्र भगवान् पर फेंकने लगे. आदि में समानता दिखाने के लिये दो धनुष का ग्रहण कहा है. भगवान् ने उसका निराकरण ही करा दिया है न कि उनको दूर किया. जिसका वर्णन करते है 'प्रत्यस्त्रैः' हरएक अस्त्र का अस्त्र से निराकरण किया है,युद्ध लौकिक होने से, शार्ङ्ग धनुष को भगवान् ने हस्त में धारण किया है, अस्त्र को निराकरण कर जय प्राप्त की, तो भी गर्व नहीं, इसलिये 'अविस्मितः' विशेषण दिया है, यह लौकिक आग्रह का द्योतक (प्रकट करने वाला) है ॥१२॥

आभास—विशेष आह **ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रमिति ।**

आभासार्थ— विशेष वर्णन **ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं'** श्लोक में करते हैं।

श्लोक— ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र वायव्यस्य च पार्वतम् ।
आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥

श्लोकार्थ— ब्रह्मास्त्र को ब्रह्मास्त्र से, वायव्य को पर्वतास्त्र से अग्निअस्त्र को वर्षा के अस्त्र से, पाशुपत अस्त्र को नारायण अस्त्र से शान्त कर दिया ॥१३॥

सुबोधिनी—चकारात्सर्व एव ब्रह्मास्त्रभेदा गृहीताः । नात्र पूर्वापरबलीयस्त्वम्, किन्त्वस्त्राभिज्ञानं बलं च प्रयोजकमिति लौकिकेऽपि भगवदुत्कर्ष एव । वायव्यस्य चेत्यत्रापि तथा । पार्वतास्त्रमेव तस्य निवारकम् . वायोर्वाय्वन्तरस्य निवारकत्वाभावात् । आग्नेयस्य च पार्जन्यम्. जलेनैवाग्नि. शाम्यतीति । षष्ठ्यन्तस्य शमनार्थं प्रथमान्तं प्रायुङ्क्तेति योजना । पृथग्विधानि प्रायुङ्क्तेत्यत एवानुवृत्तिः । नैजं नारायणास्त्रं पाशुपतस्य निराकरणार्थं प्रायुङ्क्तेति । दृष्ट एवान्धकारस्य निवारकः सूर्यः, तथैव सत्त्वं तमसः । चकारेणावान्तराण्यस्त्राण्यपि परिगृहीतानि ॥१३॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में प्रथम 'च' से सब प्रकार के ब्रह्मास्त्र कहे, यहाँ पहले से पीछे वाले बलवान् नहीं है, किन्तु अस्त्र का पूर्ण ज्ञान और बल ही इसमें प्रयोजक है, इसलिये लौकिक में भी भगवान् का उत्कर्ष दिखाया है, वायव्यास्त्र में भी उसके सर्व प्रकार समझने चाहिये, उसका पार्वतास्त्र ही निवारक है, वायु को दूसरी वायु नहीं मिटा सकती है— आग्नेय अस्त्र का जलास्त्र निवारक है क्योंकि अग्नि जल से ही शान्त होती है, षष्ठी विभक्ति के अन्त वाले अस्त्र के शमनार्थ प्रथमान्त अस्त्र को काम में लाया है, यों योजना करनी चाहिये, पृथक् पृथक् प्रकार के अस्त्र चलाये गये, इस कारण से ही अनुवृत्ति, अर्थात् योजना समझनी चाहिये, पाशुपत अस्त्र के निवारण करने के लिये अपना नारायणास्त्र काम में लाए, अन्धकार को मिटाने वाला सूर्य ही देखा गया है, वैसे तम का मिटाने वाला सतोगुण ही है 'च' से अन्य प्रकार के अस्त्र भी बीच में चलाय गये समझने चाहिये ॥१३॥

श्लोक—मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।
बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः ॥१४॥

श्लोकार्थ— जृम्भणास्त्र से महादेवजी को मोहित किया तब वे उबासी खाने लगे, उस समय भगवान् खड्ग,गदा और बाणों से बाणासुर की सेना का संहार करने लगे ।१४।

सुबोधिनी - ततः क्षीणास्त्रं जृम्भणास्त्रेण मोहयामास । जृम्भणाख्यो गणस्तृतीये निरूपितः। तदस्त्र तद्दैवत्यम् तुशब्दस्तु मोहाभावपक्षं व्यावर्तयति । तत्र हेतुः **गिरिशमिति** । महामोहः पर्वतेष्वेव प्रतिष्ठितः । **जृम्भितमिति** देवताया अनुभावो दर्शितः । अन्यथा अलौकिकप्रकारेण मोहसम्भावना स्यात् । ततो महादेवे मोहात्पराबृत्ते तूष्णींभूते शयाने प्रतिकूले वा । ततो बाणस्य पृतनां शौरिर्जघान । लौकिकप्रकारेण असिगदेषुभिः सर्वथा छेदकमारकाल्पच्छेदकैः ॥१४॥

व्याख्यार्थ – महादेव के अस्त्र जब समाप्त हो गये तब भगवान् ने जृम्भणास्त्र से महादेव को मोह में डाल दिया, अर्थात् मोहित बेहोश) कर दिया, जृम्भण नाम के गण का वर्णन तृतीय स्कन्ध में कहा है, जैसा अस्त्र वैसा उसका देवता है, 'तु' शब्द मोह के अभाव पक्ष को मिटाता है, अर्थात् इस जृम्भणास्त्र से महादेव को मोह हो सकता है, और हुआ है - जिसमें कारण कि महादेव पर्वतों का स्वामी है, इसलिये जब महा मोह पर्वतों में ही रहता है, तो, उनके ईश में मोह होना तो स्वयं सिद्ध है महादेव को उबासियाँ आने लगीं यह देवता का प्रभाव दिखाया है, नहीं तो अलौकिक प्रकार से मोह की संभावना होती, पश्चात् महादेव मोह से युद्ध से लौटते, न मौन धारण करते अथवा शयन करते यों युद्ध से विरुद्ध हो जाते, अनन्तर भगवान् बाण की सेना का नाश करने लगे, वह भी लौकिक प्रकार से जैसा कि तलवार, गदा और बाणों से काटना, मारना अल्प काटना आदि प्रकार से नाश किया ।।१४।।

आभास—तत एवं भगवद्युद्धमुक्त्वा, तथान्येषामाह स्कन्द इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के युद्ध का वर्णन कर पश्चात् दूसरों के युद्ध का वर्णन 'स्कन्द' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः ।
असृग्विमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद्रणात् ।।१५।।

श्लोकार्थ— स्वामीकार्तिक, प्रद्युम्न के बाण समूहों से पीड़ित होने से,उनके चारों ओर से शरीर से रक्त बहने लगा तब मयूर पर बैठ रण से भाग गये ।।१५।।

सुबोधिनी—बाणसमूहैरर्द्यमानः असृग्व्यमुञ्चन् मूर्छित इव शिखिना हेतुना कृत्वा रणादपाक्रमत । मयूरस्तं गृहीत्वा पलायित इत्यर्थः ।।१५।।

व्याख्यार्थ— बाण समूहों से पीड़ित, रक्त बहाते हुए मूर्च्छित जैसे मयूर द्वारा रण से भाग गये, (मयूर उनको लेकर भाग गया) ।।१५।।

आभास—बलभद्रस्तु विचाराभावात् मारितवानेवेत्याह **कुम्भाण्ड** इति ।

आभासार्थ— बलभद्रजी ने बिना विचार के मार ही डाला यह 'कुम्भाण्ड' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुशलार्दितौ ।**
दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मूशल से पीड़ित कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों गिर गये, नाथों के मरने पर उनकी सेनाएँ चारों ओर से भागने लगी ॥१६॥

सुबोधिनी—मुशलेन पीडितौ द्विधा विदीर्णौ सकृत्प्रहारेणैव अग्रमध्यभागभेदेन पेततुः भूमौ मृतावेव । तत्स्पष्टं ज्ञापयति दुद्रुवुस्तदनीकानीति । तयोरनीकानि । तौ हि सेनापती, हतौ नाथौ येषाम् । सर्वत इति केचिद्भ्रमाद्भगवत्कटकेऽपि गता इति वैक्लव्यं प्रदर्शितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— मूशल से पीड़ित वे दोनों एक ही प्रहार से, आगे और बीच के मध्य भाग में दो टुकड़े होते ही पृथ्वी पर गिरे, वहाँ ही मर गये वे दोनों सेनापति थे, इनके मरने से सेना अनाथ होने के कारण चारों ओर भागने लगी, कितने ही सैनिक भ्रम से भगवान् की सेना में चले गये यों उनकी व्याकुलता दिखाई ॥१६॥

आभास—एवं तयोर्वधे बाण स्वयमागत इत्याह **विशीर्यमाणमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार उन दोनों के मरने पर बाण स्वयं आया जिसका वर्णन 'विशीर्यमाणं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।**
कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना को तितर बितर हुई देख, बाणासुर अति क्रोधित हो, सात्यकि से न लड़ श्रीकृष्ण से लड़ने के लिये रथ में बैठ कर आया ॥१७॥

सुबोधिनी—सामान्ययुद्धं परित्यज्य विशेषतः कथं युद्धं करोतीति क्रोधः । ततः सात्यकिं हित्वैव कृष्णमभ्यद्रवत् । अत्र त्यागोऽहं त्वया सह युद्धं न करिष्यामीति । अन्यथा तेन प्रतिरुद्धः स्यात् । अलौकिकं प्रकारं प्रदर्शयिष्यामीति लौकिकपरित्यागः ॥१७॥

व्याख्यार्थ— बाणासुर को क्रोध इसलिये हुआ कि सामान्य प्रकार में युद्ध करना छोड़, विशेष प्रकार से करने लगे, इस कारण से सात्यकि का त्याग कर, कृष्ण पर आक्रमण करने लगा, त्याग का भावार्थ यह है, कि बाण ने सात्यकि को दिखा दिया, कि मैं तुझ से न लड़ूँगा, यदि लड़ूँ तो श्रीकृष्ण से लड़ने में रुकावट पड़ेगी, अतः अलौकिक प्रकार के दिखाने के लिये लौकिक प्रकार का त्याग किया । १७॥

आभास—तस्य तं प्रकारमाह धनूंष्याकृष्येति ।

आभासार्थ— उसका वह प्रकार 'धनूंष्याकृष्य' श्लोक में कहते है—

श्लोक—धनूंष्याकृष्य **युगपद्बाणः पञ्चशतानि वै ।**
एकैकस्मिन्शरौ द्वौ द्वौ संदधे रणदुर्मदः ॥१८॥

श्लोकार्थ—रण में मदोन्मत्त बाणासुर ने एक साथ पांच सौ धनुष खेंच, एक एक धनुष में दो दो तीर चढ़ाये ॥१८॥

सुबोधिनी—साधनानां बहुत्वेऽपि प्रयत्न एक एवेति तस्य शीघ्रता श्लाघ्यते । युगपद्धनूंष्याकृष्य, बाणासुरः पञ्चशतानि योजयित्वा । आकृष्य धनुःपरीक्षा कृत्वा । एककस्मिन् धनुषि एकेन हस्तेन द्वौ द्वौ शरौ संदधे । तदैकदा सहस्रं बाणा भवन्ति । ननु किमित्येवमेकदैव बहुसाधनप्रक्षपं करोतीत्याङ्कयाह **रणदुर्मद** इति । रणे दुष्टो मदो यस्येति । न हि मत्तः संबद्धं करोति । सुतरां दुष्टो मत्तः ॥१८॥

व्याख्यार्थ— साधनों के बहुत होते हुए भी प्रयत्न एक किया जिससे कार्य शीघ्र हो जाय, इसलिये उसकी प्रशंसा की जाती है, साथ में ही सब धनुषों कों खींचा, अर्थात् उनकी परीक्षा कर ली कि कार्य करने योग्य है वा नहीं ? जब समझा कि इनमें कोई भी त्रुटि नहीं तब बाणासुर एक ही काल में पाँचसौ धनुषों में दो दो बाण डाल कर धनुष तैयार किये, तब एक ही समय हजार बाण होते हैं, इस प्रकार एक ही समय में बहुत बाणों को फेंकने का यत्न क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि रण में उसका मद दुष्ट है, इसलिये मत्त पुरुष संबद्ध (उचित) कार्य नहीं करता है, कारण कि, मत्त स्वभाव से ही दुष्ट होता है ॥१८॥

आभास—अल्पेनैव निराकरणमाह तानि चिच्छेदेति ।

आभासार्थ— थोड़े से ही निराकरण किया, यह 'तानिचिच्छेद' श्लोक में कहते है—

श्लोक—**तानिचिच्छेद भगवान्धनूंषि युगपद्धरिः ।**
सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हरि भगवान् ने वे पांच सौ धनुष एक साथ ही काट डाले, और सारथी, रथ तथा घोड़ों को मार कर पश्चात् शङ्खनाद किया ॥१९॥

सुबोधिनी—युगपदेकबाणेन कमलिनीशतपत्रवेधवत् सर्वाण्येव धनूंषि छिन्नानि । ततः सारथिं रथमश्वांश्च । तेनैव न क्षतमात्रं बाणकार्यम्, किन्तु हत्वा । ततोऽपि युद्धादनिवृत्तं वीक्ष्य तदन्तःकरणे भयजननार्थं शङ्खमपूरयत् । 'यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते'ति । ततो भीतः पलायनेऽप्यशक्तः लज्जया रिपोः स्वपश्चाद्भागमदर्शयन् तथैव स्थितः ॥१९॥

व्याख्यार्थ— एक ही बाण से पांच सौ धनुषों की कमलिनी के एक सौ पत्रों के वींधने के समान छिन्न भिन्न कर दिये, पश्चात् सारथी, रथ और घोड़ों को नष्ट किया, बाण का कार्य इतना

हो नहीं था कि उनको क्षत करदे, किन्तु उनको पूर्ण रूप से मार डालना था अतः मार ही डाले, धनुष टूट जाने और सेना के नाश होते हुए भी युद्ध से निवृत्त न हुआ, तब उसके अन्तःकरण में भय पैदा करने के लिये शङ्ख की ध्वनि दानवों के दर्प का नाश करने वाली है, जैसा कि कहा है 'यस्यध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' डर जाने के कारण भागने में भी असमर्थ होने से, लज्जित हुआ जिससे पीठ न दिखाता हुआ वैसे ही स्थित हो गया ॥१९॥

श्लोक— तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।
पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥२०॥

श्लोकार्थ—उसकी माता 'कोटरा नाम वाली पुत्र की रक्षा के लिये बालों को खोल कर एवं नग्न होके श्रीकृष्ण के सामने खड़ी हो गई ॥२०॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य महादेवगणत्वे पार्वत्या अंशरूपा तस्य धर्मतो माता अभूत । गणमातृसमाना, धात्री मातृतः,धर्ममातृतश्च विशिष्टा सा । ततः सा क्वचित्पार्वतीत्युक्ता पर्वतोद्भवा तदंशभूता वा, नाम्ना कोटरा, मातृगणे पठिता, 'कोटरा रेवती ज्येष्ठे' त्यत्रापि प्रसिद्धा, नग्ना भूत्वा मुक्तशिरोरुहा पुत्रप्राणरिरक्षया कृष्णस्य पुरोऽवतस्थे । अनेन तस्य देवसाहाय्यं द्योतितम् । धर्मनिष्ठा चोक्ता । अनेन गणमातेयमिति निरूपणात् साक्षाज्जननी या अशना, या वा तत्पत्नी विन्ध्यावलिः, ते उभे निरस्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ— बाण महादेव का गण होने से उसकी कोटरा नाम वाली, मातृगण में प्रसिद्ध पार्वती की अंश रूपा धर्म से माता थी, गणमातृ समान होने से. धात्री माता से तथा धर्म माता से यह उत्तमा थी, इस कारण से इसको कहीं पार्वती भी कहा है, क्यों कि पर्वत से उत्पन्न होने से अथवा पर्वत से उत्पन्न पार्वती की अंशरूप होने से पार्वती कहा है, जहाँ मातृ गण का नाम कहे हैं, वहाँ 'कोटरा, रेवती ज्येष्टा' नाम प्रसिद्ध हैं, वह माता पुत्र की रक्षा करने की इच्छा से बालों को खोल कर नग्न हो कृष्ण के सामने खड़ी हो गई, यों करने का भावार्थ यह है कि इसको देव की सहायता है यह प्रकट किया, और इसकी धर्म में निष्ठा है यह भी प्रकाशित किया, यह गणमाता है यों निरूपण करने से, जो इसकी साक्षात् उत्पन्न करने वाली अशना थी वह और जो इसकी पत्नी विन्ध्यावलि थी वे दोनों ही निरस्त हो गई ॥२०॥

आभास—तस्यास्तथाकरणेन यज्जातं तदाह ततस्तिर्यङ्मुख इति ।

आभासार्थ— उसके यों करने से जो हुआ, वह 'ततस्तिर्यङ्मुखो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन्गदाग्रजः ।
बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत्पुरम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मुख फिरा लिया जिससे उसको नंगा न देख सके, इतने में बाणासुर, विरथ हो के और धनुष टूट जाने से अपने पुर में चला गया ॥२१॥

सुबोधिनी—'नग्नां स्त्रीं प्रकटस्तनी' मिति निषेधात् अनिरीक्षन् तिर्यङ्मुखो जातः । किञ्च । गदाग्रजः । ततो भगवति परावृत्ते बाणश्च पराङ्मुखो भूत्वा पुरमविशत् । पदातिः पलायितः । विरथश्छिन्नधन्वेति । चकारात्तदीयाः सर्व एव गताः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— शास्त्र में कहा है कि 'नग्नास्त्रीं प्रकटस्तनी' जिसके स्तन उत्पन्न हो गये हैं और जो नग्न हैं उस स्त्री को न देखे, अतः भगवान् ने मुख फेर लिया, और विशेष यह है कि आप गदाग्रज हैं, इसलिये भी यों करना योग्य है और पर स्त्री का नग्न दर्शन अमङ्गल करने वाला है, भगवान् के मुख फिरा देने पर बाण ने भी पराङ्मुख हो अपने पुर में प्रवेश किया पंदल सेना तो भाग गई आप भी विरथ हो गया और धनुष टूट गये,'च' पद से बताया है कि सब ही चले गये ॥२१॥

आभास—एवं प्रथयुद्धमुक्त्वा, द्वितीयराजसयुद्धार्थं भगवच्छङ्करयोः प्रस्तावनामाह विद्राविते भूतगण इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार पहला युद्ध कह कर अब द्वितीय राजस युद्ध के लियें भगवान् और महादेव के युद्ध को 'विद्राविते' श्लोक से प्रस्तावना करते हैं ।

श्लोक—**विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।**
अभ्यपद्यत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥२२॥

श्लोकार्थ—जब भूत गण भाग गये, तब तीन शिर तथा तीन पाँव वाला ज्वर, मानो दश दिशाओं को जलाता हुआ श्रीकृष्ण पर आया ॥२२॥

सुबोधिनी—यदैव भगवान् तिर्यङ्मुखः, तदैव स भावस्त्यक्त इति महादेवोऽपि मोहादुद्गतः । तत आत्मविस्मरणात् साधनसेवकभूतानां भूतानां पलायनं दृष्ट्वा स्वस्य वैदिकभावेन आध्यात्मिकरूपं रुद्रं ज्वरं उत्पादयामासेत्याह । 'रुद्रः पशुंश्छमायेते'त्यत्र रुद्रो ज्वर उक्तः । 'न तस्य रुद्रः पशून-भिमन्यत' इत्यत्रापि । वैदिकमार्गेणापि भगवता सह युद्धं कर्तव्यमिति प्रवृत्यर्थं **विद्राविते भूतगण** इति । अत एव ज्वरोत्पत्तिरत्र नोक्ता । रूपान्तरेण रुद्र एव ज्वर इति । तुशब्दोऽन्यं ज्वरं व्यावर्तयति, स त्रिशिराः त्रिपाच्च । दाशार्हं शरणागतरक्षाकर्मणि कोटराहितार्थे परावृत्तमभ्यपद्यत । स्वसामर्थ्यं प्रकटयन्निवाह **दहन्निव दिशो दशेति** ॥२२॥

व्याख्यार्थ— जब भगवान् ने मुख फेर लिया अर्थात् लड़ने का भाव त्याग दिया, तब महादेव मोह से जगा, महादेव ने आत्म विस्मरण होने से जब देखा कि जो भूत साधन और सेवक बने थे, वे भाग गये हैं, तब वंदिक भाव से अपने आध्यात्मिक रूप, रुद्र ज्वर को उत्पन्न किया, 'रुद्रः पशूंश्छमायेत' इस वाक्य में रुद्र को ज्वर कहा है और 'न तस्य रुद्र पशूनभिमन्यत' यहां रुद्र को ज्वर रूप कह कर ज्वर निवारकत्व कर्म कहा है वेदिक मार्ग से भी भगवान् के साथ युद्ध कर्तव्य है इसमें प्रवृत्ति कराने के लिये भूत गण भाग गया, यों कहा, इस कारण से ही ज्वर की उत्पत्ति यहां नहीं कही है, रूपान्तर से रुद्र ही ज्वर है 'तु' शब्द से दूसरे ज्वर का निषेध किया गया है, वह

तीन मस्तक वाला और तीन पांव वाला रुद्र ज्वर शरणागत की रक्षा करने में सबसे उत्तम भगवान् के पास आया, क्योंकि शरणागत कोटरा के कारण ही युद्ध से परावृत्त हुए थे, वह रुद्र ज्वर अपना सामर्थ्य दिखाने के लिये दश दिशाओं को मानो जलाता हुआ भगवान् के पास आया ।।२२।।

आभास—तदा भगवान् सर्वरूपोऽपि तन्निवारककर्मरूपं परित्यज्य, प्रकारान्तरेण पूर्वोत्पन्नं शीतं ज्वरं च योजयित्वा असृजदित्याह **अथ नारायणो देव** इति ।

आभासार्थ— तब सर्वरूप भी भगवान् ने उसके निवारक कर्म का त्याग कर दूसरे प्रकार से, पहले उत्पन्न हुवे शीत और रुद्र ज्वर दोनों को मिला कर, नारायण ज्वर उत्पन्न किया, जिसका वर्णन 'अथ नारायणो' दो श्लोकों से कहते है—

श्लोक—अथ नारायणो देवस्त दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् ।
माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ।।२३।।
अलब्ध्वाभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ।।२४।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने उस ज्वर को देख वैष्णव ज्वर को उससे लड़ने के लिये भेजा, तब माहेश्वर और वैष्णव दोनों परस्पर लड़ने लगे, जब वैष्णत ज्वर ने माहेश्वर को दबा लिया तब डरा हुआ माहेश्वर ज्वर दूसरी ठौर अपनी रक्षा होना न देख भगवान् की शरण आया और हाथ जोड़ भगवान् की स्तुति करने लगा ।।२३-२४।।

सुबोधिनी—तं ज्वररूपं महादेवं दृष्ट्वा । स ज्वरो रुद्रोऽष्टमूर्तेः शिवस्य कलारूपः 'यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः क्षुच्च । तृष्णा च । अस्तु क्वानाहुतिश्च । अशनाया च पिपासा च । सेदिश्चामतिश्च । एतास्ते अग्ने घोरास्तनुव' इति श्रुतेः । 'ताभिरमु गच्छ, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च, वयं द्विष्म' इति श्रुत्यर्थवशात् रुद्रेण प्रेरितास्तास्तनुव एकीभूताः ज्वरत्वमापन्ना भगवत्समीपं गताः । ततो नारायणो देवः पुरुषो यज्ञरूपः 'पुरुष ह वै नारायण' इति, तस्माद्देवतारूपमग्निं निःसारयितुं वृत्रादिवाग्नीषोमौ ज्वरं व्यसृजत् । श्रुतावपि 'इन्द्र आत्मनः शीतरोरावजनय' दित्यत्र आत्मा भगवानेव यज्ञः तत्प्रार्थनयैवासृजदिति । ततो ज्वरयोः परस्परं युद्धमासीदित्याह **माहेश्वरो वैष्णवश्चे**ति । उभौ प्रसिद्धौ । यथा विष्णुशिवौ पूर्वं युयुधाते, तथा तदीयावपीति । उभयोर्ज्वरत्वात् युद्धं समानम्, तथापि देवताया एव प्राबल्यात् माहेश्वरः वैष्णवेन बलेनार्दितः सम्यगाक्रन्दत्, रोदनं कृतवान् । रुद्रप्रकृतित्वात् तामस एव पीडितो रोदिति, नेतरौ । कृतेऽपि रोदने तत्पीडायामनिवृत्तायां वैष्णवाद्भीतः स्वमूलभूतं पूर्वमेव पराजितं मत्वा शरणार्थी सन् हृषीकेशमेव शरणं गतः । अङ्गीकारार्थं तुष्टाव । हृषीकेशमिति भगवता तथैव प्रेरितः । किञ्च । अन्यत्राभयमलब्ध्वा पूर्वबाधां स्मृत्वा, भीतश्च । अङ्गीकारार्थं शरणार्थित्वम् । अन्तःकरणस्य तत्परत्वमनेन निरूपितम् । **प्रयताञ्जलि**रिति कायिको व्यापारो नम्रत्वरूपः ।।२४।।

व्याख्यार्थ — ज्वर रूप इस महादेव को देख, वह ज्वर, अष्टमूर्ति महादेव का कला रूप रुद्र है, जिसमें निम्न प्रमाण देते हैं हे अग्नि[1] : तुम्हारे घोर रूप क्षुधा और तृष्णा, अस्तु क्वानाहुति, अशना और पिपासा, सेदि और अमति हैं, इन श्रुति प्रमाणों से वह रुद्र रूप ज्वर अष्ट मूर्त्ति महादेव का कला रूप शास्त्रों में कहा हैं । जो हमारा[2] द्वेष करते हैं, जिनसे हम द्वेष करते हैं उनके पास जाकर इस श्रुति के अनुसार रुद्र से प्रेरित वे आठ रूप इकट्ठे हो ज्वर रूप धारण कर भगवान् के समीप गये, 'पुरुषो ह वै नारायणः' इस श्रुति के अनुसार नारायण देव यज्ञ रूप पुरुष हैं, इस कारण से देवता रूप अग्नि और सोम को जैसे वृत्र से बाहर निकाल के प्रकट किया,वैसे ही रुद्रज्वर से देवता रूप अग्नि को बाहर निकालने के लिये अपने वैष्णव ज्वर को भेजा । इन्द्र ने भी आत्मा से 'शीत और रूद ज्वर' उत्पन्न किये, यह इन्द्र यज्ञ रूप आत्मा है, यह आत्मा यज्ञ भगवान् ही है, उसकी प्रार्थना से उत्पन्न किया, अनन्तर दोनों ज्वरों[2] का परस्पर युद्ध हुआ, दोनों प्रसिद्ध हैं जैसे विष्णु और शिव दोनों पहले लड़े, वैसे उनके सेवक भी दोनों ज्वर होने से युद्ध समानों में था, युद्ध भी समान था, किन्तु देवताओं के प्राबल्य से माहेश्वर ज्वर वैष्णव ज्वर से पिड़ित हुआ, माहेश्वर चिल्लाने लगा और रोने लगा, रोने क्यों लगा ? तो कहते हैं कि रुद्र प्रकृति होने से तामस प्रकृति वाला ही पीड़ित होने से रोता है, न कि दूसरा (सात्विक वा राजस), रोने से जब पीड़ा निवृत्त न हुई, वैष्णव ज्वर से डरा हुवा और अपने मूल भूत को प्रथम ही पराजित समझ, शरणार्थी होकर हृषीकेश भगवान् के शरण गया, शरण जाकर, अङ्गीकार करने के लिये ही स्तुति करने लगा । तामस ज्वर को एसी बुद्धि कैसे आई ? इस पर कहा कि, हृषीकेश होने से भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं जिससे आप प्रेरक हैं अतः आपने ही ऐसी प्रेरणा का है । दूसरे स्थान पर अभय न पाकर पहली बाधा को स्मरण कर, डरा, शरणार्थीपन भी अङ्गीकारार्थ ही किया है, इससे यह बताया है कि इसका अन्तःकरण भगवान् के परायण है, हाथ जोड़ने से अपनी काया से नम्रता प्रकट की है ॥२३-२४॥

आभास—तस्य स्तोत्रमाह **चतुर्भिः** ।

आभासार्थ — उनकी स्तुति चार श्लोकों से करते हैं —

कारिका—**स्वरूपबलकार्याणि जानतो मम सर्वथा ।**
रक्षा त्वयैव कर्तव्येत्येवंरूपा स्तुतिः कृता ॥१॥

कारिकार्थ—ज्वर ने इस प्रकार स्तुति की कि, आप के स्वरूप, बल और कार्यों को जानता हूँ, अतः मेरी **रक्षा सर्वथा** आपको ही करनी चाहिये अर्थात् मेरी रक्षा अन्य कोई नहीं कर सकता है ॥१

तत्र प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा नमस्यति ।

१— यास्ते–अग्ने घोरास्तनुवः, क्षुच्च तृष्णा च, अस्तु क्वानाहुतिश्च अशनाया च पिपासा च, सेदिश्चामतिश्च,

२— माहेश्वर और वैष्णव

उस स्तुति में प्रथम इस श्लोक में स्वरूप को कह कर नमन करेगा:—

श्लोक—ज्वर उवाच—**नमामि त्वानन्तशक्ति परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।**
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ।

श्लोकार्थ—ज्वर ने कहा कि आप अनन्त शक्ति, ब्रह्मा आदि देवों के स्वामी, सब की आत्मा, शुद्ध, चैतन्यघन जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण, केवल ज्ञान रूप, ब्रह्म के लिङ्ग और शान्त स्वरूप हैं ऐसे आपको मैं नमन करता हूँ ।।२५।।

सुबोधिनी—शास्त्रसिद्धं स्वरूपं परिदृश्यमानादन्यदिति शङ्कां व्यावर्तयितुं त्वामित्याह, इदमेव तदिति वक्तुम् । नन्वष्टमूर्तेर्ज्वरोऽयं सर्वसंहारकशक्तिरूपः, कथमन्यं स्तौतीत्याशङ्क्य, तस्य माहात्म्यमाह **अनन्तशक्तिमिति** । अनन्ताः शक्तयो यस्येति । ननु कालादेर्ब्रह्मादेर्वा साहाय्ये रक्षा भविष्यतीति किं शत्रोर्महतः शरणगमनेनेत्याशङ्क्याह **परेशमिति** । ब्रह्मादीनामपि नियन्ता । ननु तथापि मरणं वरम् न तु शत्रोः शरणगमनमित्याशङ्क्याह **सर्वात्मानमिति** । स हि सर्वेषामात्मा, न तु शत्रुः । अनेन वैषम्यनैर्घृण्ययो परिहृतयोरपि प्रकृतिसम्बन्धात् सर्वात्मनोऽप्यन्यथाभावमाशङ्क्य, तन्निराकरोति **केवलमिति** । न प्रकृत्यादिभिः सम्बद्धं जीववत् । ननु प्रादुर्भूतस्य काममयत्वात् कथं केवलत्वम्, तत्राह **ज्ञप्तिमात्रमिति** । चिद्रूप एवायं प्रकट इति स मन्यते । औडुलोमिवदात्मानं चैतन्यमात्रं मन्यते । साङ्ख्यवद्वा । उभयोर्वैलक्षण्यं जीवत्वब्रह्मत्वकृतम् । सर्वेषामेव दैत्यांशानां तत्पक्षपातिनां च चिन्मात्रपक्ष एव सम्मतः तत्र केषाञ्चिज्जगत्कर्तृत्वं न भगवतः, किन्तु प्रकृत्यादेरिति । तत्पक्षपातो भविष्यतीत्याशङ्क्य, निराकरोति **विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुमिति** । विश्वस्य सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुस्त्वमेव । केवलादेवाविकृतात् सर्वं जायत इति चिन्तामण्यादौ दृष्टमिति चिन्मात्रस्यापि हेतुत्वं मन्यते । श्रुतिसिद्धत्वात् । अत एवास्मिन्नर्थे अलौकिककर्तृत्वे प्रमाणमाह **यत्तदिति** । लोकवेदप्रसिद्धम् । यल्लोके प्रसिद्धम् तदेव वेदे प्रसिद्धमिति । ननु कृष्णं पुरस्कृत्य न लोकवेदयोः प्रसिद्धिः क्वचिद्दृष्टा, तथाभूतशब्दस्याश्रुतत्वात्, तत्राह **ब्रह्मेति** । ब्रह्म त्वमेव व्यवहार्यत्वात्कथमित्यशङ्क्याह **ब्रह्मलिङ्गमिति** । जगत्कर्तृत्वतन्निर्वाहकत्वसेतुत्वविधरणत्वादीनि तल्लिङ्गानि तान्येवात्र सन्तीति । अत्रापि प्रमाणमाह **प्रशान्तमिति** । प्रकर्षेण शान्तिः प्रत्यक्षसिद्धा, अन्यथा स्वतन्त्रः समर्थः किमस्मदादेः अपेक्षां कुर्यात् । प्रशान्तत्वेन च ब्रह्मधर्मा लक्ष्यन्ते, धर्मैश्च ब्रह्मत्वम् । ततो लोकवेदसमन्वयः, तेन जगत्कर्तृत्वमिति, गुणा उत्तरार्धे निरूपिताः, दोषाभावश्च पूर्वार्धे । एवं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वं निरूपितम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ— शास्त्रों से सिद्ध स्वरूप दूसरे प्रकार का है, यह जो दीख रहा है वह नहीं है, इस भ्रम को मिटाने के लिये 'त्वां' कहा है, जिसका भावार्थ है, कि यह जो आपका स्वरूप दीख रहा है यह ही आपका शास्त्र सिद्ध स्वरूप है, यह ज्वर, जब स्वयं शङ्कर का सर्व संहारक शक्तिरूप है तब अन्य की स्तुति कैसे कर रहा है ? जिसके उत्तर में कहता है, कि जिसकी स्तुति की जाती है उसका माहात्म्य अगाध है, क्योंकि वह अनन्त शक्ति है, यदि कहो, कि कोई आपदा पड़ेगी तो काल और ब्रह्मा आदि रक्षा में सहायता करेंगे, फिर क्यों महान् शत्रु की शरण लेते हो ? इसके उत्तर में कहता है कि 'परेशं' यह शत्रु ब्रह्मा आदि सर्व का नियामक है, यदि कहो कि शत्रु को

शरण लेने से मरण अच्छा है, यह सर्व की आत्मा है अतः शत्रु के शरण नहीं क्यों कि सब की आत्मा होने से यह शत्रु नहीं है, अतः इसमें 'वैषम्यनैर्घृण्य' दोष नहीं है। यदि कहो कि प्रकृति के सम्बन्ध से सर्वात्मा का भी अन्यथा भाव अर्थात् शत्रु मित्र भाव हो जाता है। जिसका उत्तर देता है कि 'केवलम्' यह जीव की भांति प्रकृति से संबद्ध नहीं हैं। यदि कहो कि, प्रकट होना काममय होने से ही होता है फिर केवलपन कैसे कहते हो ? जिसके उत्तर में कहता है 'ज्ञप्तिमात्रम्' यह ज्ञान रूप होते हुए ही प्रकट होते हैं, इस प्रकार कह कर क्या ? औडुलोमि वा साङ्ख्य की भांति चैतन्य मात्र मानते हो ? वा दोनों में जीवत्व और ब्रह्म व कृत वैलक्षण्य है यों मानते हो, सर्व दैत्यांश और उनके पक्षपातियों को चिन्मात्र पक्ष ही इच्छित है, उनमें किन्हीका मत है कि जगत् कर्तृत्व प्रकृति का है न कि भगवान् का है,इसका उत्तर देता है कि मैं उस पक्ष को नहीं मानता हूँ 'विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतु' मेरा मत तो शास्त्रानुसार यह है कि विश्व को सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतु भगवान् ही है न कि प्रकृति, और वह आप ही हैं, आप केवल अविकृत होते हुए ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं, जैसे चिन्तामणि कल्पवृक्ष आदि में देखा है, चिन्मात्र का हेतुत्व भी माना जाता है क्यों कि श्रुति सिद्ध है, अतएवं इस विषय में अलौकिक कर्तापन में प्रमाण कहते हैं 'यत् तत्' जो लोक में प्रसिद्ध हैं वह वेद में भी प्रसिद्ध है इसलिये आप लोक वेद दोनों में प्रसिद्ध हैं। कृष्ण को लेकर लोक वेद प्रसिद्धि कहीं भी देखने में नहीं आई हैं, ऐसा शब्द सुनने में नहीं आया, यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि, 'ब्रह्म लिङ्गम्' ब्रह्म के जो चिन्ह हैं वे सब आप में हैं जैसे कि जगत्कर्तृत्व, उसका निर्वाहकत्व, सेतुत्व, और आधारत्व आदि चिन्ह आप में ही हैं। जिसमें भी प्रमाण कहता है, 'प्रशान्तम्' आप में शान्ति प्रत्यक्ष है, यदि शान्ति न होवे तो स्वतन्त्र और समर्थ आप हमारे जैसों की अपेक्षा किस लिये करो, प्रशान्त होने से आप में ब्रह्म के धर्म दीखते हैं। धर्मों से ही ब्रह्मत्व का ज्ञान होता है, इस से ही लोक और वेद का समन्वय होता है। इससे जगत् कर्ता आदि गुणवान् आप हैं; गुण उत्तरार्ध में कहे हैं और पूर्वार्ध में दोषों का अभाव कहा हैं, इस प्रकार आपका निर्दोष पूर्ण गुण विग्रहत्व निरूपण किया है ॥२५॥

आभास—अनेन सर्वसामर्थ्यं भगवत एव सर्वत्र, नान्यस्येति सिद्धमपि प्रतीत्या कालादीनां बलं सिद्धमनूद्य, तन्निराकरणेनैव निराकरोति **कालो दैवमिति ।**

आभासार्थ— इससे यह सिद्ध किया है, कि सर्व प्रकार की सामर्थ्य सर्वत्र भगवान् की ही है, न किसी दूसरे की। यों सिद्ध होने पर भी प्रतीति से कालादि का बल सिद्ध देख कर, उसके निराकरण करने से ही निराकरण होता है, अतः 'कालो दैवं' श्लोक से इस प्रतीति का निराकरण करते हैं।

श्लोक—**कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।**
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥

श्लोकार्थ—काल, देव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, देह, प्राण, अहङ्कार, विकार, उनका समूह, बीज और कार्य का प्रवाह; यह सर्ग आपकी माया है, यह माया जिसमें नहीं है, उसकी शरण मैंने ली है ॥२६॥

सुबोधिनी—कार्यकारणरूपाणि वस्तुतस्त्वमेव, तेषु भिन्नतया प्रतीत्या यत्सामर्थ्यपरिकल्पनम्, तदपि त्वन्मायैषा। अन्यथा सर्वप्रमाणसिद्धे कथमन्यथाकल्पनं सम्भवति। तत्र कालः सर्वकारणमिति ज्योतिःशास्त्रादन्वयव्यतिरेकाभ्यां च निश्चीयते। तदवान्तरभेदा ग्रहाः कालावयवास्तदिन्द्रियरूपाः दैवमित्युच्यन्ते। ततो धर्मशास्त्रे तत्सर्वं कर्मवशादिति सामान्यविशेषकर्मभ्यां सर्वकार्योत्पत्तिमाहुः। साङ्ख्याः सर्वत्र बीजस्वभावमेव कारणमाहुः। अन्येऽपि स्वभाववादिनः। जडकार्यकारणवादिनामेवं सिद्धान्तः। जीवकार्यवादिनां मते जीवस्वभाव इति पाठ.। सर्वमेव जीवात्मकमिति। यद्यप्ययं ब्रह्मवादे निराकृतः, तथापि पूर्वपक्ष एव निराकृत इति सर्वजीवपक्षोऽपि युक्त एव। कालादयः पञ्च वा सामान्यकारणभूताः। कालो गुणक्षोभकः। दैवं प्राण्यदृष्टम्। कर्म जन्मनिमित्तं भगवद्रूपं सामान्यम्। जीवो भोक्ता। स्वभावः परिणामहेतुरिति। जीवः स्वभाव इति पाठे कार्यमाह द्रव्यमिति : द्रव्यं तत्त्वानि। तेषां कार्यं देहः क्षेत्रम्। तत्र प्राणः सर्वहेतुः। तस्यापि प्रभुरात्मा। अहङ्कारः पुराध्यक्षो विकारः। तत्सङ्घातश्च देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपः आद्यः। ततो बीजरोहप्रवाहः बीजभावापन्नानां तेषामेव रोहः। अङ्कुरोत्पत्तिः कार्यमिति यावत्। तस्य प्रवाहोऽनादिसिद्धः बीजाङ्कुरन्यायः। एतत्सर्वं भिन्नतया अखण्डात्वत्तः परिज्ञातम्। त्वन्मायैव एषा एवं बुद्धिरूपा भवति। तस्या व्याप्तिः कामवज्जीवेष्वेव। अतो मायावशात्त्वमेव तथा भवसीति निराकरणार्थमाह तन्निषेधमिति। तस्या निषेधो यत्रेति। अतः सर्वसमर्थं त्वामेव प्रपद्ये ॥२६॥

व्याख्यार्थ — वास्तविक तो कार्य और कारण रूप आप ही हैं उन (कार्य और कारण) में पृथक् प्रतीति से जो सामर्थ्य की कल्पना की जाती है, वह भी, आपकी यह माया ही है, नहीं तो, सर्व प्रमाण से सिद्ध में, अन्यथा कल्पना कैसे हो सकती है। ज्योतिः शास्त्र से एवं अन्वय व्यतिरेक से काल, सर्व का कारण है। यह निश्चय किया जाता है, उसके अवान्तर भेद ग्रह, काल के अवयव उसके इन्द्रिय रूप 'दैव' कहाता है, धर्म शास्त्र में, वह सर्व, कर्म के आधीन है, सामान्य तथा विशेष कर्मों से सर्व कार्यों की उत्पत्ति कहते हैं। साङ्ख्य सिद्धान्त वाले सर्वत्र बीज के स्वाभाव को ही कारण कहते हैं दूसरे स्वभाववादी भी यों मानते हैं, जड़ कार्य वादियों का इस प्रकार सिद्धान्त है, जीव कार्य वादियों के मत में जीव ही स्वभाव है, इसलिये सब ही जीव रूप हैं, यद्यपि इसका ब्रह्मवाद में निराकरण किया है, तो भी, पूर्व पक्ष में ही निराकरण किया गया है। इसलिये सर्वजीवात्मक है। यह पक्ष भी उचित ही है। अथवा काल आदि पांच सामान्य रूप से कारण होते हैं, जैसे कि 'काल' गुणों में क्षोभ उत्पन्न करता है 'दैव' प्राणी का अदृष्ट है, कर्म जन्म का निमित्त सामान्य भगवद्रूप है, जीव भोक्ता है 'स्वभाव' परिणाम का कारण है, 'जीवः स्वभावः' यों पाठ में कार्य कहते हैं, 'द्रव्य' तत्त्व है, उनका कार्य देह 'क्षेत्र' है, उसमें 'प्राण' सब का हेतु है उसका भी प्रभु 'आत्मा' है 'अहङ्कार' पुर का अध्यक्ष विकार है उसका सङ्घात देव, तिर्यङ् और मनुष्य आदि आद्य रूप हैं, पश्चात् बीज भाव को प्राप्त हुवे उनका ही उत्पत्ति प्रवाह है, अर्थात् अङ्कुर की उत्पत्ति ही कार्य है, बीजाङ्कुर न्याय की तरह उसका प्रवाह अनादि सिद्ध है, यह सर्व इसलिये अखण्ड होने से आप से उनका भिन्नता से ज्ञान होता है, ऐसी भिन्न ज्ञानवाली बुद्धि होती है, वह भी आपकी ही यह माया है। उसकी व्याप्ति काम की तरह जीवों में ही होती है, अतः माया के वश से आप ही वैसे होते हैं इसका निराकरण करने के लिये कहते है 'तन्निषेध प्रपद्ये' इस माया का जिस आप में निषेध अर्थात् अभाव है, वैसे आपके मैं शरण आया हूँ ॥२६॥

आभास—एवं स्वरूपसामर्थ्यं निरूप्य विशिष्टं कार्यमवतारकृतं निरूपयति नानाभावैरिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के स्वरूप तथा सामर्थ्य का निरूपण कर अब अवतार में किये हुए विशेष कार्यों का 'नानाभावैः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैर्देवान्साधून्लोकसेतून्बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान्हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥

श्लोकार्थ—लीला से ग्रहण किए हुए अनेक अवतारों से आप देवों की, साधुओं की और लोक में धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हैं और वेद आदि शास्त्रों से विरुद्ध मार्ग पर जाने वालों को तथा हिंसकों को नाश करते हैं, आपका यह प्राकट्य भूमि के भार को उतारने के लिए हुआ है ॥२७॥

सुबोधिनी—नटवत् मत्स्यादिभावान् बिभर्ति। आनन्दरूपः भावमात्रेण तथा जायत इति भावपदम् । तत्रापि नटवत् क्लेशेन न पदार्थसम्पादनम्, किन्त्विच्छयैव तथात्वमित्यर्थः । तेषां प्रयोजनमाह देवान् साधून् लोकसेतून्बिभर्षीति । त्रिविधा एते । साधवो भूमिष्ठाः । धर्ममर्यादाः सेतवः । ते भूमेरधः एव निरूपिताः, 'खाता हि वेदि'रिति । अनेन त्रिलोकस्थितभक्तरक्षार्थं अवतारा इत्युक्तं भवति। एवं गुणार्थतामुक्त्वा दोषाभावार्थतामाह हंस्युन्मार्गानिति । उन्मार्गा धर्ममार्गविरोधिनः । किञ्च । हिंसया वर्तमानान् मारणैकस्वभावान् । अत एतत्ते जन्म तादृशमुभयं कुर्वदपि विशेषकार्यमपि करोतीत्याह भारहाराय भूमेरिति । भारहारो भारहरणम् । अवतारान्तराणि भूम्युपजीवकानामेव दोषाभावं गुणं च सम्पादयन्ति । अयं त्ववतारः भूमेरेव भार दूरीकरोति । उपलक्षणमेतत् । परमानन्दं च सम्पादयति ॥२७॥

व्याख्यार्थ— नट की भांति आप मत्स्य आदि अवतार ग्रहण करते हैं, वैसे तो आप आनन्द रूप हैं। किन्तु भाव मात्र से वैसा रूप धारण करते हैं, यहां 'भावं' पद अवतार वाचक समझना चाहिये । यह अवतार ग्रहण करने का कार्य नट की तरह क्लेश से नहीं किन्तु इच्छा करते ही वह ग्रहण कर लेते हैं । इन अवतारों के ग्रहण करने का प्रयोजन बताते है, अवतार लेकर आप देव, साधु, और लोक धर्म को रक्षा करते है। ये तोन प्रकार के हैं, साधु पृथ्वी के ऊपर रहने वाले धर्म की मर्यादाएँ सेतु हैं,वे पृथ्वी के नीचे ही निरूपण किये हैं । खात ही वेदि है, यों कहने से यह बताया है कि तीनों लोकों में स्थित भक्तों की रक्षा के लिये भगवतावतार हैं । इस प्रकार गुणों का वर्णन कर दोषाभावर्थत्व कहते हैं, कि वेद विरुद्ध मार्ग पर चलने वालों को एवं हिंसक स्वभाव वालों का नाश करते हैं, यह आपका प्राकट्य, वैसे दोनों कामों को करते हुवे भी इससे विशेष कार्य भी करते हैं. वह कार्य ये हैं, पृथ्वी का भार उतारना हैं, दूसरे अवतार भूमि के आधार पर ही जीवन बिताने वालों के दोषों के अभाव को तथा गुणों को सम्पादन करते हैं, यह अवतार तो भूमि का ही भार दूर करता है, यह तो उपलक्षण मात्र है और परमानन्द को भो सम्पादन करते हैं ॥२७॥

आभास—एवं स्तुत्वा प्रार्थयितुं स्वदुःखं (वि)ज्ञापयति तप्तोऽहमिति ।

आभासार्थ - इस प्रकार स्तुति कर अपने दुःख को बताता है और उसकी निवृत्ति के लिये 'तप्तोऽहं श्लोक से प्रार्थना करता है ।

श्लोक—तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नासेवेरन्यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥

श्लोकार्थ—आपके इस दुःसह तेज से मैं तप्त हो गया हूँ, वह बाहर शीत और भीतर बहुत उग्र तेज वाला ज्वर है, इसका ताप तब तक देह धारियों को जलाता है, जब तक वे आशाओं का त्याग कर आपके चरणों की शरण नहीं आए है ॥२८॥

सुबोधिनी—ते दुःसहेन तेजसा क्रूरेण ज्वररूपेण 'नाग्नेर्हि ताप' इति न्यायमपि बाधित्वा संतप्तोऽहम् । 'न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम ।' ननु वैष्णवं तेजः न तापं जनयति, तत्राह शान्तोग्रेणेति । बहिः शान्तः, अन्तरुग्रः, अन्यथा वैष्णवतेजसो न दैत्यनिवारकत्वं स्यात् । यथा भगवान् 'चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोतम्', तथायं धर्मो ज्वरस्यापि ज्वरः, निवर्तकः प्रवर्तकश्चेति आनुगुण्यसिद्ध्यर्थं तापमेव निवारयितुं तथानिरूपणम् । अत्युल्बणमसह्यं क्रूरादपि क्रूरत्वात् । ननु ज्वरे निवृत्ते तापो निवर्तिष्यते, अतो ज्वर एव प्रार्थनीयः । न हि शस्त्रे प्रयुक्ते शस्त्रपीडितः शत्रुं प्रार्थयते इत्याशङ्क्य निराकरोति तावत्ताप इति । देहाभिमानिनां तावदेव तापः, यावत्तेऽङ्घ्रिमूलं नासेवेरन् । अनेनान्यथा तापनिवृत्तिर्न भवतीत्यप्युक्तम् । ज्ञानेपि तापनिवृत्तौ अङ्घ्रिमूलाश्रयणमेव हेतुरिति किमन्तर्गडुना ज्ञानेनेति भक्त्युत्कर्षोऽप्युक्तः । तर्ह्यसेवने को हेतुः, तत्राह आशानुबद्धा इति । भगवच्चरणारविन्दासेवायां न कामः प्रतिबन्धकः । किन्तु तच्छक्तिराशा । अतो नैराश्याभावात् सर्वत्र तत्तदाशापि न पूर्यत इति तयानुबद्धाः । यावदित्ययमनुबन्धः सान्त इति निरूपितम् । आशायोगेनाशा सत्या भवति, तदा पूर्णा सती निवर्तते, कामनिवृत्तौ तु निवर्तत एव, विषयदोषदर्शनादपि निवर्तते । तन्निवृत्तौ बहवः प्रकारा इति सम्भावनाया विद्यमानत्वात् यावदित्यवधिरुक्तः । अग्निरूपः काम इति । तेन तापस्तावदेवेत्यपि युक्तम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—आपके इस दुःसह क्रूर ज्वर रूप तेज से मैं अत्यन्त तप्त हूँ, अग्नि के ताप को भी इस ताप ने पराजित कर दिया है, मैं इसका अनुभव कर रहा हूँ, इसलिए यह कहना अयोग्य नहीं है, वैष्णव तेज (ज्वर) ताप को उत्पन्न नहीं करता है, इसके उत्तर में कहता है कि यह वैष्णव ज्वर बाहर शान्त है और भीतर उग्र है, यदि भीतर उग्र होता तो दैत्यों का निवारण न कर सके, जैसा भगवान् नेत्र के नेत्र हैं, श्रोत (कान) के श्रोत हैं, वैसे ही यह ज्वर का भी ज्वर है तथा ज्वर को प्रवृत्ति कराने वाला सहायक एवं उसको रोकने वाला भी है, इसलिए ताप की ही निवृत्ति के लिए प्रार्थना की है, न कि ज्वर के निवारण के लिए; क्योंकि ताप असह्य एवं क्रूर से भी क्रूर है, ज्वर की निवृत्ति होने पर ताप स्वतः मिट जाएगा, इससे ज्वर मिटने के लिए ही प्रार्थना करनी चाहिए, यदि कहो कि कोई भी शत्रु के शस्त्र से पीड़ित, शत्रु की प्रार्थना नहीं करता है तो इसका उत्तर यह

है कि देहाभिमानियों को तब तक ताप है, जब तक आपके चरण की शरण ग्रहण कर सेवा नहीं की है, यों कहने से यह बताया कि बिना इस उपाय के ताप की निवृत्ति नहीं होती है। ज्ञान से जो ताप निवृत्ति होती है, उसमें भी चरणाश्रय ही हेतु है, अतः निरर्थक ज्ञान का आश्रय लेना व्यर्थ है, यह कहने से ज्ञान से भक्ति का उत्कर्ष बताया है, तो उनकी सेवा क्यों नहीं करते? जिसका उत्तर है कि भगवत्सेवा में काम रुकावट नहीं है, किन्तु भगवान् की शक्ति 'आशा' रुकावट है, असन्तोष होने से आशाओं की पूर्ति नहीं होती है, इसलिए आशा पाश में बँधे ही रहते हैं। जब तक यह बन्धन है, यों कहकर यह बताया है कि यह बन्धन अन्त वाला है, आशा के बन्धन में जब तक फँसा हुआ है, तब तक आशा सत्य दीखती है, वह तब निवृत्त होती है, जब पूर्ण होती है। कामना की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो जाती है, विषय में दोष दीखने से भी निवृत्त हो जाती है, उसकी निवृत्ति के अनेक प्रकार हैं, ऐसी सम्भावना होने से जब तक यह अवधि कही है, काम अग्निरूप है, इससे ताप तब तक ही है, जब तक काम है, यों कहना उचित ही है ॥२८॥

आभास—एवं विज्ञापितो भगवान् गुह्यकर्ता मृत्योरयं ज्येष्ठः भ्रातेति तं स्थापयितुं नियमबन्धेन निरूपयति **त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहमिति।**

आभासार्थ—इस प्रकार गुह्य करने वाले भगवान् की प्रार्थना करने पर मृत्यु का यह जो बड़ा भाई है, उसको नियम बन्धन से स्थापित करने के लिए 'त्रिशिरस्ते' श्लोक से भगवान् वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं व्येतु ते मे ज्वराद्भयम्।**
यो नौ स्मरेत संवादं तस्य त्वन्न भवेद्भयम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे त्रिशिरा! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए मेरे ज्वर से अब कोई भय न होगा और जो अपना यह संवाद स्मरण करेगा, उसको तुझ से भय न होगा ॥२९॥

सुबोधिनी—त्रीणि शिरांसि यस्येति। वातपित्तश्लेष्माणः धातुवैषम्यात्। न कर्माणि। कालकर्मस्वभावा वा शिरांसि भवन्ति। अतः सम्बोधनेन तस्याक्षयत्वं निरूपितम्। अहं प्रसन्न इति। तव सर्वमेव कार्यं सेत्स्यतीत्युक्तम्। यदर्थं प्रार्थितः, तदाह **व्येतु ते मे ज्वराद्भयमिति।** परं यथा मदीयात्तव न भयम्, तथा त्वत्तोऽपि न मदीयानां भयमित्याशयेनाह **यो नौ स्मरेत संवादमिति।** नौ आवयोः स्तोत्रप्रसादरूपः संवादः। तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेदिति भगवदाज्ञा ॥२९॥

व्याख्यार्थ—जिस ज्वर के धातुओं की विषमता से वात, पित्त और कफ; ये तीन सिर हैं, न कि सात्त्विक आदि तीन प्रकार के कर्म अथवा काल, कर्म और स्वभाव; ये तीन सिर हैं, अतः सम्बोधन से मैं प्रसन्न हूँ यों कहकर उसका अक्षयत्व निरूपण किया है, तेरे वे सब कार्य सिद्ध होंगे, जिनके

लिए प्रार्थना की है, वे बताते हैं, मेरे ज्वर में तुझे कोई भय न होगा, परन्तु जैसे मेरे ज्वर से तुझे भय नहीं, वैसे ही तुझसे भी मेरे ज्वर को भय नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं, कि यह दोनों का स्तोत्र प्रसाद रूप संवाद जो स्मरण करेगा उसको तुझ से भय न होगा यह भगवान् की आज्ञा है ॥२९॥

आभास—एवं कृतार्थः सन् भगवदाज्ञां प्राप्य व्याजेनात्र कस्यापि भयं न कर्तव्यमिति ज्ञापितः स्वस्थानमेव जगाम, मृत्योः समीपम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार कृतार्थ हो, भगवान् की आज्ञा को प्राप्त कर, कपट वा बहाने से किसी को भी भय न दिखाना यों जताया हुआ अपने ही स्थान पर गया, मृत्यु के समीप गया ।

श्लोक—**इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।**
बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यञ्जनार्दनम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा वह सुन अच्युत परमात्मा को प्रणाम कर माहेश्वर ज्वर रवाना हो गया और बाण तो रथ में चढ़कर जनार्दन से युद्ध करने के लिए आया ॥३०॥

सुबोधिनी—इत्युक्त इति । अच्युतत्वाद्वाक्यमपि तथा । ततो माहेश्वरो ज्वरो गतः । तस्मिन् गते महादेवाल्लब्धवरः दैवं बलमाश्रित्य युद्धार्थमागत इत्याह बाणस्त्विति । तुशब्दः पूर्वागमनाद्विशेषमाह । बाणोऽपि बाणवज्जनार्दन इति जनार्दनं योद्धुं योधयितुम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा, भगवान् शब्द आप अच्युत हैं, इसलिए आपके वचन भी अच्युत हैं । वे सुनने के पश्चात् माहेश्वर ज्वर गया, उसके जाने के अनन्तर, महादेव से प्राप्त वर वाला बाण आगे से भी विशेष उत्साह से भगवान् से लड़ने के लिये आया, क्योंकि बाण ने समझा कि जनार्दन मेरे समान हैं ॥३०॥

आभास—ततः प्रत्येकं बाहुषु नानाशस्त्रा(स्त्रा)णि स्थापयित्वा युयुध इत्याह ततो बाहुसहस्रेणेति ।

आभासार्थ—पश्चात् बाण हरेक भुजा में अनेक शस्त्र लेकर लड़ने लगा, यह 'ततो बाहु सहस्रेण' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।**
मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! अनन्तर अनेक आयुधों को लेकर वह बाणासुर अत्यन्त क्रोधित हो हजार भुजाओं से भगवान् पर बाणों को फैंकने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—नानायुधानि बिभर्तीति । ततश्चक्रायुधं प्रति नानायुधानि मुमोच । ननु भगवता पूर्वमस्य प्राणरक्षा कृतेति कथं शस्त्राणि मुमोच, तत्राह **परमक्रुद्ध** इति । मुमोच, परं वस्तुतस्त्वक्रुद्धः । अन्यथा परमत्वं क्रोधविशेषणं न सम्भवति । समासे वा असामर्थ्यं स्यात् । **चक्रायुधमित्यनेन** चक्रेण सर्वनिराकरणं द्योतितम् । एकतः सहस्रमायुधानि, एकतः सुदर्शनमिति ।।३१।।

व्याख्यार्थ—अनेक आयुधों को धारण करता है, इसके पश्चात् चक्रधारी भगवान् पर अनेक शस्त्र फेंकने लगा, यदि कहो कि भगवान् ने तो पहले इसको रक्षा की है, यह अब भगवान् पर कैसे शस्त्र फेंकता है । इसके उत्तर में कहा है कि परमक्रुद्धः' बहुत क्रोध आने से फेंकने लगा, वास्तव में तो उसको क्रोध था ही नहीं इसलिये कहा है 'परमक्रुद्धो' परम-अक्रुद्धः, किन्तु क्रोधित नहीं था, अन्यथा परमत्व क्रोध का विशेषण हो नहीं सकता अथवा समास में असामर्थ्य है 'चक्रायुधं' इस नाम देने का भावार्थ यह है कि इस चक्र से सब का निराकरण प्रकट किया है, एक तरफ सहस्र आयुध और एक तरफ सुदर्शन चक्र है ।।३१।।

आभास—समतां प्राप्तां परिहरति **तस्यास्यत** इति ।

आभासार्थ—प्राप्त समता का परिहार करता है, जिसका वर्णन 'तस्यास्यतः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना ।
चिच्छेद भगवान्बाहून् शाखा इव वनस्पतेः ।।३२।।

श्लोकार्थ—बार-बार अस्त्र चलाने वाले बाणासुर की भुजाओं को भगवान् ने तीखी धार वाले अपने चक्र से वृक्ष की शाखाओं की तरह तोड़ डाला ।।३२।।

सुबोधिनी—अस्त्राण्यस्यतः क्षिपतः । लौकिकप्रकारार्थं क्षुरनेमिना चक्रेण चिच्छेद दशशतानि बाहून् । मध्ये शिरश्छेदनं प्राप्तं निराकरोति शाखा इवेति । वनस्पतेः । तेन महानिति न शिरश्छिन्नम्, किन्तु तस्य प्रसरणनिराकरणार्थं शाखा इव बाहूनेव चिच्छेद । बाहव एव वरप्राप्ता इति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—अस्त्रों को फेंकते हुए उसके हजार भुजाओं को तीखी धार वाले चक्र से तोड़ डाला, इस प्रकार तोड़ने का कारण लौकिक प्रकार दिखाना है, बीच में आये हुए शिर को नहीं काटा, जिसका दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पेड़ की डालियां ही काटी जाती है, वैसे यहाँ भुजाओं को काटा, इसलिये महान् होने से शिर नहीं काटा, किन्तु पेड़ के प्रसार को रोकने के लिये डालियां काटी जाती हैं वैसे इसकी भुजाओं के कटने से इसकी वृद्धि भी रुक गई, भुजाएँ ही वर-प्राप्त थीं ।।३२।।

आभास—ततः स्ववरदत्तबाहुच्छेदने महादेवः सर्वोपायपरिभ्रष्टः भगवन्तं स्तोतुं प्रवृत्त इत्याह **बाहुष्विति** ।

आभासार्थ - पश्चात् अपने वर से दी हुई भुजाओं के छेदन होने से सर्व उपायों से परिभ्रष्ट महादेव, भगवान् की स्तुति करने लगे, वह 'बाहुषु' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान्भवः ।
भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३३॥

श्लोकार्थ—बाणासुर की भुजाओं के टूटने पर भक्तों पर दया करने वाले भगवान् महादेवजी निकट जाकर चक्रायुध श्रीकृष्ण को कहने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—केवलं जये रुद्रादीनामभजनं नायाति । जयस्यानियतत्वात् । तद्दत्तवरच्छेदेऽपि तथा । स चेत् स्वतः स्वसामर्थ्याभावं निश्चित्य, भगवन्तमेव प्रार्थयेत्, तदा सर्वथा अन्ये सेवकाः, भगवानेव स्वामीति निरोधः फलति, नान्यथेति विज्ञापयितुं रुद्रस्तुतिः । भगवानित्युपायपरिज्ञानार्थमुक्तम् । अन्यार्थी स्वस्य लब्धप्रतिष्ठस्य हीनत्वावलम्बने हेतुमाह भक्तानुकम्पीति । उपव्रज्य निकटे समागत्य । असम्मतिश्चेत्, अन्ततो मां मारयतु, न तु भक्तमिति ज्ञापयितुम् । अनेन भक्तहितार्थमेव पूर्वं लौकिकवैदिकप्रकारेण साहाय्यं कृतमिति ज्ञापितम् । तदभावे स्तोत्रेणापि तथा करोतीति । चक्रायुधमिति । छिन्नेष्वपि बाहुषु चक्रं गृहीत्वैव तिष्ठतीति शिरश्छेदमपि कुर्यात् । अतः अभाषत ॥३३॥

व्याख्यार्थ—युद्ध में केवल जय हो जाने से रुद्र आदि को भगवान् के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जय व पराजय का कोई नियम नहीं है उनके दिये हुए वर के असफल हो जाने पर भी वैसा ही है, अर्थात् इससे भी स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तब तक सब को नहीं होता है, जब तक यह स्वयं अपनी सामर्थ्य का अभाव देख भगवान् को ही प्रार्थना करे, तब अन्य सेवक यों समझेंगे कि वास्तविक स्वामी भगवान् ही हैं, जिससे निरोध फलीभूत होगा, अन्य प्रकार से नहीं, इसलिये महादेव प्रार्थना रूप स्तुति करते है, महादेवजी को इस प्रकार के उपाय का ज्ञान होने का कारण यह है कि आप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न हैं अतः आपको भगवान् विशेषण दिया है, आप लब्ध प्रतिष्ठ होते हुए भी दूसरों के हितार्थ हीनता का अवलम्बन करते हैं, क्योंकि आप भक्तों पर दया करने वाले है, अतः प्रभु के निकट आकर प्रार्थना करने लगे, यदि प्रभु की यों करने में सम्मति न हो, तो मुझे मार डाले किन्तु मेरे भक्त को न मारें, इसलिये निकट आये हैं, इससे यह जताया कि पहले लौकिक और वैदिक प्रकार से भक्त हित के लिये ही सहायता की, उनसे कार्य नहीं होने पर, स्तुति से भी सहायता करते हैं, भुजाओं के छिन्न भिन्न होने के अनन्तर भी चक्र को धारण कर खड़े थे, इससे शिर का छेदन भी कर दें ऐसी अवस्था देख महादेव स्तुति करने लगे ॥३३॥

आभास—तस्य स्तोत्रमाह द्वादशभिः । संवत्सरात्मककालातिक्रमार्थम् । त्वं हि ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—'त्वं हि ब्रह्म' से बारह श्लोकों में महादेव ने जो स्तुति की उसका वर्णन करते हैं बारह श्लोकों में स्तुति करने का कारण है कि इससे संवत्सरात्मक काल का अतिक्रमण होगा।

श्लोक—रुद्र उवाच–त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्माणि वाङ्मये ।
य पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—महादेवजी कहते हैं कि वेद में गुप्त रूप से स्थित आप परम प्रकाश स्वरूप पर ब्रह्म हैं, ऐसे आपके आकाश के समान निरञ्जन रूप को शुद्ध अन्तःकरण वाली वांगमय आत्माएँ देखती हैं ॥३४॥

कारिका—यादृशो भगवान् कृष्णः स योगेनैव गम्यते ।
दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादो हि दृश्यते ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार के हैं, वह जो योग से ही जान सकते हैं, जो प्रतीत स्वरूप हो रहा है वह तो शास्त्र विरुद्ध दीखता है अर्थात् मनुष्यत्व से जो भान होता है, वह भान शास्त्र विरुद्ध है ॥१॥

कारिका—इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथाङ्गता ।
अङ्गान्यपि हरेर्लोके भिन्नानीति विदुर्यतः ॥२॥

कारिकार्थ—यह जताने के लिए भूमि आदि को अङ्ग कहा गया है, लोक में हरि के अङ्ग भी भिन्न-२ हैं, यों जानते हैं ॥२॥

कारिका—अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति स्तुतिः ।
निर्दोषपूर्णगुणकोऽप्यस्मदादिभिरीयते ॥३॥

कारिकार्थ—भगवान् हमारे लिए[1] ही पधारे हैं, इसलिए स्तुति है, हम से लेकर सब भी अधिकारानुसार भगवान् को निर्दोष और पूर्ण गुणों वाला कहते हैं ॥३॥

कारिका—यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान्परः ।
अन्तरायस्त्वदज्ञाने यदासीत्तस्य च स्वयम् ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् तो जैसा श्लोकों में वर्णित है, वैसे हैं; किन्तु हम अपने

१- महादेव वेद रूप हैं और वैदिक धर्म पालन के लिए 'च' से खल निग्रह के लिए।

अधिकार के अनुसार वर्णन करते हैं, जिसका कारण अज्ञान है, उस अज्ञान के कारण वर्णन करने में रुकावट होती थी, जिसको मिटाकर ज्ञान देकर प्रबुद्धि के प्रकाशक साक्षात् उदार भगवान् ही हैं, अतः वे अपना हित करने वाले हैं ।।४।।

कारिका—**प्रकाशको महान् साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत् ।**
कृष्णेच्छयैव सर्वेषामेव बुद्धिविपर्ययः ।।५।।
अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धा विवेकिनः ।।५½।।

कारिकार्थ—कृष्ण की इच्छा से ही सबकी बुद्धि विपरीत हो गई है, नहीं तो विवेक वाले, धन, पुत्र आदि में मोहित कैसे होवें ? ।।५½।।

कारिका—**तस्मात्पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरौ परे ।।६।।**
तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजीवास्तु ते मताः ।
अनेन भजन प्रोक्तं बाणोऽपि भजते यतः ।।७।।

कारिकार्थ—इसी से पहले किए हुए अपराधों की क्षमा भगवान् में नित्य है, अतः वे अपराधों को क्षमा करते हैं, तो भी जो भगवान् की सेवा नहीं करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ समझना चाहिए, इससे कहा है कि भजन करना चाहिए; क्योंकि बाण भी भजन करता है ।।६-७।।

कारिका—**प्राकृताभजने हेतुर्दुरदृष्टं निरूप्यते ।**
वयं तु लोकरीत्यैव भवदुत्कर्षहेतवे ।।८।।
युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः ।
प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते ।।९।।
तादृशस्य हितं यस्मात् कर्तव्यमिति सार्थना ।।१०।।

कारिकार्थ—बुरे अदृष्ट के कारण जीव भजन नहीं करता है, हम तो लोक रीति से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए युद्ध करने आए हैं, लेकिन हम भगवान् के भक्त हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है । प्रकट प्रकार से शरणागति कही गई है, जिस शरणागति से प्रपन्न का हित होता है, यों इसकी उपयोगिता है ।।८-९-१०।।

सुबोधिनी – आदौ लोकदृष्ट्या दृष्टो भगवान् न ज्ञातो भवतीति भगवत्स्वरूपमुक्त्वा, स योगेनैव ज्ञातव्य इत्याह। त्वं निश्चयेन ब्रह्म। युक्तश्चायमर्थः। अन्यथा लौकिकवैदिकप्रकारा व्यर्था न भवेयुः। प्रमेयमेव हि प्रमाणाद्बलिष्ठम्। एतदाह हिशब्दः। ननु तथापि प्रमाणात्कथं बलिष्ठमिति चेत्, तत्राह **परं ज्योतिरिति**। 'किं ज्योतिरयं पुरुष' इति ब्राह्मणे सूर्यादिनिराकरणप्रस्तावे वागपि निराकृता। सुप्तायां वाचि किं ज्योतिरयं पुरुष' इति वाक्यादतः परं ज्योतिर्भगवानेव। तह्येवं सति साक्षात्पुराणपुरुषः परमात्मा देवक्यामवतरिष्यति, स एव वेदार्थ इति कथं वेदे न श्रूयते, तत्राह **गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय इति**। वेदैस्तेथैव प्रतिपाद्यते, परं गुप्तप्रकारेण। अत एव गुप्तत्वाद्भगवानाह 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति। तर्हि कथं निश्चयेन प्रवृत्तिरित्यत आह **यं पश्यन्तीति**। ते हि प्रथमतो गूढं ज्ञात्वा सूक्ष्मदर्शनार्थं अमलात्मानो भवन्ति। ततः पाञ्चभौतिकेषु घटपटादिषु आकाशमिव अप्रकटमपि शून्यवत्प्रतिभासमानं सर्वत्र पश्यन्ति। तर्हि सङ्घातप्रविष्टं जीवरूपं जानीयुः, तत्राह **केवलमिति**। ननु सङ्घाताविष्टम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ – पहले कहा कि लोक दृष्टि से जो देखा जाता है, उससे भगवत्स्वरूप का ज्ञान एवं दर्शन योग द्वारा ही होता है न कि लोक दृष्टि से, इसको स्पष्ट करते हुए शिवजी कहते हैं कि, निश्चय से आप ब्रह्म हैं यह अर्थ योग्य है, यों न होवे तो लौकिक और वैदिक प्रकार जो युद्ध में देखे गये वे व्यर्थ न होते, अतः प्रमाण'से प्रमेय बलवान् है यह 'हि' शब्द से कहा है, यदि कहो कि प्रमाण से प्रमेय कैसे बलिष्ठ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि पर ज्योतिः' आप परम ज्योति स्वरूप हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ में सूर्य आदि का निराकरण करते हुए वाणी का भी निराकरण कर यह सिद्ध किया है कि 'पर ज्योति' भगवान् ही हैं। यदि यों हैं, तो साक्षात् पुराण पुरुष परमात्मा देवकीजी में से जो प्रकट होगा वह ही वेदार्थ है यों वेद में क्यों नहीं सुना जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये' वेद रूप ब्रह्म, उसका ही प्रतिपादन करता है किन्तु गुप्त रूप से, इसलिये अर्थात् गुप्त होने से भगवान् स्वयं श्रीमुख से गीता में आज्ञा करते है कि वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' सर्व वेदों से में ही जाना जाता हूं, अर्थात् वेद मेरा ही प्रतिपादन करते है, तब उसमें किस प्रकार निश्चय पूर्वक प्रवृत्ति होवे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'यं पश्यन्ति' वे योगी प्रथम वह गुप्त हैं, ऐसा समझ उस गुप्त सूक्ष्म के दर्शन के लिये निर्मल शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, पश्चात् पाञ्च भौतिक घट पट आदि पदार्थों में आकाश की भांति गुप्त भी शून्य की तरह भासित होते हुए भी सर्वत्र उसको ही योग द्वारा देखते हैं, यों तो सङ्घात में प्रविष्ट जीव स्वरूप को देखते होंगे, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल शुद्ध सङ्घात में अप्रविष्ट स्वरूप को देखते हैं ॥३४॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा विश्वरूपं वदन् प्रमाणप्रतिपादितप्रकारात् अन्यथाज्ञानं प्रत्यक्षतो न प्रमाणविरोधीति ज्ञापयति **नाभिर्नभोऽग्निरिति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ - इस प्रकार केवल भगवत्स्वरूप का वर्णन कर अब उसके विश्वरूप को कहते हुए सिद्ध करते हैं कि प्रमाण से जो प्रकार प्रतिपादित किया गया है उससे अन्यथा ज्ञान प्रत्यक्ष से प्रमाण विरोधी नहीं हैं यह 'नाभिर्नभोऽग्नि' इन दो श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो द्यौः शिर्षमाशाश्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी ।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ।।३५।।
रोमाणि वृक्षौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरञ्च्यो धिषणा विसर्गः ।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान्पुरुषो लोककल्पः ।।३६।।

श्लोकार्थ—भगवान् के विश्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'आकाश' जिसकी नाभि है, अग्नि मुख' है, जल 'वीर्य' है, स्वर्ग 'मस्तक' है, दिशाएँ 'कान' हैं, पृथ्वी 'चरण' है, चन्द्रमा 'मन' है, सूर्य 'नेत्र' हैं, शिव 'अहङ्कार' है, समुद्र 'उदर' है, इन्द्र 'भुजा' है, औषधियाँ 'रोम' हैं, बादल 'केश' हैं, ब्रह्मा 'बुद्धि' है, प्रजापति 'शिश्न' है, धर्म 'हृदय' है, जगत् रूप से स्थित यह विराट् स्वरूप भी आप ही हैं।।३५-३६।।

सुबोधिनी—आदौ मध्ये दृष्टिर्भवतीति तन्नभः भगवतो नाभिस्थानमित्याह । ततो रूपवती दृष्टिर्भवतीति 'रूपमग्नौ प्रतिष्ठित'मिति अग्निर्मुखमित्युक्तम् । ततो रूपप्रसङ्गे स्त्रियो मुख्यतेति विषयं निरूपयितुं अम्बुनिरूपणम्, एकाश्रयं वा वाचो रसनमिति तदाधारत्वेन जलनिरूपणम् । सृष्टिक्रमेण वा त्रिवृत्करणे अग्न्यनन्तरं जलमिति रेतो भगवतः । 'विश्वस्य भगवान् पिते'ति जलमेव बीजमिति तथोच्यते । तत उपरि सर्वतोऽधश्चेति भूमिं त्रिधा निरूपयति । द्यौः शीर्षम्, आशाः परितः ताः श्रुतिः श्रवणेन्द्रियम् । उर्वी पृथ्वी अङ्घ्रिः । सर्वत्र जात्यपेक्षायामेकवचनम् । माहात्म्यज्ञापनार्थं वा इन्द्रियप्रकरणत्वात् चन्द्रादीनां निरूपणम् । अयं चन्द्रो यस्य मनः । अर्को, दृक् । अहङ्कार आत्मा हृदयम् । समुद्रो जठरम् । इन्द्रो भुजाः । वृक्षौषधयो रोमाणि । रोमसु सूक्ष्मस्थूलभेदोऽस्तीति द्वयोर्निरूपणम् । अम्बुवाहा मेघा भगवतः केशा । य एव कश्चित्सर्वात्मकत्वेन वक्तव्यः, स एवं निरूप्यते । तद्धर्मे वेदमूलको धर्म इति वेदात्मके शिवे निरूपितम् । ततः सन्देहे प्रमेये भगवतैव प्रदर्शित सर्वात्मकत्वमक्रूराय । ततोऽत्र प्रमाणेन वेदेनान्यथाबुद्धिनिराकरणार्थं निरूप्यत इति वक्तव्य।योजनयोर्भेदात् न पौनरुक्तयम् । विरञ्च्यो ब्रह्मा भगवतो धिषणा बुद्धिः। विशेषेण सर्गो यस्मादिति गुह्येन्द्रियम् । चतुर्मुखः प्रजापतिः । धर्मो यस्य हृदयम् । एवं सर्वोत्कर्षमुक्त्वा अन्ते सम्बन्धिनं निरूपयति सर्वत्रानुषङ्गार्थम्, तथादिमध्ययोः उपासनाव्यावृत्त्यर्थं आधिदैविकत्वादिभेदाभावार्थं च । एतादृशः पुरुषो यो नारायणः स एव भगवान् ।।३५ ३६।।

व्याख्यार्थ—दृष्टि पहले मध्य भाग में जाती है, वह मध्यभाग आकाश है, अतः वह आकाश भगवान् की नाभि है, पश्चात् दृष्टि रूप वाली होती है, 'रूपमग्नौ प्रतिष्ठितम्' इस वाक्यानुसार रूप अग्नि में स्थित है, इसलिये 'अग्निर्मुखम्' अग्नि मुख है यों कहा गया है, पश्चात् रूप प्रसङ्ग में स्त्री मुख्य है, इसलिये विषय के निरूपणार्थ 'जल' का निरूपण है, अथवा वाणी का एक आश्रय जिह्वा हैं जिसका आधार जल है इसलिये जल का निरूपण है,सृष्टि के क्रम से त्रिवृत् करने में अग्नि के बाद जल कहा है, इसलिये जल भगवान् का रेत है, जैसे कि कहा है 'विश्वस्य भगवान् पिता' इसलिये जल ही सृष्टि का बीज है क्योंकि भगवान् का वीर्य है, पश्चात् ऊपर, चारों तरफ और नीचे, इस

प्रकार भूमि का तीन प्रकार से वर्णन करते हैं, स्वर्ग शिर है, चारों तरफ की दिशाएँ कान है और पृथ्वी चरण है, जाति की अपेक्षा से एक वचन कहा है, महात्म्य जताने के लिये अथवा इन्द्रियों का प्रकरण है, इसलिये चन्द्र आदि भगवान् के कौनसे स्वरूप हैं जिनका निरूपण करते हैं, यह चन्द्रमा भगवान् का 'मन' है, सूर्य 'नेत्र' है, अहङ्कार, आत्मा अर्थात् हृदय है, समुद्र 'जठर' है, इन्द्र भुजाएँ हैं, वृक्ष और औषधियाँ 'रोम' हैं, वृक्ष और औषधियां ये दो रोम हैं, यों क्यों कहा ? जिसके उत्तर में कहते है, रोमों में स्थूल और सूक्ष्म दो भेद होते हैं, दृष्टान्त में वृक्ष बड़ स्थूल और औषधियां सूक्ष्म दिखाई हैं। बादल भगवान् के केश हैं, जो कोई सर्वात्मकपन से कहा जाता है, उसका इसी प्रकार निरूपण होता है, धर्म की जड़ वेद है, वह वेदात्मक धर्म शिव में निरूपित है, अतः वह प्रमाणिक वैदिक धर्म शिवजी ने वर्णन किया है, शेष प्रमेय स्वरूप के संशय का निवारण स्वयं भगवान् ने अपना सर्वात्मकत्व अक्रूर को दिखा कर, किया है, अनन्तर अन्यथा बुद्धि न होवे इसलिये यहाँ प्रमाण रूप वेद रूप शङ्कर ने निरूपण किया है, वक्तव्य और प्रयोजन में भेद है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है, ब्रह्मा भगवान् की बुद्धि है, विशेष रूप सृष्टि जिस चतुर्मुख प्रजापति से हुई है, अतः वह भगवान् की गुह्य इन्द्रिय हैं, जिसका हृदय धर्म है, इसी भांति भगवान् का उत्कर्ष कह कर, सर्वत्र सम्बन्ध है इस-लिये अन्त में सम्बन्धि का निरूपण करते हैं, आदि और मध्य में उपासना के व्यावृत्ति के लिये और आधिदैविकत्व आदि भेद नहीं है इसलिये कहते है कि ऐसा पुरुष एक ही नारायण है, वह आप ही हैं ॥३५-३६॥

आभास—एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तादृशस्यावतारे प्रयोजनमाह **तवावतारोऽयमिति** ।

आभासार्थ—इस विश्वरूप का वर्णन कर अब ऐसे आपके अवतार लेने का प्रयोजन 'तवावतारोऽयं' इस श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक--तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे अच्युत स्वरूप ! आपका यह अवतार धर्म की रक्षा और खलों के निग्रह दोनों के लिए हैं और हम सब आपसे अधिकार प्राप्त कर सात लोकों का पालन करते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—अकुण्ठो वैकुण्ठः स्वरूपप्रच्युतस्य समागमनं निवारयति सम्बोधनेन । अयं तवावतारः धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय च उभयार्थमवतारः । यत्र विरोधः, तत्रोभयसमर्थनं विचारणीयमिति निरूप्यते । मदुक्ता भुजा धर्मः, स च खलः, उभयमत्र समाधेयम् । ननु प्रमाणभूतोऽपि भवान् पक्षपातेन करणादप्रमाणं जात इति शङ्कां वारयति **वयं चेति** । **जगतो भवायेति** पाठेऽपि उद्भवार्थमयं मारणीय इति सिध्यति । येन वा धर्मेणोद्भवो भवति, दैत्यांशनिराकरणपूर्वकेण हि तथा । वयं च भवतैव सर्वार्थे अनुभाविताः, तथा भावनया प्रेरिताः, संस्कृता वा, सप्तभुवनानि विभावयामः । वयं तत्त्वाधिष्ठातृदेवाः ब्रह्माण्डदेवा वा । सर्वत्रैव यदि वयं त्वद्भावभाविताः,

तदा अस्मिन्नेव कः सन्देहो भवेत् । अनेन केवल-तामसभावकत्वमिति पक्षो निवारितः । अधस्तात्सप्तभुवनेषु तदनुभावः सिद्ध इति उपरितनान्येव सप्तभुवनानि गृहीतानि ।।३७।।

व्याख्यार्थ—आपका धाम अकुण्ठ अर्थात् वैकुण्ठ है इसलिये आप अच्युत स्वरूप से ही पधारे हैं, आप का तेज कभी भी कुण्ठित वा च्युत नहीं होता है, यह भाव अकुण्ठ धामन् संबोधन से प्रकट किया है, ऐसे आपका यह अवतार धर्म की रक्षा के लिये और खलों के निग्रह इन दोनों कार्यों के लिये हुवा हैं जहाँ विरोध है वहाँ दोनों का समर्थन विचारणीय है यों निरूपण किया जाता है, वेद रूप जो मैं हूँ, उसमें दी हुई भुजाएँ है, अतः वे धर्म रूप हैं, और जिसको दी है वह खल है, यहां दोनों का समाधान करना चाहिये, आपने प्रमाण रूप होकर भी पक्षपात से जो यह कार्य किया है, इसलिये आप अप्रमाण हो गये है, इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'वयं च' और हम सब आप से सर्व विषय में अधिकार प्राप्त एवं भावना से प्रेरित अथवा संस्कृत हैं, अतः उस अधिकारानुसार अथवा भावना से प्रेरित अथवा संस्कारानुसार सप्त लोको का पालन करते हैं 'जगतो भवाय' इस पाठ के अनुसार जगत् के उत्कर्ष के लिये, यह खल मारने के योग्य हैं, यों सिद्ध होता है, अथवा जिस गुण से जगत् का उत्कर्ष होता हो उस गुण को प्रकट करना चाहिये अर्थात् जिस गुण से दैत्यांश का निराकरण हो उसको प्रकट कर जगत् का उत्कर्ष करना उचित है, हम तत्वों के अधिष्ठाता देव हैं, अथवा ब्रह्माण्ड के देव हैं, सर्वत्र ही हम आपके भाव से ही भावित हैं, तब इसमें ही है, जिसमें कोनसा सदेह होना चाहिये, यों कह कर यह सिद्ध किया है कि शङ्कर केवल तामस भाव वाले नहीं है, नीचे के सात लोकों में उनका प्रभाव तो सिद्ध है ही, अब यों कहने से ऊपर वाले सात लोक भी ग्रहण किये हैं, अर्थात् ऊपर के सात लोकों में भी उनका प्रभाव है ।।३७।।

आभास—ननु तथापि ममाग्रे अयमपकारं करिष्यति, ततो मया मारणीय इति; अस्मिन्ननुभावो न युक्त इति चेत्, तत्राह **त्वमेक आद्य** इति ।

आभासार्थ—यों है, तो भी आगे, यह मेरा अपकार करेगा इसलिये यह मारने के योग्य है, इसके पास प्रभाव अर्थात् सत्ता एवं अधिकार रहे ऐसा यह योग्य नहीं है, इस पर कहते हैं 'त्वमेक आद्य' ।

श्लोक—**त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीश्वरः ।**
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ।।३८।।

श्लोकार्थ—आप एक अद्वितीय आद्य पुरुष हैं, तुर्यावस्था में प्राप्त भी आप हैं, अपने में ही दृष्टि वाले हैं, कारण रूप एव अकारण रूप ईश्वर भी आप हैं, तो भी अपने गुणों की प्रसिद्धि के लिए अपनी माया से विकार वाले प्रतीत होते हैं ।।३८।।

सुबोधिनी यद्यपि भवान् सर्वत्र एक एव, पूर्णगुणश्च, तथापि यावन्ति रूपाणि जगति प्रसिद्धानि, घटपटादीन्यपि, तत्र कारणे विचार्यमाणे भगवानेव स्वस्यैकमेकं धर्मं मुख्यतया परिगृह्य,

तथाविधो जात इति मन्तव्यम्। तथा सति सहस्रभुजरूपो बाणो येन (गुणेन) भवति, स एव गुणः कारणभूतोऽङ्गीकर्तव्य इति तथैव करणमुचितम्। अस्माकं सर्वत्र भेदप्रतीतावपि त्वमेक एव। न हि निम्बबुद्धया भक्षिता शर्करा तिक्ता भवति। तस्यैकत्वं साधयति आद्य इति। यथैक एव व्रीहिः अङ्कुरादिभावेन सहस्रं व्रीहयो भवन्ति, तथैक एव भगवानाद्यः कारणभूतः। सङ्घातोत्पत्त्यर्थं व्रीहिवत्। निराकारतामाशङ्क्य कारणस्य बीजात्मकस्य स्वरूपमाह पुरुष इति। तस्य कारणतायां स्त्र्यपेक्षामाशङ्क्याह अद्वितीय इति। कार्यकारणवैलक्षण्यं कार्यवैचित्र्यं च चिन्तामणाविवात्राप्यध्यवसेयम्। तस्योपादानत्वमविकृतत्वं निमित्तत्वं च पूर्वमेव साधितम्। अत एव जगतः अनुपास्यतापि सिद्धा। ब्रह्मत्वे च जगतस्तज्जलान्तत्वमेव। दृष्टान्तैः स्थितिप्रलयावन्यत्रेति निदर्शनमात्रत्वम्। बहवो दृष्टान्ता एकीभूताः भगवति सर्वलक्षणां बुद्धिं सम्पादयन्ति। तर्कमात्रमूलत्वे अप्रामाण्यं स्यादिति दृष्टान्ताभावाच्च श्रुत्यैकसमधिगम्यमेव ब्रह्मेति स्थापितम्। कादाचित्कत्वेऽपि भगवानेव हेतुः अन्यस्मिन् कारणत्वेन परिकल्प्यमाने या उपपत्तिः, सा भगवत्येव सम्पादनीया। सर्वसमर्थत्वात् ब्रह्मणः भिन्नाधिकरणत्वे यथा विरोधपरिहारः, तथैकाधिकरणत्वेऽपि। युक्त्यपेक्षायामपि पत्रदारुनिर्यासपुष्पफलेषु बीजमेकमेव कारणं सर्वविलक्षणं दृष्टमिति तस्यैव परम्परया साक्षाद्वा कारणत्वमध्यवसीयते, तथा श्रुतत्वाद्ब्रह्मणोऽप्यध्यवसेयम्, अवधृतप्रामाण्यवेदात्। तथा सति श्रुतिर्यथार्था समर्थिता भवति। वैयर्थ्यं च स्यात्, प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव वैदिकार्थस्यापि सिद्धेः। सङ्केतस्तु निरूपकग्रहणादेव। अन्यथा तत्तन्मते आत्मादिपदानां सङ्केतः अलौकिकार्थानामसङ्गतः स्यात्। अतोऽद्वितीयपुरुष एव आद्यो जगत्कारणम्। एवं भगवतः जगत्कारणत्वमुपपाद्य तत्रोत्पत्तिस्थितिप्रलया एव कार्यत्वेन सिद्धा इति मोक्षसाधकत्वं भगवतो वदन् पुनर्विशेषणान्तरमाह तुर्य इति। समाधिगम्यः। यथा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः स्थित्युत्पत्तिप्रलयाभिज्ञापिकाः, एवं तुर्यावस्थापि मोक्षाभिज्ञापिका। तस्यां प्रादुर्भूतो भगवान् मोक्षद इति। तस्य मोक्षदाने प्रकारमाह स्वदृगिति। यथाद्वितीयः पुरुषो जगत्कारणम्, तथा स्वदृक् स्वस्मिन्नेव दृष्टियुक्तः आत्मानुभवतुष्टः मोक्षहेतुरिति। ननु स्वमोक्षमेव साधयेत्, नतूपासकानामन्येषाम्, तत्राह हेतुरिति। अन्येषामपि मोक्षे स्वदृक्त्वे तुर्यत्वे च स एव हेतुः। तर्ह्यन्यस्यास्मदादेः स्वयं स्वस्य ततोऽपि मूलभूतः कश्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याह अहेतुरिति। न तस्य कश्चिद्धेतुरस्ति। ननु यथा भगवान् स्वेच्छया सर्वं भवतीत्युच्यते, एवं सर्वोऽपि सर्वं भवतु, अभेदश्च श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति, तत्राह ईश्वर इति। स हि सर्वसमर्थोऽपि स्वयं तथैव मूलभूतः। कार्यरूपस्तु स्वस्मादेव जायते, सर्वसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात्, ईश्वरेच्छाया नियन्तुमशक्यत्वाच्च। एवं सर्वसामर्थ्यमलौकिकत्वं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहकत्वमुपपाद्य सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथाविकारं इक्षुक्षीराम्ललवणादिविकारमनतिक्रम्य प्रतीयसे, सर्वात्मना अप्रतीतो भगवन्मायैव नियामिका। ननु तस्याः स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्याभ्यां पुनः स दोषस्तदवस्थ इति चेत्, तत्राह सर्वगुणप्रसिद्धया इति। अन्यथा भगवदीयाः सर्वे गुणाः प्रत्येकं न प्रसिद्धा भवेयुः। यथा षड्रसापि हरीतकी नीरसैव, निसर्गतः कोऽपि रसः सर्वविलक्षणो न प्रतीयत इति, तथैव भगवान् सर्वत्र सर्वगुणप्राकट्ये कृसरवत्प्रतीयेत। अतो भगवदिच्छारूपया मायया सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथाविकारं प्रतीयते। तथैव लीलायां यादवत्वमात्रं प्रकटयितुमाविर्भूतः नान्यान् धर्मान् प्रकटितवानित्यस्मदादीनामप्यज्ञानमिति भावः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि आप सर्वत्र एक हो हैं, तो भी जगत् में घट पट आदि जितने रूप प्रसिद्ध

हैं, उनके कारण का विचार करने पर, जाना जाता है कि भगवान् ही अपने एक एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण कर उस प्रकार के हुवे हैं, यों मानना चाहिये यों होने पर बाण जिस गुण से सहस्र भुजा वाला होता है, वह ही गुण कारण भूत अङ्गीकार करना चाहिये, इसलिये वैसा ही मानना चाहिये, जो कि हमको सर्वत्र भेद की प्रतीति होती है तो भी सर्व पदार्थ मात्र आप एक ही है, शर्करा को निम्ब (कड़वी) समझ खाई जावे तो भी वह तो मधुर ही होगी, कड़वी नहीं लगेगी, उसका एकत्व सिद्ध करने के लिये कहते हैं, 'आद्यः' आप सब की आदि अर्थात् बीज हैं, जैसे एक ही व्रीहि अङ्कुर आदि भाव से सहस्र चावल हो जाते है वैसे ही एक भगवान् ही आदि होने से कारण है, सङ्घात की उत्पत्ति के लिये चावल की तरह, भगवान् तो निराकार हैं. चावल साकार है वह तो बीज कारण हो सकता है, निराकार कैसे कारण होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कारणात्मक बीज, जो भगवान् हैं उनका स्वरूप बताते हैं, 'पुरुष' पुरुष रूप होने से बीज है, पुरुष की कारणता में स्त्री की अपेक्षा होती है इस शङ्का के मिटाने के लिये कहते है कि 'अद्वितीयः' स्त्री आदि अन्य कोई नहीं, आप एक ही अकेले हैं, अतः कार्य और कारण में विलक्षणत्व और कार्य में विचित्रता, चिन्तामणि की भांति समझनी चाहिये, उसकी उपादानता,अविकृतपन, और निमित्तत्व पहले ही सिद्ध किया है । अतः जगत् उपासना योग्य नहीं है, यह भी सिद्ध है, जगत् ब्रह्मरूप है, जिसका कारण यह है, कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय सब ब्रह्म से होती है । दृष्टान्तों से जो जगत् की स्थिति और प्रलय अन्य से कही है वह केवल उदाहरण ही है, बहुत दृष्टान्त इकठ्ठे होने से अर्थात् भगवान् के स्वरूप को समझाने के लिये जो अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं वे पूर्ण रीति से घटित न होने से भगवान् में सर्व लक्षण वाली बुद्धि को उत्पन्न करते हैं, यदि ब्रह्म केवल तर्क से समझ में आजावे तो उसकी अप्रमाणिकता हो जावे, कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं जो अर्थात् ब्रह्म का वह सत्य ज्ञान पूर्णतः नहीं है, ब्रह्म को समझा सके, अतः ब्रह्म केवल वेद से ही समझा जा सकता है । ब्रह्म रूप जगत् सदैव नहीं प्रतीत होता है, इसमें भी भगवान् ही हेतु है । दूसरे में, जो जगत् के कारणत्व की कल्पना की जावे, वह भगवान् में ही करनी चाहिये, क्योंकि भगवान् ही सर्व सामर्थ्य वाले हैं जैसे अलग २ अधिकरण होने पर विरोध का परिहार हो जाता है अर्थात् विरोध स्वतः मिट जाता है, वैसे एक अधिकरण होते हुए भी विरोध मिट जाता है, जैसे पत्र, लकड़ी गोंद, पुष्प और फल इन सब का एक बीज ही कारण है, वह बीज सर्व उत्पन्न पदार्थों से विलक्षण है, उस विलक्षण बीज को ही साक्षात् अथवा परम्परा से कारणता समझी जाती है, इस युक्ति के अनुसार ब्रह्म की भी इस प्रकार वेद के कथनानुसार कारणता जाननी चाहिये, वेद प्रमाण है यह सिद्ध हो गया है यों मान लेने पर श्रुति का यथार्थ समर्थन होगा । यदि वैदिक अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान आदि से की जायगी तो श्रुति की व्यर्थता हो जावेगी । सङ्केत तो विचार करनेवालों की स्वीकृत से ही होता है, यदि यों न माना जायगा तो उन उन के मतों में आत्मा आदि पदों का तथा अलौकिक अर्थों का 'सङ्केत' असङ्गत हो जायगा । अतः अद्वितीय आद्य पुरुष ही जगत् का कारण है, इस प्रकार भगवान् जगत् का कारण है यह सिद्ध कर, यह बताया है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही कार्यत्व से सिद्ध हैं । भगवान् ही मोक्ष के साधक हैं इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं 'तुर्य इति' वह स्वरूप जो समाधि में जाना जा सकता है । जैसे जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति;स्थिति,उत्पत्ति और प्रलय को जताने वाली है,वैसे ही तुर्यावस्था भी मोक्ष को जताती है । उस अवस्था में प्रादुर्भूत भगवान् मोक्ष देने वाले है, उनके मोक्ष देने का प्रकार कहते हैं 'स्वदृक्' जैसे अद्वितीय पुरुष जगत् का कारण है, वैसे अपने में ही दृष्टि वाला, आत्मा के अनुभव से सन्तुष्ट मोक्ष का कारण है, अपना मोक्ष ही सिद्ध करे न कि अन्य उपासकों का ? इस पर

कहते हैं कि 'हेतुः' दूसरों के भी मोक्ष में अपने अंदर दृष्टि होने में और चतुर्थ अवस्था अर्थात् मोक्ष दशा होने में भी, भगवान् ही कारण हैं, अस्मदादि अन्य का, स्वयं अपने का, उससे भी कोई मूलभूत आधार वा आश्रयरूप कोई कारण होगा ? जिसके उत्तर में कहते है कि अहेतुः' उसका कोई कारण नहीं है, जैसे भगवान् की अपनी इच्छा से सब कुछ होता है, यों कहा जाता है, इस प्रकार सर्व भी सब होवें, क्योंकि श्रुति अभेद का प्रतिपादन करती है, इस शङ्का के उत्तर में कहते है, कि 'ईश्वर' आप कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं अतः वह सर्व समर्थ भी स्वयं वैसा ही मूल भूत है, कार्यरूप तो अपने में से ही उत्पन्न होता है आप में सर्व सामर्थ्य विद्यमान होने से, और ईश्वर की इच्छा का कोई नियामक नहीं हो सकता है । इस प्रकार सर्व होने का सामर्थ्य, अलौकिकत्व और निर्दोष पूर्ण गुणकत्व प्रतिपादन कर सर्वत्र पूर्ण गुणवाला होकर भी, गन्ने, क्षीर, खट्टा खारा आदि विकारों का अतिक्रमण न कर, विकारानुसार प्रतीत हो रहे हो : सर्वात्मभाव से प्रतीति न होने में, भगवान् की माया ही नियामक है । यदि कहो. कि उस माया के स्वातन्त्र्य और अस्वातन्त्र्य होने से फिर भी वह दोष वैसा ही रहेगा ? इस पर कहते हैं 'सर्व गुण प्रसिद्धया' सर्व गुणों की प्रसिद्धि के लिये वैसा है, यदि यों न होवे तो भगवान् के सर्व गुण हर कोई में प्रसिद्ध न होंगे, जैसे षड्रस वाली हरड़े नीरस ही है, स्वभाव से कोई भी रस सब से विलक्षण प्रतीत नहीं होता है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र सर्व गुणों को प्रकट करे तो कुसर की भाँति प्रतीत होने लगे अतः भगदिच्छारूप माया से सब स्थान पर पूर्ण-गुणवान् हो तो भी विकारानुसार प्रतीत होते हैं, वैसे ही लीला में, केवल यादव पन को प्रकट करने करने के लिये प्रकट हुवे हैं, अन्य धर्मों को प्रकट नहीं किया, इस प्रकार का हम लोगों को भी अज्ञान है यों भाव है ॥३८॥

आभास—ननु सर्वत्र कारणेषु कार्योत्पत्तौ कारणप्रत्यक्षता दृश्यते, नत्वप्रत्यक्षान्मृदादेः घटादिकमुत्पद्यते, तथा पदार्थोत्पत्तौ कारणत्वेन ब्रह्मप्रतीतिः स्यात्, तदभावात् प्रत्यक्षविरोधात् कथं कारणतेत्याशङ्क्याह **यथैव सूर्य** इति ।

आभासार्थ—जहां भी कारण से कार्य उत्पन्न होता है, वहां सर्वत्र कारण प्रत्यक्ष देखने में आता है, जो कारण, प्रत्यक्ष देखने में न आवे (तो) उस मृत्तिका आदि से घट आदि बन नहीं सकते, अतः ये पदार्थ यदि ब्रह्म से बने हैं, तो कारण ब्रह्म भी दृष्टिगोचर होना चाहिये, वह नहीं होता है, इसलिये ब्रह्म कारण है इसमें प्रत्यक्ष का विरोध होने से, ब्रह्म कारण कैसे बन सकेगा ? इस शङ्का का निवारण 'यथैव' सूर्यः श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! जैसे सूर्य, उत्पन्न की हुई अपनी मेघरूप छाया से ढका हुआ प्रतीत होता है, तो भी सब पदार्थों को प्रकाशित करता रहता है, ऐसे ही स्वयं प्रकाश आप भी गुणों से ढ़के हुए होने पर भी गुणों को तथा गुणवालों को प्रकाशित करते हो ॥३९॥

सुबोधिनी—'मेघाः सूर्योद्भूता' इति श्रुतिः, 'यावदादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती'ति श्रुतेः सूर्य एव पर्जन्यः, अन्यथा सवितृत्वं न स्यात्। ततः सूर्यादुत्पन्ना अपि मेघाः यथा सूर्याच्छादकाः, एवं जगदपि भगवदुत्पन्नमपि भगवदाच्छादकम्। यथा तान् मेघान् मेघान्तर्जायमानां वृष्टिं तस्याप्यधोभूमिं भूमिष्ठांश्च पदार्थान् स्वयमदृष्टोऽपि प्रकाशयति, एवं सर्वकारणभूतः भगवानेव सर्वत्र सर्वप्रकाशक इति न काप्यनुपपत्तिः। छायया मेघैः। चकारात्तत्कार्यं वृष्टिम्। मेघानां पृथक्त्वं निवारयति स्वयेति। रूपाणि घटादीनि। चकारात्तैर्जायमानां क्रियामपि लौकिकीं वैदिकीं च प्रकाशयति। एवं गुणेन स्वयमेव तथाभूतेनापिहितोपि सर्वथा गुप्तोऽपि गुणान् कारणभूतान् गुणिनः कार्याणि च प्रकाशयति, आत्मप्रदीपश्च भवति। सर्व(था)सामर्थ्यार्थं सम्बोधनं भूमन्निति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—वेद कहता है कि मेघ[1] सूर्य से उत्पन्न होते हैं, सूर्य[2] तपता है, उसकी किरणों से बादल वर्षा करते हैं, सूर्य ही मेघ है, यदि यों न होवे तो सवि+तृत्व ही न रहे, इस कारण से सूर्य से उत्पन्न भी मेघ जैसे सूर्य को ढ़कने वाले हैं इस प्रकार भगवान् से उत्पन्न जगत् भी भगवान् का आच्छादक अर्थात् ढ़कने वाला है, जैसे उन मेघों को मेघ के भीतर रही हुई वृष्टि को, उसके भी नीचे की भूमि को और पृथ्वी पर पड़े हुए पदार्थों को स्वयं अदृष्ट होते हुए भी प्रकाशित करते हैं, इसी तरह सब का कारणभूत भगवान् ही सर्वत्र सर्व प्रकाशक हैं, इसलिये किसी प्रकार भी अनुपपत्ति नहीं है, छाया का आशय है बादल अर्थात् छाया से सूर्य ढ़का हुवा है, इसका तात्पर्य है बादलों से ढका हुआ है 'च' शब्द से मेघों का कार्य वृष्टि को समझना चाहिये, मेघ छाया से पृथक् नहीं हैं सर्व सूर्य रूप ही हैं इसलिये 'स्वया' पद दिया है 'रूपाणि,' पद का भावार्थ घट आदि पदार्थ हैं 'च' से यह सूचित किया है कि उन रूपों से उत्पन्न लौकिक और वैदिक क्रिया को भी प्रकाशित करते है इस प्रकार वैसे कहे हुवे गुण से स्वयं ही, सब प्रकार गुप्त होते हुए भी गुणी के कारण भूत गुणों को और कार्यों को प्रकाशित करते हैं और स्वयं स्व-स्वरूप से प्रकाशित हैं। भूमन्! संबोधन से सर्व प्रकार तथा सर्वथा सामर्थ्य को सूचित किया है ॥३९ज

आभास—भगवत्कारणतायां हेत्वन्तरमप्युपपादयति यन्मायामोहितधिय इति।

आभासार्थ—भगवान् कारण है, इसमें दूसरा हेतु[3] 'यन्माया मोहितधिय' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं।

१—मेघाः सूर्योद्भूताः इति श्रुति,

२—यावदादिस्त पति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्योवर्षति,

+ सूर्य का उत्पन्नकर्तृत्व ही न रहे-सविता का अर्थ है उत्पन्न करता वह सूर्य में न रहे-

३—पुत्र आदि मैत्रि प्रवृत्ति में भगवान् कारण है जिसमें दूसरा कारण कहते हैं कि भगवान् ही अपनी माया से पुत्र आदि में प्रवृत्ति कराते हैं।

श्लोक—यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसकी माया से, मोहित बुद्धिवाले, पुत्र, स्त्री, गृह आदि में जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं; क्योंकि विषय दुःख रूप होते हैं तो भी उनमें आसक्त रहते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—विवेकिनोऽपि विषयान् दृष्ट्वापि दुःखदान् तत्रैवासक्ता भवन्ति। तत्रेष्टसाधनतायाः लौकिके कारणत्वात् तदभावेऽपि प्रवृत्तेरवश्यं कारणान्तरमाक्षिपति । प्रत्यक्षभ्रमस्य प्रत्यक्षमेव विशेषज्ञानं बाधकमिति दिङ्मोहादौ दृष्टमिति चेत्, तत्राह **प्रसक्ता वृजिनार्णव** इति । दृष्ट्वापि तद्गतदोषान्, अनुभूयापि दुःखम्, पुत्रदारगृहादिषु उन्मज्जन्त्युत्पद्यन्ते, 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति तत्रैवासक्ताः **निमज्जन्ति**, आसक्त्यैव तत्र स्थिता यावज्जीवं तत्रैव म्रियन्ते । 'प्रजामनु प्रजायन्त' इति पुत्रादुत्पद्यन्ते, पुत्रार्थमेव च क्वचित् म्रियन्ते च । तथैव भार्यायां पुत्ररूपेणोत्पद्यन्ते, भार्यार्थं म्रियन्ते च । गृहे तूत्पत्तिमरणे प्रसिद्धे । आदिशब्देनाश्वगर्दभादिष्वपि । 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति भरतवत्तत्राप्युत्पद्यन्ते म्रियन्ते च । तस्मादेवं महामोहहेतुः भगवच्छक्तिरेव काचिदङ्गीकर्तव्या, या प्रत्यक्षशास्त्रैरप्यनुल्लङ्घ्या ।
॥४०॥

व्याख्यार्थ—यह माया ही इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराने वाली है, वैसा ज्ञान ही प्रवृत्ति होने का कारण है,न कि भगवान् कारण है । ऐसी शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि विवेक वाले भी विषय दुःख-देने वाले हैं यों देख कर भी उनमें ही आसक्त हो जाते हैं, पुत्र आदि में आसक्ति इष्ट पदार्थ की प्राप्ति ही लौकिक में कारण है, इष्ट पदार्थ की प्राप्ति न होते हुए भी जो उसमें प्रवृत्ति होती है, जिसमें अवश्य अन्य कारण होगा, प्रत्यक्ष में जो भ्रम होता है, उस भ्रम का निवारण विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान से हो जाता है यह दिङ् मोह आदि में देखा गया है, यदि यों कहो तो, उसका उत्तर है कि दुःख रूप सागर में आसक्त हैं अर्थात् डूबे हुवे हैं, जिससे उनके[1] दोषों को देखकर भी दुःख का अनुभव करके भी पुत्र स्त्री गृह आदि में उत्पन्न होते हैं, 'अन्त में जैसी मति वैसी गति' होती हैं, पुत्र आदि में जीवन पर्यन्त आसक्त रहने से वहां ही मरते हैं । 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इस वाक्य के अनुसार पुत्र से उत्पन्न होते है वहां पुत्र के लिये ही मरते हे, वैसे ही स्त्री मे पुत्र रूप से उत्पन्न होते हैं, और स्त्री के लिये मरते हैं, घर में तो उत्पन्न होना और मरना प्रसिद्ध ही है, श्लोक में आदि पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि घोड़े, गदेह आदि में भी जन्म होता है, क्योंकि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है, यों भरत की भाँति उन योनियों में भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं, इस कारण से यह अङ्गीकार करना चाहिये कि ऐसे महान् मोह का कारण कोई भगवान् की शक्ति ही है जिसको प्रत्यक्ष तथा शास्त्र भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते हैं ॥४०॥

१—पुत्र आदि विषयों के

आभास—इदानीं अर्धभगवत्कृपायुक्तानां शोचन्नाह देवदत्तमिति ।

आभासार्थ—जिन पर भगवान् की आधी कृपा है शोक प्रदर्शित करते हुवे 'देवदत्तम्' इस श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोके अजितेन्द्रियः ।
यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ।।४१।।

श्लोकार्थ—आप (भगवान्) के दिए हुए इस मनुष्य देह को पाकर, जो इन्द्रियों को न जीतने के कारण आपके चरणों का आदर नहीं करता है, वह आत्मवञ्चक शोक करने योग्य है ।।४१।।

सुबोधिनी—भगवता विवेकेन्द्रियादियुक्तं शरीरं दत्तं यस्मै, सोऽपि चेत् अर्धकृपायुक्तः पूर्णार्थी न यतेत, स मोहितैरपि शोच्यो भवति, देवेन भगवता दत्तम्, भगवदिच्छयैव नृलोके मनुष्यदेहे समागत इति । तर्ह्यनादरे को हेतुः, तत्राह **अजितेन्द्रिय** इति । इन्द्रियजयाभावादिन्द्रियैरपकृष्टोऽन्यत्र गच्छति । अतो न सेवते । ननु तर्हि तस्य को दोष इति चेत्, तत्राह **नाद्रियेतेति**। आदरमपि न करोति । तत्रासक्तिर्नियामिकेति । अतो विद्यमानमपि साधनं अन्यथा नाशयतीति स शोच्यो भवति । आत्मवञ्चकश्च । हिशब्दसूचिता युक्तिरुक्ता । परार्थं तथा करोतीत्याशङ्क्य तदभावार्थं निराकरोति **आत्मानमेव वञ्चयतीति**। उपकारस्तु पर्यवसानवृत्त्या आत्मगाम्येव भविष्यतीति यत्रात्मवञ्चनं न भवति, तत्रैव परार्थकरणं युक्तम्, अन्यथा स्वयमेवात्मघाती स्यात्, किं तस्योपकारेण ।।४१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने विवेक और इन्द्रिय युक्त शरीर देकर जिस पर आधी कृपा की है, वह यदि पूर्ण कृपा प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता है तो, वे जो अज्ञान से मोह को प्राप्त हुवे हैं उनसे भी शोक करने योग्य हैं अर्थात् अज्ञानी मोहित भी उस पर शोक करते हैं, भगवान् की इच्छा से ही जीव मनुष्य देह में आया है, यदि भगवदिच्छा से आया है तो फिर उनके चरणों में आदर क्यों नहीं करता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रियों को न जीत सकने के कारण से दूसरी तरफ़ अर्थात् संसार की तरफ जाता है । अतः भगवत सेवा नहीं करता है, इसमें उसका क्या दोष है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सेवा तो दूर रहो किन्तु आदर भी नहीं करता है इसमें आसक्ति नियामक है, अतः साधन होते हुए भी साधन को काम में न लाने से अपने को नाश करता है, इसलिये शोक करने योग्य हो जाता है, और अपने को ठगने वाला भी होता है, 'हि' शब्द यह युक्ति सूचित की है, यदि कहो कि दूसरों के लिये यों करता है तो वह भी सत्य नहीं है क्योंकि जो अपने को भी ठगता है वह दूसरों का क्या उपकार कर सकेगा ? दूसरों के उपकार से तो वहां अपना ही भला हो जाता है जहां आत्मा का वञ्चन नहीं होता हो, वहां परोपकार करना उचित है, अन्यथा स्वयं ही आत्मघाती बनता है, तो उसके उपकार से क्या लाभ ? ।।४१।।

आभास—अप्राप्तभगवन्तं निन्दित्वा, प्राप्यापि यस्त्यजति तं निन्दति, भगवदिच्छां मायां स्तोतुम्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः, यस्त्वां विसृजत इति ।

आभासार्थ—जिसने ऐसी मनुष्य देह प्राप्त कर भगवान् की प्राप्ति नहीं की है, उसकी निन्दा कर अब प्राप्त कर भी जो, त्याग कर देता है, उसकी निन्दा करते हैं, यों भगवदिच्छारूप माया को स्तुति करते हैं, यदि माया की इस प्रकार स्तुति न की जाय तो, वाक्य भेद का प्रसङ्ग आवे, अर्थात् ३४ वें श्लोक के अभास में जो कहा है कि महादेव १२ श्लोकों में स्तुति करते हैं वह कहना असत्य हो जाता है अतः माया की स्तुत्यर्थ हो 'यस्त्वां विसृजते' श्लोक कहा है ।

श्लोक—**यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।**
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य जड़ अप्रिय और अनोश्वर पुत्रादिकों के लिये अपने प्रिय, ईश्वर आप(आत्मा)को छोड़ देता है, वह अमृत त्याग विष का भक्षण करता है॥४२॥

सुबोधिनी—प्रयोजनाभावमाशङ्क्याह मर्त्य इति । मरणधर्मा । आवश्यकत्वायात्मेति । प्रियं प्रीतिविषयम् । अनावश्यकेऽपि प्रीतिवशादादरः क्रियते । तत्रापि ईश्वरमन्यथा मारकम् । एवं प्रकारत्रयेण वस्तुतो बाह्याभ्यन्तरव्यवहारेण च आवश्यकं विसृजते त्यजति, तत्रापि विपर्ययेन्द्रियार्थार्थम्, विपर्यया अनात्माप्रियानीश्वराः, ते च ते इन्द्रियार्थाश्च रूपादयः । न हि कश्चिन्नदीं तितीर्षुर्नौकां दत्वा शिलां गृह्णाति, नौकां त्यक्त्वा वा । शिलार्थमेव वा नौकां त्यजति । तस्य गतिमाह विषमत्त्यमृतं त्यजन्निति । म्रियमाणोऽमृतं प्राप्य तद्दत्वा यथा विषं गृहीत्वा भक्षयति, तस्य या अवस्था, सा एतस्यापीति भावः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—यदि कहा जाय कि भगवान् का कोई प्रयोजन नहीं है, तो कहते हैं मनुष्य 'मर्त्यः' मरण धर्म वाला है अतः उसको अमर्त्य आत्मा की आवश्यकता है, इसलिये 'आत्मानं' पद दिया है और यह प्रीतिका विषय है; जिस से आवश्यक न भी हो तो भी प्रीति वश होने से आदर किया जाता है । उसमें भी विशेषता यह है कि 'ईश्वर' है अतः आदर करने योग्य हैं, यदि आदर न किया जावेगा तो मारने वाला बन जायगा, वैसे तीन प्रकार से वास्तविक बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यवहार से आवश्यक होने पर भी जो उनका त्याग करता है, उसमें भी जो इन्द्रियार्थ और रूपादिक जड़ है, अप्रिय है और अनीश्वर हैं उनके लिये त्याग करता है, वह अमृत त्याग विष भक्षण करता है, कोई भी ऐसा नहीं है, जिसको नदी पार करनी है वह नौका का त्याग कर वा नौका देकर शिला को लेता है, अथवा शिला के लिये नौका का त्याग करता है । जो यों करता है उसकी क्या गति होती है वह कहते हैं कि विष का भक्षण करता है अमृत का त्याग करता है, मरने वाला अमृत प्राप्त करने के अनन्तर उसको देकर विष को ग्रहण कर उसका भक्षण करता है तो उसकी जैसी अवस्था होती है वैसी इसकी भी होती है यह भाव है ॥४२॥

आभास—तथा भवदादीनामपीत्याशङ्क्याह अहं ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—वैसी दशा आप जैसों की भी होगी, इस शङ्का का उत्तर 'अहं ब्रह्माथ' श्लोक से देते है ।

श्लोक—अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम् ।।४३।।

श्लोकार्थ—मैं, ब्रह्मा, देवगण, निर्मल अन्तःकरण वाले मुनिगण भी प्रिय ईश्वर और आत्मस्वरूप आपके सर्वात्मभाव से शरण हैं ।।४३।।

सुबोधिनी—यथार्धकृपायुक्ताः अन्ये भ्रान्ताः, यथा वा प्राप्यापि विषयप्रवणाः, तथा न वयम्, किन्तु भिन्नप्रकारमाश्रिताः । भगवतः सात्त्विकत्वादितरौ समानौ प्रथमं गणयति । अहं रुद्रो ब्रह्मा चेति । ततो हीनास्तन्नियम्या विबुधाः । अधिकारिणो निरूप्य ज्ञानपरान् निरूपयति मुनयश्चेति । तेषां पृथङ्निरूपणे हेतुः अमलाशया इति । साधनपराः सिद्धाश्चेति वा । अमलाशया मनुष्याः । मुनयः सनकादयोऽपि तथा । एते त्रिविधा अपि । चकारादेतदनुसारिणः सर्वे परिगृहीताः । ते वयं सर्वात्मना त्वां प्रपन्नाः । स्वस्य प्रवृत्तौ हेतुभूतं ज्ञानं निर्दिशति आत्मानं प्रेष्ठमीश्वरमिति । पूर्वस्मात्प्रेमातिशयो विशेषः । तेनैव साधनानि अन्यानि सम्पन्नानि ।।४३।।

व्याख्यार्थ—अर्ध कृपायुक्त अन्य, जैसे भ्रान्त हो, अथवा जैसे प्राप्त कर भी विषय में आसक्त हो जाते है, वैसे हम नहीं हैं, किन्तु भिन्न प्रकार से आपके आश्रित हैं भगवान् सात्विक होने से, दो जो समान है उनकी प्रथम गणना करते हैं, १ मैं (रुद्र) और २ ब्रह्मा, उनसे हीन उनसे नियमित देव गण, उन अधिकारियों का निरूपण करने के अनन्तर जो ज्ञान के परायण मुनि हैं उनका वर्णन करते है पृथक् निरूपण करने का कारण यह है कि वे निर्मल चित्तवाले हैं, साधन परायण अथवा सिद्ध है, निर्मल अन्तःकरण वाले मनुष्य और मुनि कहने से सनक आदि भी वैसे हैं, ये तीन प्रकार के भी, और 'च' शब्द से इनका अनुसरण करने वाले जो अन्य हैं उनका भी ग्रहण किया है, वे हम सब सर्वात्मभाव से आपके शरण हैं, हमारी वैसी प्रवृत्ति में जो ज्ञान कारण है वह बताते हैं, आप आत्मा हैं, प्रिय हैं एवं ईश्वर हैं, यह ज्ञान हमको हैं जिससे हम सर्वात्मभाव से आपके शरण हैं, पहले ४२ वें श्लोक में कहे हुए प्रेम से यहाँ विशेष प्रेम है, उस प्रेम से ही अन्य साधन सिद्ध हो गये हैं ।।४३।।

आभास—साम्प्रत विरोधमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं शरणं व्रजामीत्याह तं त्वामिति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् कह दें कि अब तो आप लड़ाई करने आये हैं, जिसके उत्तर में 'तं त्वां' श्लोक में कहते है कि वह शङ्का न कीजिये मैं आपकी शरण ले रहा हूँ ।

श्लोक—तं त्वां जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदेवतम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और उदय के कारणरूप, सम, अत्यन्त शान्त, मित्र आत्मा, देवतारूप, अनन्य तथा एक ही जगत् की आत्मा और स्थानरूप आप देव का हम भजन करते हैं; क्योंकि आप संसार से मुक्त करने वाले हैं, इसीलिए आपका भजन करते हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—एवं सर्वोपास्यं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहं त्वां भजाम। तमिति श्लोकद्वयार्थः परिगृहीतः, लोकवेदप्रसिद्धम्। त्वां परिहृश्यमानम्। जगत्स्थित्युदयान्तहेतुमिति ब्रह्मत्वाय जगत्कारणत्वमुक्तम्। बहिर्दोषाभावाय समम्। प्रशान्तमिति अन्तर्दोषाभावाय। सुहृदिति विश्वासार्थम्। आत्मेति भयाभावाय। दैवतमितीष्टसिद्धये। भावकृतवैलक्षण्याभावायाह अनन्यमिति। न विद्यते अन्यो यस्मादिति। यस्य वा। अन्यबुद्धिर्भगवतो न कस्मिंश्चित् यत एक एव। कार्यमपि न ततः पृथक्, यतोऽयं जगतः आत्मा केतश्च। विशेषतो भजनस्य अपराधनिवर्तकत्वे प्रार्थिते इष्टमग्रे प्रार्थयितुमशक्यमिति सर्वस्यापि दोषस्य निवृत्तिरूपं मोक्षमेव प्रार्थयति भवापवर्गायेति। एवं शरणागमनलक्षणं भजनं निरूपितम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब को उपासना करने योग्य, निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह वाले आपको हम भजते हैं 'तं' उसको इस पद से दोनों श्लोकों का अर्थ ग्रहण किया है अर्थात् आप जो लोक वेद प्रसिद्ध हो उसको हम भजते हैं 'सम' विशेषण से बताया है कि बाहर के कोई दोष आप में नहीं हैं, 'प्रशान्त' विशेषण से अन्तर के दोषों का अभाव सिद्ध किया है, 'सुहृत्' पद विश्वास के लिये दिया है, 'आत्मा' पद से सिद्ध किया है कि आप की शरण आये हुवे को भय नहीं रहता है। 'दैवत' शब्द से कहा है कि आपकी शरण लेने से इष्ट सिद्धि होती है। भाव से किये विलक्षणता के अभाव बताने के वास्ते 'अनन्य' विशेषण दिया है। जिससे अन्य कोई है ही नहीं। भगवान् को भी किसी में अन्य बुद्धि नहीं है, क्योंकि एक आप ही हैं, कार्य भी उनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि यह ही जगत् की आत्मा और निवास है, विशेष रूप से यदि भजन से अपराध की निवृत्ति की प्रार्थना की जावे तो आगे इष्ट की प्रार्थना करनी कठिन हो जावेगी, इसलिये जिससे सर्व दोष निवृत्त हो, वैसे मोक्ष के लिये ही प्रार्थना करते हैं जिसके लिये 'भवापवर्गाय' पद दिया है इस प्रकार शरण आना जिसका लक्षण है ऐसे भजन का निरूपण किया है ॥४४॥

आभास—विज्ञापनामाह अयं ममेष्ट इति ।

आभासार्थ—'अयं ममेष्टो' श्लोक से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाऽभयं दत्तममुष्य देव ।
संपद्यतां तद्भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—हे भगवन् ! यह संबोधन अपने से शिवजी का अभेद बताने के अभिप्राय से दिया वह भगवान् को एक ही समझकर भजते हैं आप जो कहते हैं वह हमारे लिये योग्य ही है, अथवा ाप हमारे हैं अतः आपका प्रिय ही हम करेंगे, कारण कि जो अपने हैं उनका प्रिय करना ही ाहिये, वास्तविक आपके वचनों का समर्थन करना योग्य ही हैं, इसलिये भुजाओं को न तोड़नी ाहिये थी, वैसी शङ्का हो तो पहले जो आपने तो 'त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मृद' श्लोक में कहा था उसकी स्मृति राते हुए कहते है कि हम इस वाक्य का अनुमोदन करते हैं क्योंकि वह उचित नहीं है, किया तो ापने है, मैंने तो केवल शास्त्र द्वारा उसका अनुमोदन किया है ॥४६॥

आभास—अभयं यत्प्रार्थ्यते, तत्राह **अवध्योऽयं ममाप्येष** इति ।

आभासार्थ—तुमने बाण के अभय की जो मांग की है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अवध्योऽयं ममाप्येष' ।

श्लोक—अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनसुतोऽसुरः ।
प्रह्लादाय वरो दत्तो न ते वध्यो मयान्वयः ॥४७॥

श्लोकार्थ—यह बाण बलि का पुत्र है, अतः मुझे भी इसको मारना नहीं है, कारण कि मैंने प्रह्लाद को वर दिया है कि तेरे वंश का वध मैं न करूँगा ॥४७॥

सुबोधिनी—प्रह्लादान्वयत्वज्ञापनाय पुरुषत्रयमाह वैरोचनसुत इति । विरोचनात्मजस्य बलेः सुतोऽयं बाणः । किमतो यद्येवम्, तत्राह प्रह्लादाय वरो दत्त इति । ते अन्वयो मया न वध्य इति । ननु भक्ते कथमेवं वचनम्, तत्राह असुर इति । असुरा हन्तव्या एवेति । अनेन भक्तकृपालुत्वं भक्तापेक्षया आधिक्येन सूचितम् । स त्वेकस्यैव प्राणरक्षामाह, अहं तु वंशस्यैव कथयामीति ॥४७॥

व्याख्यार्थ—यह बाण प्रह्लाद के वंश में है यह बताने के लिये तीन पुरुष कहते हैं कि विरोचन का पुत्र बलि है जिसका यह बाण पुत्र है, यदि यों है, तो क्या हुआ ? इस पर कहते हैं कि प्रह्लाद को मैंने वरदान दिया है कि तेरे वंश का वध नहीं करूंगा, भक्त को ऐसा वचन कैसे दिया ? इस पर कहते हैं कि 'असुरः' असुर हैं, असुर तो वध के योग्य हैं जिससे मारे जाते हैं, इससे भगवान् में भक्त-कृपालुपन, भक्त से भी विशेष है, वह तो एक की रक्षा चाहता है किन्तु मैं तो उसके वंश की ही रक्षा कहता हूँ । ४७॥

आभास—तर्हि कथं छेदनमिति चेत्, तत्राह **दर्पोपशमनायेति** ।

आभासार्थ—तब भुजाओं का छेदन क्यों किया ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'दर्पोपशमनाय' श्लोक से देते हैं ।

श्लोकार्थ—हे देव ! यह मेरा प्यारा और इष्ट भक्त है, इसको मैंने अभय दान दिया है, इसलिए जैसी प्रह्लाद पर कृपा की है, वैसी इस पर भी कीजिए ॥४५॥

सुबोधिनी—इष्टानुवृत्तिर्लोकसिद्धा । **दयित** इति प्रीतिविषयः । इच्छा रुचिश्च निरूपिते । **अनुवर्ती**ति सर्वहेतुः, सर्वदा मामनुवर्तत इति तेन मयाप्यनुवृत्तिः कर्तव्येति । **अमुष्याभयं मया दत्तमिति** वाचनिकम् । एवं कायवाङ्मनोभिरयमनुरोध्य इति सर्वथा त्वया कृपा कर्तव्येत्याह **संपद्यतामि**ति । तत्तस्मात्कारणाद्भवतः प्रसादः संपद्यताम् । अथवा । मदुक्तं त्वदुक्तमेव । अतः पूर्वोक्तः प्रसादः संपद्यताम्, आवयोर्भिन्नभावाभावात् । प्रसादं विशिनष्टि । **यथा हि ते दैत्यपतौ प्रह्लादे प्रसाद** इति ॥४५॥

व्याख्यार्थ—प्रेमी की इच्छा के अनुकूल कार्य करना चाहिये, यह लोक से सिद्ध है, 'दयित' पद से बताया है कि यह मेरा प्रेम पात्र है, इन दोनों शब्दों से महादेव की क्या इच्छा और रुचि जिसका स्पष्टीकरण किया है, यों सब कुछ करने का कारण यह है, कि वह बाण मेरा अनुवर्ती अर्थात् सेवक है, सदैव मेरे पीछे चलता है, इस कारण से मुझे भी यों करना चाहिये, इसको मैं अभय दान दिया है, जिससे वाणी की अनुकूलता बताई है। पहले 'सेवक' पद से कायिक अनुकूलता और 'दयित' प्रेम पात्र पद से मानसिक अनुकूलता कही है, इसलिये इस पर आपको सर्व प्रकार कृपा करनी चाहिये, क्योंकि मेरा कहा हुआ वचन आपका ही है, अतः पहले कहा हुआ अनुग्रह प्रसाद इस पर करना चाहिये, अपने दोनों का भिन्न भाव नहीं है, प्रसाद किस प्रकार करना वह स्पष्ट कर बताते है कि जैसे आपने प्रह्लाद पर कृपा की थी वैसी कृपा इस पर भी कीजिये ॥४५॥

आभास—ततो भगवान् प्रीतः कृतं कृतमेवेति वाचा शिवसान्त्वनं कृतवानित्याह यदात्थेति ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रसन्न हुए भगवान् ने 'यदात्थ' श्लोक से कहा कि जो आपने किया वह मैंने किया, इस प्रकार वाणी से शिवजी को सान्त्वना दी ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव ।
भवता यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे भगवन् ! जो आपने कहा, वह आपका प्रिय हम करेंगे, आपने जो विचार किया है, उसका मैं अनुमोदन करता हूँ ॥४६॥

सुबोधिनी—भगवन्निति सम्बोधनमभेदाभिप्रायेण । स हि भगवन्तमपृथक्त्वेन भजते । त्वं यदात्थ तन्नोऽस्मान् प्रति । तद्युक्तमेवेति । नोऽस्माकं वा त्वम् । अतः प्रियं करवाम । स्वकीयानां प्रियं कर्तव्यमेवेति । तवेति । वस्तुतस्तव वाक्यं च समर्थनीयम् । तदिदानीं बाहुच्छेदमात्रमाशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति **भवता यद्व्यवसितमिति** । 'त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समं ते' इति । तत्साक्षेत्रानुमोदितम् । कृतं तु त्वत्तच्छस्त्रद्वारा अनुमोदनमात्रं कृतमिति ॥४६॥

श्लोक—दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया ।
सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४८॥

श्लोकार्थ—इसके दर्प (अहंकार) को शान्त करने के लिए मैंने इसकी भुजाएँ तोड़ी हैं और जो पृथ्वी पर भारी बोझ था, उस सब बल को नाश किया ॥४८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण छेदनं बाहुमूलकम् । ते वृक्णा एवेति न तस्य प्रतीकारः । सेनावधस्य क्लिष्टकर्मत्वमाशङ्क्य निमित्तान्तरमाह **यच्च** भुवो भारायितम् । चकाराद्भक्तानां बुद्धिनाशकं तत्सर्वमेव बलं सूदितं मारितम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—भुजाओं का छेदन इसी प्रकार किया जिससे उनकी जड़ भी कट गई, वे कट गई इनका कोई उपचार (इलाज) नहीं है, सेना का वध तो क्लिष्ट कर्म है । इसका दूसरा निमित्त बताते हैं कि यह किष्ट कर्म होते हुए भी इसलिये किया गया है कि, यह एक तो पृथ्वी पर बोझ था, दूसरा भक्तों की बुद्धि को नाश करने वाला था, अतः वह सर्व बल ही नाश किया है ॥४८।

आभास—तर्हि मत्प्रार्थनायां को विशेष इत्याशङ्‌क्याह **चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्तीति** ।

आभासार्थ—तो मेरी प्रार्थना करने पर क्या विशेषता हुई अर्थात् क्या लाभ हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'इसकी चार भुजाएँ रहेंगी ।

श्लोक—**चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः ।
पार्षदमुख्यो भवतो नकुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥४९॥**

श्लोकार्थ—इसकी चार भुजाएँ अजर-अमर बची रहेंगी, यह असुर आपका मुख्य पार्षद है, अतः इसको किसी से भी भय न होगा ॥४९॥

सुबोधिनी—मद्दत्तं सहजं भुजद्वयं त्वद्दत्तमागन्तुकं भुजद्वयमिति चत्वारोऽस्य भुजाः छिद्यमानेषु भुजेषु अवशिष्टा भविष्यन्ति । अनेन सुदर्शनं प्रक्षिप्तं साम्प्रतं छिनत्तीति सूचितम् । अधिकभुजद्वयदाने हेतुः **पार्षदमुख्य** इति । तयोः कालान्तरेऽपि नाशाभावायाह **अजरामरा** इति । देवत्वं निरूपितम् । युक्तमेव **पार्षदमुख्यो भवत** इति । **न कुतश्चिद्भय**-इति असुरत्वेऽपि न मत्तो न मदीयान्न गुणेभ्यो भयमित्यर्थः ॥४९॥

व्याख्यार्थ—मैं इसकी भुजाएँ तोड़ रहा हूँ, किन्तु उसमें से मेरी दी हुई दो भुजाएँ और जो भुजाएँ आपने दी हैं उनमें से दो भुजाएँ, इस प्रकार इसकी चार भुजाएँ बच जायेगी । इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् ने भुजाओं को काटने के लिये इस समय सुदर्शन फेंका है विशेष

दो भुजा दान करने का कारण यह है कि महादेव के पार्षदों में यह मुख्य है, उनका कालान्तर में भी नाश न होगा, यह बताने के लिये कहते हैं कि 'अजरामरा' ये शेष भुजाएं अजर और अमर है, अजर और अमरत्व कह कर इसका देवत्व सिद्ध किया है इसका देवत्व उचित ही है, क्योंकि तुम्हारा मुख्य पार्षद है, अब इसको असुर होते हुए भी मुझ से, मेरे भक्तों से और मेरे गुणों आदि से कोई भी भय न होगा ॥४९॥

आभास—एवमभये दत्ते भगवत्कृपावलोकितः स्वोचितं कृतवानित्याह इति लब्ध्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अभय दान मिल जाने पर और भगवान् ने कृपा दृष्टि से अवलोकन भी किया, जिससे वह बाण अपने योग्य कर्त्तव्य पालने लगा ।

श्लोक—इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।
प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥५०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार वह असुर श्रीकृष्ण से अभय प्राप्त कर, उनको मस्तक से प्रणाम करने के अनन्तर प्रद्युम्न के पुत्र भगवान् के पौत्र को स्त्री सहित रथ में बिठला कर भगवान् के पास ले आया ॥५०॥

सुबोधिनी—अभयं लब्ध्वा, कृष्णं प्रणम्य, कन्यादाने संतुष्टो भविष्यतीति । शिरसेति । तस्यैतदेव महत्, यतोऽयमसुरः । प्राद्युम्निं भगवत्पौत्रम् । अर्थाद्बन्धनादिकं त्याजयित्वा, वरमिवालङ्कृत्य, वध्वा उषया सह समुपानयत् । सम्यक् भगवत्समीपमुपानयत् । एतदर्थमेव समागत इति तावता सन्तुष्टः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—अभय प्राप्त कर, श्रीकृष्ण को प्रणाम कर, कन्या के दान देने पर प्रसन्न होंगे, शिर से प्रणाम करना ही इसके लिये महान् है, कारण कि, असुर है, असुर अभिमानी होते हैं किसी को शिर से प्रणाम नहीं करते हैं, किन्तु यहाँ यों कर अपना गर्वभाव दिखाया है, 'प्राद्युम्नि' अर्थात् भगवान् के पौत्र को उसको जो बन्धन पड़े थे वे खोल कर, वर की तरह अलङ्कृत कर 'उषा' के साथ रथ में बिठला कर अच्छी तरह अर्थात् प्रेम से आदर के साथ भगवान् के समीप ले आये, भगवान् इस कार्य के लिये अर्थात् अनिरुद्ध को लाने के लिये आये थे, इसलिये बाण के इस प्रकार के कार्य से भगवान् प्रसन्न हुए ॥५०॥

श्लोक—अक्षौहिण्या परिवृतं सुवाससमलंकृतम् ।
सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥

श्लोकार्थ—अक्षौहिणी सेना से घिरा हुआ, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, पत्नी समेत पौत्र को आगे कर रुद्र से अनुमोदित श्रीकृष्ण द्वारका पधारे ॥५१॥

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"अनिरुद्ध विवाह"

राग मारू :

स्याम बलराम यह सुनत धाए ।
आइ नारद कह्यौ द्वारिकानाथ सौं, बानासुर कुँवर अनिरूद्ध बँधाए ।
छोहिनी दोइ दस हुतीं हरि सँग कटक, जात ही नगर ताकौं लुटाए ।।
रूद्र भगवान् अरु बान सात्यकि भिरे, राम कुंभांड मांड़ी लड़ाई ।
सेनपति कोपि कै प्रद्युमन सौं भिरच्यौ, सांब कूपकरन दोउ भिरे धाई ।।
तेज भगवान् कौ पाइ जादव भिरे, असुर दल चल्यौ सबहीं पराई ।
रूद्र तब कोप करि अगिनि बरषाकरी, स्याम जल बरषि डारच्यौ बुझाई ।।
पुनि महादेव जो बान संधान कियौ, आपु भगवान ताकौ प्रहारच्यौ ।
देखि यह जुद्ध सुर असुर चक्रित भए, लग्यौ तब बान जो रूद्र धारच्यौ ।।
बान तब आइ भगवान सन्मुख भयौ, बान बरषा लग्यौ करन भारी ।
एकहू बान आयौ न हरि कैं निकट, तब गह्यौ धनुष सारंगधारी ।।
एक ही बान संधानि रथ के तुरग, ध्वजा अरू धनुष सब काटि डारे ।
संख कौ सब्द करि लियौ असुर तेज हरि, सुधुनि रही फैलि नभ पृथी सारे ।।
देखि यह असुर की मातु धाई नगन, कृष्न भगवान कैं निकट आई ।
नगन तिय देखिबौ जुगत नाहीं कह्यौ, जानि यह हरि रहे मुख फिराई ।।
असुर यह घात तकि गयौ रन तैं सटकि, तप्त जुर दियौ तब सिव पठाई ।
सीत जुर जुद्ध करि कियौ बिह्वल ताहि, तिन तब आइ बिनती सुनाई ।।
प्रान दाता तुम्ही स्थूल सूषम तुहीं, सर्व आतमा तुहीं धर्म पालक ।
ज्ञान तुहि कर्म तुहि बिस्वकर्मा तुही, तू अखिल सक्ति प्रभु असुर घालक ।।
सीत अरू तप्त कौ बल चलै प्रभु तहां, जहां नहि होई सुमिरन तुम्हारौ ।
करत दंडवत मैं तुम्हें करूना करन, कृपा करि ओर मेरैं निहारौ ।।
सुनत ये बचन हरि कह्यौ अब भै न करि, मैं कृपा करी तोहिं त्रिसिरधारी ।
सीत अरू तप्त कौ भय न ह्वै है ताहि, सुनै यह कथा जो चित्तधारी ।
तप्त जुर गयौ सिर नाइ हरि कौ तुरत बानासुर बहुरि रणभूमि आयौ ।
चक्र परहार हरि कियौ ताकौं निरखि, रूद्र सिर नाइ तब कहि सुनायौ ।।
प्रगट तुम गुपत तुम तुमहिं सर्वातमा, चक्र तुव अग्नि रुद्र कितक हारे ।
बुद्धि विधि चन्द्रमा मन अहंकार मैं, धरि चरन रोम सब बृच्छ सारे ।।
सीस आकास अरू स्रवन दसहू दिसा, इन्द्र कर लोक त्रै बपु तिहारौ ।
बान जगदीस मोहिं जानि मम ईस तुम, राखि तिहि माथ अब हाथ च्यारौ ।।
बिहँसि जगदीस कह्यौ रुद्र जो तुहिं भजै, तहाँ मैं जाउँ यह प्रन हमारैं ।
कियौ प्रह्लाद कुल अभय मैं प्रथमहीं, बान कियौ अमर भाषैं तिहारे ।।
करै जो सेव तुम्हरी सु मम सेव है, बिष्नु सिव ब्रह्म मम रूप सारे ।
बान अभिमान मन माहिं धारचौ हुतौ, तब बिहित हाथ तातैं सँहारे ।।
रुद्र अरू बान अनिरूद्ध सनमान करि, तुरत भगवान कैं निकट ल्याए ।
बहुरि ऊषा दई ब्याहि दाइज सहित, हरि हरष करत निज पुरी आए ।।
यह सकल कथा जो रुद्र अस्तुति सहित, करै सुमिरन ताहि भय न होई ।
कही जो व्यास सुकदेव भागवत मैं, कही अब सूर जन गाइ सोई ।।